वेदविज्ञानश्रीः

(वैदिक वाङ्मय में विज्ञान)

डॉ० उर्मिला श्रीवास्तव

भागं हरेद् वर्गान्नित्यम्
द्विगुणेन वर्गमूलेन।
वर्गाद् वर्गे शुद्धे लब्धं
स्थानान्तरे मूलम्।।

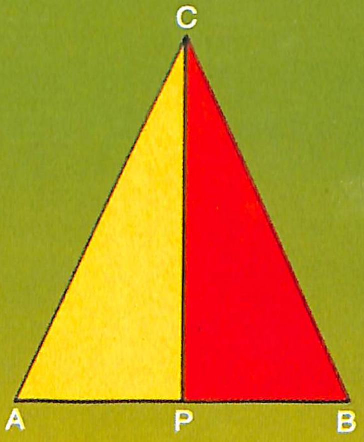

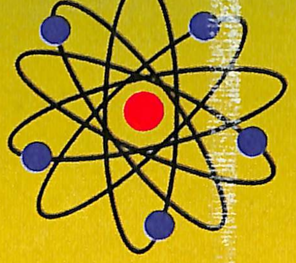

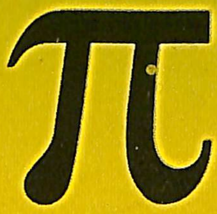

आर्य कन्या डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद

वेदविज्ञानश्रीः

(वैदिक वाङ्मय में विज्ञान)

डॉ० उर्मिला श्रीवास्तव

भागं हरेद् वर्गान्नित्यम्
द्विगुणेन वर्गमूलेन।
वर्गाद् वर्गे शुद्धे लब्धं
स्थानान्तरे मूलम् ।।

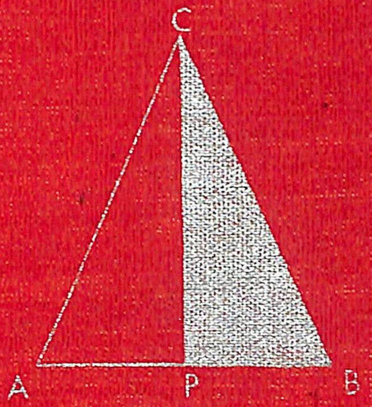

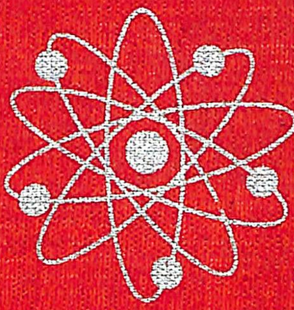

π

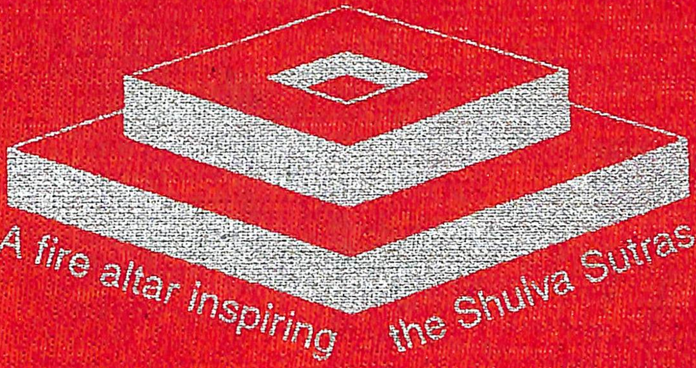

आर्य कन्या डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद

वेदविज्ञानश्रीः

Vedavijñānaśrīḥ

(वैदिक वाङ्मय में विज्ञान)

वैज्ञानिकाश्च कपिलः कणादः सुश्रुतस्तथा।
चरको भास्कराचार्यो वराहमिहिरः सुधीः।।

नागार्जुनो भरद्वाजः आर्यभट्टो वसुर्बुधः।
ध्येयो व्यंकटरामश्च विज्ञा रामानुजादयः।।

वेदविज्ञानश्रीः

Vedavijñānaśrīḥ

(वैदिक वाङ्मय में विज्ञान)

सम्पादिका

डॉ० उर्मिला श्रीवास्तव

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग

आर्य कन्या डिग्री कालेज, इलाहाबाद

आर्य कन्या डिग्री कालेज

(इलाहाबाद विश्वविद्यालय)

इलाहाबाद

संरक्षक :
प्रेमदेव गुप्त, प्रधान, आर्य कन्या डिग्री कालेज, इलाहाबाद
विनय कुमार, प्रबन्धक, आर्य कन्या डिग्री कालेज, इलाहाबाद
राधे मोहन, प्रधान, आर्य समाज चौक, इलाहाबाद

प्रकाशक :
डॉ० रीता पुरवार, प्राचार्या
आर्य कन्या डिग्री कालेज, इलाहाबाद
दूरभाष : (0532) 413069

संस्करण : 22 सितम्बर, 2002

मूल्य : रु० 350.00

आर्य गरिमा विशेषाङ्क : वेदविज्ञानश्रीः

आवरण : संस्कृत भारती, झण्डेवालान, नयी दिल्ली

मुद्रक :
सुलेख मुद्रणालय
148 हीवेट रोड, इलाहाबाद
दूरभाष : (0532) 402437

प्राग्वाचिक

महर्षि दयानन्द की मान्यता थी कि वेद विश्वसंस्कृति का मूल है। मनु आदि महर्षियों ने भी वेद को 'सर्वविद्यानिधान' कहा है और 'सर्व वेदात् प्रसिद्ध्यति' कह कर वेदों में विश्व संस्कृति के मौलिक तथ्यों के बीज-बिन्दु सिद्ध किये हैं। वस्तुतः वेद शब्द की व्युत्पत्ति-विद् ज्ञाने धातु से भी यही ज्ञात होता है कि जो विषय मानव के ज्ञान की परिधि में आते हैं और जो कुछ मानव जाति के कल्याण की दृष्टि से ज्ञेय है, वेद उन सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है। संक्षेप में, ईश्वर का पूर्ण एवं निरतिशय ज्ञान वेद है, मानव का सर्वोत्कृष्ट ज्ञान 'विज्ञान' है।

मानव चेतना आस्था का चरम केन्द्र है। मानवीय प्रयासों की संहति, संस्कृति और सभ्यता की मर्मस्पर्शी उच्चता में दृष्टिगत होती है। उसी से प्रयोग और विवेचना की अटूट शृंखला आरम्भ होती है। दर्शन संशय से समुद्भूत हो कर विज्ञान में तिरोहित हो जाता है, विज्ञान अपार शक्ति का भण्डार हो जाता है। यह सञ्चयित राशि सामर्थ्यवान् तो है किन्तु नितान्त हृदयहीन। सौहार्द के अभाव में विज्ञान विध्वंसक नहीं तो और क्या होगा? अध्यवसाय ऐसा हो कि परिधि के केन्द्र में हो अस्तित्वबोध। मानवता की वृत्ति और भौतिकता की शक्ति जीवन की लयात्मकता में रची बसी हो। उदात्तता के बिना विज्ञान अधूरा है और प्रबुद्धता के बिना ज्ञान। त्राहि-त्राहि के इस युग में ऐसे ही सर्वतोभद्र ज्ञान-विज्ञान की निकष पर कसे धर्म की आवश्यकता समग्र विश्व की अभिलाषा है। इस विश्वजनीन मानव धर्म के प्रेरणा स्रोत हैं वेद। वेद हमारे लिए इतिहास नहीं, समाजशास्त्र नहीं; अपितु जीवन को आन्दोलित करने वाले विज्ञान कोष हैं, आत्मा को अनुप्राणित करने वाले अमृत घट हैं। अन्तर्जगत् और बाह्यजगत्—दोनों के प्रतिबिम्बरूप ज्ञान और विज्ञान की सार्थक सरणियाँ श्रुतियों से निःसृत हो कर सत्य के अन्वेष्टा को सन्तृप्त करती हुई एक संलक्ष्य में समाहित हो जाती हैं—ब्रह्म पर्णमस्तु।

वेद में ज्ञान को दो भागों में बाँटा गया है—विद्या और अविद्या। विद्या का अर्थ है उन पदार्थों का ज्ञान जो सदा से विद्यमान हैं, अनादि, अनन्त और अयौगिक हैं। अविद्या का अभिप्राय उन पदार्थों से है जो यौगिक अतः नश्वर हैं। वेद ने यह भी कहा है कि ऐहिक और पारलौकिक कल्याण के लिए विद्या और अविद्या दोनों का ज्ञान आवश्यक है। परम पुरुष की रचना वेद निर्भ्रान्त ज्ञान की वह कसौटी है जिस पर सभी विज्ञान कसे जा सकते हैं। आधुनिक विज्ञान को विद्या का अपर पर्याय

कहा जा सकता है। विज्ञान शब्द का अर्थ मात्र Science ही नहीं अपितु 'विशिष्टं ज्ञानं विज्ञानम्' है। वह विशिष्ट ज्ञान जो सिमट कर पद्धति बना हो, जिसमें धर्म की आड़ में देश की जीवन्तता को समाप्त करने वाले अन्धविश्वासों को चूर्ण करने का सामर्थ्य हो। ज्ञान का यह वैशिष्ट्य अनेक शाखीय है। आज इस विशिष्ट ज्ञान की शाखाएँ ऊर्ध्वमूलक होकर—भौतिक, रसायन, चिकित्सा, जन्तु, वनस्पति, गणित, कृषि, प्रौद्योगिकी आदि उपाधियों में विभक्त हो गई हैं। प्रत्येक विषय का अध्ययन वैज्ञानिक सूक्ष्मता के साथ कर रहे हैं, प्रयोगशालाओं में नूतन प्रयोग हो रहे हैं, नित नये आविष्कारों से संसार समृद्ध हो रहा है, भौतिक सुख-सुविधाओं की विविधताओं की प्राप्ति का प्रयास चल रहा है, जीवन की दीर्घतम कठिनाइयों पर विजय प्राप्ति का गौरव हस्तगत हो रहा है किन्तु वास्तविक लक्ष्य दूर है और शेष भी—'मृत्यु पर विजय'। इस सार्वभौम, सार्वकालिक विधान को हस्तगत करने के प्रयास में विज्ञान की नहीं, ज्ञान की उपयोगिता सिद्ध होती है। एकमात्र विज्ञान को मान्यता देकर जीवन को अस्थायी-अनिश्चित परिधियों में नहीं घेरा जा सकता है क्योंकि सीम की अपेक्षा निस्सीम सत्य है, जीवन की अपेक्षा मृत्यु सत्य है।

वैदिक वाणी में ऋषि का प्रज्ञान प्रतिफलित है, अतः एकमात्र ऋषि ही वाणी में अनुस्यूत प्रज्ञान-विज्ञान के मर्म का उद्घाटन करने में समर्थ है। कथानकीय शैली का आश्रय ले कर वे ऋषि जीव को साधना के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष के लिए प्रेरित करते हैं तो पारिभाषिक शब्दावली के माध्यम से आनुषङ्गिक रूप से जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण विश्व के रहस्यों का उद्घाटन करते हैं। वे सत्त्व-रजस्-तमस् गुणों से आवृत्त जागतिक सुख-सुविधाओं के समुचित सम्भोग का सन्देश भी देते हैं और सन्तुलित नियमित दिनचर्या के माध्यम से प्रकृति विजय का भी। यही कारण है कि मन्त्रों के सूक्ष्म और अकाट्य परिणाम पाश्चात्त्यों को भी अचम्भित कर देते हैं। उन तत्त्ववेत्ता मनीषी ऋषिगणों द्वारा दृष्ट मन्त्रों में सतर्क दृष्टि से, अधिकारपूर्वक जगद्रचना के लिए अनिवार्य मूल तत्वों के विवरण आधुनिक वैज्ञानिकों के लिए विस्मयकारक हैं। नव्य विज्ञान आज जिन निष्कर्षों पर पहुँच रहा है, ऋषियों ने उनमें से अनेकों का समाधान वैदिक साहित्य में समाहित कर दिया था।

भारतीय संस्कृति और साधना के एकमात्र प्रतीक वेद आपाततः एक अदृश्य शक्ति के सामने मूढ़ मानव की आकुल-व्याकुल प्रार्थना से प्रतीत होते हैं किन्तु ये प्रार्थनाएँ मानव आत्मा की संवर्धना ही करती हैं, अवमानना नहीं क्योंकि प्रज्ञान और विज्ञान दोनों ही अपरोक्ष के माध्यम से परोक्ष की अनुभूति कराते हैं, अनुभूति के क्षणों में संशय, विपर्यय, विभ्रम आदि अपना अर्थ खो कर सत् में विलीन हो जाते हैं। प्राच्य प्रज्ञान अन्तर्मुखीय साधना में निरत रह कर समीक्षा-अन्वीक्षा के वातायन से जिस अद्वितीय परम तत्त्व की ओर इङ्गित करता है, नव्य विज्ञान बहिर्मुख पर्यवेक्षण के माध्यम से परीक्षा-निरीक्षा के अनन्तर तत्सदृश सूक्ष्मतम और अकाट्य परिणाम प्रस्तुत करता है।

वेदविज्ञानश्रीः ग्रन्थ में मूलतः एक किन्तु विपरीतगामी से प्रतीत होने वाले दो पक्षों के समन्वयन का दृष्टिकोण अपनाया गया है। आर्यकन्या डिग्री कालेज के प्रांगण में संस्कृत वर्ष के

अन्तर्गत मानव संसाधन विकास मंत्रालय से प्राप्त आर्थिक अनुदान, आर्य कन्या डिग्री कालेज की प्रबन्धकर्तृसमिति, प्राचार्या, विद्यालय परिवार और संस्कृत को जनभाषा बनाने को प्रयत्नशील अखिल भारतीय संस्था संस्कृत भारती के उदार सहयोग से वैदिकवाङ्मये विज्ञानम् विषय पर राष्ट्रीय संगोष्ठी की सफल संयोजना संभव हो सकी थी। वेद और विज्ञान के क्षेत्र में यशस्वी विद्वानों के विषय से साक्षात् सम्बद्ध शोध लेखों की प्रस्तुति से विषय की सुदृढ़ स्थापना हुई थी। संगोष्ठी में हमने उन उत्कृष्ट लेखों के प्रकाशन का सङ्कल्प लिया था, ईश कृपा से सम्प्रति हमारा यह सङ्कल्प पूर्ण हो रहा है। समग्र आलेख प्रातर्नमस्य वैदिक ऋषियों की कल्याणी वाणी की पुनर्वीक्षा कर विज्ञान के क्षेत्र में विलक्षण आयाम प्रस्तुत करें, वैज्ञानिकों को अनुसंधान की विशिष्ट विचार सारणियों में प्रेरित करें, ऐसी महत्त्वाकांक्षा से पूरित हृदय से ग्रन्थ विद्वत्समाज को सहर्ष समर्पित है।

महाविद्यालय के विद्वान् एवं अनुभवसम्पन्न प्रबन्धक पं० मूलचन्द अवस्थी की अध्ययन के क्षेत्र में प्रबल अभिरुचि है। महाविद्यालय के प्रबन्धन के साथ-साथ वे स्तरीय ग्रन्थों के प्रकाशन हेतु भी प्रयासरत रहते हैं। वेद्श्रीः, स्वातन्त्र्यश्रीः, उपनिषत्-श्रीः और सम्प्रति वेदविज्ञानश्रीः प्रस्तुत समग्र बृहदाकार ग्रन्थ उन्हीं के साहाय्य और प्रेरणा के प्रतिफल हैं। उनके निर्देशन में प्रगति पथ पर अग्रसर महाविद्यालय भविष्य में स्तरीय साहित्य प्रकाशन की महनीयता से निरन्तर समृद्धि को प्राप्त करे। यह साहित्यसाधना उन्हें यशस्वी तथा चिरञ्जीवी बनाये और ग्रन्थों के प्रकाशन का अविरल क्रम निरन्तर प्रवर्तित रहे, अक्षरब्रह्म से इस अहैतुकी सौजन्यता की अभिलाषा है।

महाविद्यालय की प्राचार्या डॉ० मायारानी श्रीवास्तव 'वैदिक वाङ्मय में विज्ञान' संगोष्ठी में अपनी मौन उपस्थिति से उत्साहवर्धन का सम्बल बनी थीं। वाचित शोधपत्रों को ग्रन्थाकार देने की उद्घोषणा संगोष्ठी के समापन सत्र में उन्होंने ही की थी। हतभाग्य! अपनी वचनबद्धता को वे साकार होते न देख सकीं। काल के क्रूर हाथों ने 11 फरवरी, 2001 को असाध्य किन्तु अल्पकालिक रोग के ब्याज से उन्हें एकाएक संसार से समेट लिया। मृदु व्यवहार और मधुर स्वभाव की स्वामिनी वे मोक्षमार्ग की पथिक बन महाविद्यालय परिवार को दुःखार्त कर गईं। हमारे निश्छल हृदय और अश्रुपूरित नेत्र उस लोक में उनकी सद्गति की कामना करते हुए उन्हें श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं।

उर्मिला श्रीवास्तव

विषयानुक्रमणिका

1.	Science and Religion	Prof. Murli Manohar Joshi	11-19
2.	वेदेषु भौतिकविज्ञानसूत्राणि	डॉ० कपिल देव द्विवेदी	20-25
3.	वेद में आधुनिक विज्ञान के महाविस्फोट (Big Bang) की परिकल्पना	डॉ० विष्णुकान्त वर्मा	26-32
4.	वैदिक वाङ्मय में प्रकाशचिन्तन	डॉ० सुद्युम्न आचार्य	33-38
5.	वैदिक साहित्य में सूर्य विज्ञान	प्रो० बाँके बिहारी श्रीवास्तव	39-44
6.	सृष्टिविज्ञान का आधार प्रणव सङ्गीत	डॉ० किरण कुमारी	45-52
7.	पहले भी बनते थे ध्वनिरहित विमान	राजशेखर व्यास	53-56
8.	वैदिककालीन रसायन विज्ञान	डॉ० विष्णु दत्त शर्मा	57-64
9.	Indian Contribution to the World of Chemistry	Dr. Prasun Kr. Mishra	65-70
10.	Water treatment in Atharvaveda	Dr. Subhash Chandra Dash	71-77
11.	जलस्रोतों की खोज का विज्ञान—उदकार्गलम्	डॉ० इला घोष	78-84
12.	वेदों में वर्णित सोमपादप और सोमरस	प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव	85-91
13.	वैदिक संहिता में चिकित्सा विज्ञान	डॉ० उमा रमण झा	92-95
14.	वैदिक वनस्पतिशास्त्र और मेधाजनन	प्रो० हरिशङ्कर त्रिपाठी	96-102
15.	ऋग्वेद में शल्य चिकित्सा का अत्युन्नत उदाहरण	डॉ० प्रकाश पाण्डेय	103-107
16.	अथर्ववेद और चिकित्सा विज्ञान	डॉ० किरण टण्डन	108-115
17.	अथर्ववेद में वर्णित पशुचिकित्सा	प्रो० चन्द्रकान्त शुक्ल	116-120
18.	अग्निहोत्र में चिकित्सा विज्ञान	डॉ० सुभाष चन्द्र सचदेव 'हर्ष'	121-127

19.	सन्ततिविज्ञान और उपनिषद्	डॉ० वेदवती वैदिक	128-133
20.	अथर्ववेद में कृषि उपकरण	डॉ० शशि तिवारी	134-138
21.	पृथिवी सूक्त में वैज्ञानिक तथ्य	प्रो० शिव गोपाल मिश्र	139-143
22.	Technical Sciences in Sanskrit	Prof. Rajendra Mishra	144-152
23.	सूत्रग्रन्थों में यज्ञशाला प्रकल्पन	डॉ० शैलजा पाण्डेय	153-159
24.	वेदाङ्ग ज्योतिष् की कालगणना	डॉ० नागेन्द्र पाण्डेय	160-162
25.	वैदिक साहित्य में ज्योतिष्	डॉ० गिरिजा शंकर शास्त्री	163-169
26.	वैदिक गणितीय सूत्र	नारायण किंजवडेकर	170-179
27.	प्राचीन भारत में अङ्कगणित	डॉ० ओम प्रकाश लाल श्रीवास्तव	180-182
28.	वैदिक वाङ्मय की अद्भुत देन : शून्य एवं संख्यापद्धति	डॉ० शुचिस्मिता चौधरी	183-192
29.	बौधायन का ज्यामिति विज्ञान	डॉ० महेन्द्र कुमार मिश्र	193-201
30.	वैज्ञानिक दृष्टि में पुरुष सूक्त	डॉ० नारायण गोपाल डोंगरे	202-204
31.	वेदोपनिषदों में सृष्टि व्युत्पत्ति	पं० मूलचन्द अवस्थी	205-209
32.	वैदिक वाङ्मय में सृष्टिविज्ञान	डॉ० चन्द्रकान्त द्विवेदी	210-214
33.	वैदिक विज्ञान के मूल तत्त्व : ऋत और सत्य	प्रो० कृष्ण लाल	215-220
34.	Ancient India's contribution to Cosmology	Prof. D. R. Sharma	221-233
35.	Vedic Environment and Ecology	Dr. Bidyut lata Ray	234-239
36.	महर्षि दयानन्द के अनुसार वेद में विज्ञान	डॉ० भवानीलाल भारतीय	240-245
37.	Upaniṣads : Texts of Science	Dr. Varanasi Ramabrahman	246-250
38.	वैशेषिकदर्शने विज्ञानम्	डॉ० शशि प्रभा कुमार	251-257
39.	विज्ञानस्य तन्त्रविद्यानां च सामाजिकी स्थिति :	डॉ० गणेश उमाकान्त थिटे	258-261

परिशिष्ट :

1.	त्रिदिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी विवरण	डॉ० पुष्पलता अग्रवाल	262-267
2.	उपनिषत्-श्रीः : अनुशंसा		268-271
3.	Contributors		272-275

Science and Religion

Prof. Murli Manohar Joshi *

At the end of a century which has seen tremendous progress in the field of science and technology, the old question of the relationship between science and religion is attracting the attention of mankind again. In fact, leading personalities in both fields have expressed views which seem not to be too far away from each other any more.

One of the most brilliant scientists of the 20th century, Albert Einstein has described science without religion as lame, religion without science as blind. In a very similar way; Max Planck has said: "Science need man to recognise and understand, religion to act." And even the catholic church has come a long way, Pope John Paul II has devoted his latest encyclica, signed on October 14, 1998, to the subject 'Fides Et Ratio'. - faith and reason - which he calls the ''two orders of knowledge.''

As this century comes to an end, we find that human society has witnessed tremendous scientific progress and growth of unprecedented material affluence in many parts of the world on the one hand and a serious erosion of moral and spiritual values on the other. Mankind today is facing a multi dimensional civilisational crisis which has engulfed almost all aspects of our lives - material and spiritual. All nations, whether rich or poor, are in fact nations with a troubled soul and are in search of a new paradigm. The question is how can science and spirituality reconcile and contribute to make this planet full of love and peace. Indian philosophy answered this question centuries ago and it would be my endeavour to place before you how modern science is converging to the same point where the ancient

---

* **Prof. & Head, Dept. of Physics, University of Allahabad (Retd.) and Hon'ble Minister for Human Resource Development, Science and Technology, Ocean Development, Government of India, New Delhi**

saints of India had reachd and realised the Absolute Truth.

The Muṇḍaka Upaniṣad poses a question - what is that O'learned, knowing which all this universe of objective experience, both external and interal becomes known -

कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वं इदं विज्ञातं भवति

This is a wonderful question. The question has been deliberately answered in various ways and in innumerable treatises followed by great and learned Acāryas who interpreted the 'Truth' in many ways. This country, I think, is most fortunate to have great and learned saints, who not only experienced the Absolute Truth but revealed it to others. To sum up - the understanding of Brahman only can lead one to complete knowledge and this is something we must all strive for.

India is a country, where science and religion were studied upto its highest climax, Ṛṣis, through their pure heart used to see science through the window of religion. There were no seperate books or class-rooms for teaching science to the students in their Āśramas. Every aspect of science was written in the books of religion. So the book containing religious matter are the source of knowledge of that peried. It is also available there that everything in this mortal world is made up of five elements - air, water, sky, earth and fire.

In this context I give you an example to prove my words - Ṛśis declared that there is only one supreme power - omnipresent, beginingless, unending and selfmade, that is Ātman or Brahman. On the contrary the ancient science had a view that everything is a component of five elements. Later on scientists became successful to break all these five elements and found many more elements within fives so now the famous fives were not elements, they were compounds. They also felt that science has a limit in breaking the compounds and at an extent every compound has been made up of the same element called energy, like religious manifestation of one supreme power (Ātman) source of energy. But before proceeding further let us see what modern science has to say in this regard.

Science today is confronted with certain questions which it earlier considered to be outside its domain. But as a result of some of its own discoveries intellectuals are asking, is matter related to consciousness in any manner? If so, then what is the nature of this relationship. Erwin Schrodinger - the father of wave mechanical model proposed his new equation which replaced Newton's equation of motion for a free particle in case of electron. Then came W. Heinsenberg with his Principle of Uncertainty and stated that if you are certain about the position of a moving particle like electron you are uncertain about its mo-

mentum and vice versa.

The efforts to discover the ultimate reality through experiments are, therefore, meaningless. The classical concepts were thus no longer tenable in the subatomic world. The phenomena in this domain are statistically describable, it is impossible to describe the behaviour of one particle with certainty.

Einstein who believed in causality could not accept Heisenberg's uncertainty principle. No such phenomenon was known to exist hence Einstein concluded that Heisenberg was wrong. But the strange phenomenon that existed was proved by successful experiments in 1972 by David Bohm, in London. The impossibility of superluminary connections as propounded by the theory of Relativity is no longer valid. Hence "an interconnectedness in events taking place like distances is valid."

David Bohm suggested that quantum physics demands a new order. 'Instead of starting with parts and showing how they work together, we start with the whole.' The separate parts of the universe are not separate parts. Says Bohm, "Parts are seen to be in immediate connection, in which their dynamical relationship depends, in an irreducible way, on the state of the whole system (and indeed, on the systems in which they are contained, extending ultimately and in principle to the entire universe). Thus, one is led to a new notion of unbroken wholeness which denied the classical ideas of analyzability of the world into separately and independently existent parts......."

Explaining his hypothesis of apparently random subatomic phenomena, David Bohm says, "Particles may appear in different places yet be connected in the implicate order. Particles may be discontiguous in space but they are contiguous in the implicate order. Matter according to Bohm is a form of the implicate order as the vortex is the form of the water - it is not reducible to smaller particles. Like "matter" and every thing else, particles are forms of the implicate order. The question which arises now is "What is the implicate order."?

As Gary Zukov says, "The implicate order" is the implicate order of that - which - is. However, 'that which is' is the implicate order. This world view is entirely different from what we are using in classical physics." In the words of David Bohm "Description is totally incompatible with what we want to say." "In Bohm's physics, there is nothing which is not "that which is." Bohm's theories have striking parallelism in Eastern thought in the Upaniṣadic statements.

The Chāndogya Upaniṣad gives a dialogue between Śvetaketu and his father. When

Śvetaketu returned home after learning Vedas for twelve years, his father asked him "Śvetaketu have you asked for the knowledge by which we hear the unhearable, by which we perceive the unperceivable, by which we know the unknowable." What is that knowledge asked Śvetaketu? His father Uddālaka said, "That knowledge is knowing that which we know all." And further explaining the father pronounced, "In the beginning there was Existence, One only without a second. Some say that in the beginning there was non-existence only, and that out of that the Universe was born.

But the question is how could existence be born of non-existence? In my opinion in the beginning there was Existence alone - One only. He the One thought to Himself: Let me be many, let me grow-forth. Thus out of Himself he projected the Universe, and having projected out of himself, the Universe, he entered into every being. All that its self in Him alone. Of all things He is the subtle essence. He is the truth. He is the self, that, Śvetaketu. THAT ARE THOU.

In the Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad the sage informs king janaka about the true nature of Brahman, "Brahman can be apprehended only as knowledge itself-knowledge; which is one with reality, inseparable from it. For He is beyond all proof, beyond all instruments of thought. The eternal Brahman is pure, unborn, subtler than the subtlest, greater than the greatest. By the purified mind alone Brahman is percieved. He who knows Brahman to be the life of life, the eye of the eye, the ear of the ear, the mind of the mind, - he indeed comprehends fully the cause of causes. In Brahman there is no diversity. He who sees diversity goes from death to death."

The quintessence of the Upaniṣadic thought is given by the following.

सर्वमिदं खलु ब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, यत्पिण्डे तत्ब्रह्माण्डे,
अणोरणीयान् महतो महीयान्। कठ 2.20

So we notice that the language which many modern physicists are using is converging to the language of spiritual leaders. The physicist, the chemist, and the biologist come in by different doors, each one his own deparment of knowledge, and each comes to that this is his special domain unconnected with that of any other. Hence has arisen our present division of phenomena into the worlds of inorganic, vegetal and sentient. This philosophical attitude of mind may be denied. One must remember that all inquiries have as their goal the attainment of knowledge in its entirety.

The modern mind and the ancient sages from India speak almost the same language is strikingly evident from the following two illustrations. In the words of Robert

Oppenheimer, "If we ask, for instance, whether the position of the electron remains the same, we must say 'no"; if we ask whether the electrons' position changes with time we must say 'no'; if we ask whether it is in motion we must say 'no'. Now have a look on what Upaniṣad says :

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥ ईश 5

Thousands of years before the dawn of civilization, as we understand now, the learned had realised that it was the Brahman from whom the whole universe and its beings arise; after arising in which they live; and at the dissolution into which they merge back.

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति।
यत् प्रयान्ति अभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्मेति॥ तैत्तिरीय 3.1

All our inquiries have, therefore, to be to the nature of Brahman because at the level of knowledge it is abstract and hidden deep within every being and is not generally perceived; but it can be verily perceived with the help of intellect, sharp, subtle and one pointed by those who are adept in the perception of the subtle.

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते तु अग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥ कठ 3.12

The choice of words here is extremely sensitive. One indeed needs very fine and sharp perception to see the Ātman, which is in every being. The basic requirements are; devotion to truth, concentrated and concerted effort, perfect knowledge attained through constant control of extrovert desires, and practice of continence and other moral virtues.

सत्येन लभ्यः तपसा हि एष आत्मा सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ॥
मुण्डक 3.1.15

All through the philosophical literature we find that to understand the Brahman and Ātman simple knowledge is not enough. One has to have complete control on one's desires and practice of continence and other moral virtues.

At this point it may be necessary that Brahman and Ātman is the same one Infinite Reality viewed from the external and internal points of view. To understand the Ātman and Brahman mind is our basic instrument and as Adishankaracharya has said "The mind that has been well refined and rendered subtle by the study of the Śāstras, that is Scriptures and Works dealing with Spiritual Science, and the teachings of a competent spiritual guide, and

is well disciplined by the virtues of tranquillity of the mind and control of the senses, fortitude, withdrawal from extrovert desires, diligent conviction, and constant concentrated application to realize the truth, is the instrument for the realization of the inner varities and the Self (Ātman)"

शास्त्र आचार्य-उपदेशः, शम-दम आदिभिः सुसंस्कृतं मनः आत्म-दर्शने करणम्

(शांकर गीताभाष्य)

Vedanta holds, "that in the phenomenal state the universe is beginningless and endless, and evolves and involves cyclically in the Cosmic Consciousness by the force of the accumulated past impressions of the Souls for their experience and action during many different lives to gradual progress towards perfection, to realize their true nature as the Sat-Chit-Ānanda. This can be illustrated empirically by our awaking and sleep cycles. When we go to sleep, all stored knowledge and impressions become dormant, but retain the urge to come to the surface and remanifest. As a result, after waking up we resume our previous thoughts and activities and grow in knowledge and experience. This process goes on in life while our physical bodies are subject to constant changes and pass through childhood, youth, old age and death."

A question may be asked how the Absolute becomes active and the whole universe acts accordingly. This energy has been explained as the Māyā Śakti or the energy of illusion. To quote "Māyā-Śakti is the innate, eternal, indefinable, and relativistic universe-manifesting power (anirvacanīya-śakti) of the trans personal Absolute Brahman, which works spontaneously, just as light shines spontaneously. Māyā does not affect Brahman, just as the heat of fire does not affect fire but only others; that is, Māyā affects only its products. That is its relativity. Māyā projects the universe through its two fold characteristics of veiling-Power (Avarṇā-śakti), comparable to Tamas of Prakṛti, and Projecting-Power (Vikṣepa-ṣakti), comparable to the Rajas of Prakṛti. (Sattva of Prakṛti arises owing to the presence of the Ātman as substratum), Through the operation of these two powers of Māyā, on the one hand it veils the Reality or the real nature of Brahman/Ātman, which is Existence-Knowledge-Bliss Absolute, and, on the other, simultaneously projects the Anātman (non-Self), the opposite or shadow of Reality, in a distorted manner. This is so because of the disturbed condition of its three Guṇas, just as, for example, a concave or convex mirror distorts images. Māyā projects the universe and its being on the substratum of Branhman/Ātman in the relative plane, within the framework of Space-Time-Causation (Deśa-Kāla-Nimitta) which are derived from Tamas-Rajas-Sattva. This it does without affecting the ab-

solute nature of Brahman/Ātman, just as a person is not affected by his distorted images projected by a concave or convex mirror. In the universe, which is within Space-Time-Causation, individuation takes place, and the nature of Brahman (Sat-Chit-Ānanda) appears dichotomized into relative existence and non-existence namely birth-and-death, knowledge-ignorance, happiness-misery, etc.

Muṇḍak Upaniṣad declares "What is that O'learned, knowing which all this universe of objective experience, both external and internal becomes known." The answer to this is that the knowledge of Absolute Truth of the Brahman can only lead us to love and peace and when this happens the Muṇḍak Upaniṣad declares "when the Ātman is realized as the Basic Reality in the Noumenal and the Phenomenal Existence, all the complexities within the 'heart' (mind) are resolved and all the doubts are rent asunder............

भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

Scientists today are discussing questions like "reality," "being", "non-being" etc. in almost in the same language which Upaniṣads and other schools of Ancient Indian philosophy have done. Piet Hut in one of his recent papers (1995) while dealing with these issues has observed the following :

"Science that does not have any ethical implication can be useful, but cannot claim in any way to describe all of reality, since clearly some form of ethics is part of our world of experience. On the other hand, ethics as a set of arbitrary commands, either ascribed to a superhuman source or to a biologically useful set of general rules, is not satisfactory either.

"What is this world we are living in, and who are we"? In order to come to terms with such questions, we can switch from an inquiry as to 'what' to a more revealing inquiry as to 'how'. 'How does this whole world arise in the way it does, in the way appears to us? And how does notion of who we are arise in that same experience in which the world appears as well?

Asking such questions, we can find a tentative answer to what it means to say that something is. There 'is' a cup, there 'is' joy, there 'is' form and function and value. Whatever appears, it has to make some form of sense to us, in order to qualify as something that 'is'. Even utter chaos or non-sense presents a form of sense (namely : chaos, nonsense). So, for us, 'what is' is the direct result of identifications we have made.

At any time, we can view anything in its 'being' aspect, as the role that is being

played, as that it 'is'. But we can equally well view it in its 'non-being' aspect, in its aspect of openness or emptiness. From the point of view of the play, the player underneath the role is simply not there. In a drama, there 'is' a king. The actor 'is not' within the rules of the play. Within the play the actor steps aside, disappears, to let the king show through. But when we step outside the play, the king has vanished, has completely lost his base, his foundation of existence. We then see that, at bottom, the 'king' has an empty notion all along something being played but not ultimately 'real' in any sense.

It would seem that, instead, the actor is the real person, rather than the king. But what if the actor unexpectedly gets fired, soon after the play? Then the next layer drops. The actor disappears as well, and a jobless person appears instead. Is there a core that remains unchanged? Flesh and bones, or molecules, or a life history constructed as a vast web of connected past events and relationships between events? Or are any and all of these in turn the results of further attempts at role playing and play interpretations? I suspect the latter. Let me try to sketch what that may mean.

Stated in the most radical way each subject or object, human or physical object or abstract idea or whatever, is playing a role. And what we identify as playing the role is itself playing a role. We are part of a great drama of role playing, with roles within roles within roles-without anybody or anything 'home' underneath; without any stable and final foundation to bolt things down upon.

There are interesting parallels with mysticism, though. If a scientist looks at the claims of a traditional religion, he or she is likely to be rather skeptical at the seemingly arbitrary boundaries that are acknowledged by the true believers of that religion. To take one example, the believer may claim that a particular temple ground is 'holy', and that there is a clear distinction in sacredness between what lies within the perimeter of the temple area and what lies outside. The scientist may object that the molecules inside the temple are the same as those outside, and that no scientific analysis is likely to yield any measurable distinction that could justify the presence of a definitive limit, separating the sacred from the non-sacred.

Such a scientific attitude would be very reductionist, and would probably not convince the believer. The scientist in turn might well be ready to concede a contextual value to the notion of sacredness. But it is interesting to take up the reductionist conclusion, and turn the tables. The first 'naiva' interpretation of the absence of a distinction between temple and non-temple would suggest that nothing is sacred. But this is only one way to re-

act to the dropping away of a limit. There is an alternative: we may equally well conclude that everything is sacred. Rather than limiting appreciation to a particular spot, we can follow the examples of mystics of all ages, who have never tired telling us that there is no such thing as ordinary, finite, non-sacred things and events. Anything can be viewed in its proper aspect, as an open gateway to a boundless reality. It is here that science and mysticism meet, in an outlook that is literally limitless.

❐

वेदेषु भौतिकविज्ञानसूत्राणि

पद्मश्री डॉ० कपिलदेव द्विवेदी *

विदितमतेत् समेषामपि विपश्चितां यद् वेदेषु धर्मार्थ-काममोक्षात्मक-पुरुषार्थचतुष्टयस्य विशदं वर्णनं समुपलभ्यते। सहस्रशो मन्त्रा यज्ञियक्रियाकलापं समाजदर्शनम् आचारशिक्षां नीतिशिक्षां लोककल्याणं च वर्णयन्ति, परन्तु विज्ञान-विषय-प्रतिपादकानां मन्त्राणाम् अपि संख्या शतशो वर्तते। अतएव भगवता मनुना प्रोच्यते-**सर्वज्ञानमयो हि सः** (मनु० 2,7) अर्थात् सर्वेषाम् अपि ज्ञानानां विज्ञानानां च सूत्ररूपेण वर्णनं वेदेषु विद्यते। वेदालोचनेन विज्ञायते यद् अवितथमेतद् वचनम्। अस्मिन् सन्दर्भे आचार्ययास्कस्य वचनमेतत् सुतराम् अवधेयं यद् :

न ह्येषु प्रत्यक्षमस्ति, अनृषेरतपसो वा। निरुक्त० १३.१२

अस्याभिप्रायोऽयं यद् वेदानां रहस्यम् आर्षबुद्ध्या कठोरेण श्रमेण चावगन्तुं पार्यते। वेदेषु सन्ति शतशो मन्त्राः, ये भौतिक-विज्ञानं, रसायनशास्त्रं, वनस्पतिशास्त्रं, जीवविज्ञानं, शिल्पविज्ञानं, कृषिविज्ञानं, गणितशास्त्रं, ज्योतिर्विज्ञानं, वृष्टिविज्ञानं, पर्यावरणम्, आयुर्वेदं, भूगर्भविज्ञानं च वर्णयन्ति। सर्वमेतद् मया विशदं निरूपितं स्वीये सद्यःप्रकाशिते 'वेदेषु विज्ञानम्' (वेदों में विज्ञान) इति ग्रन्थे।

दिङ्मात्रम् इह कानिचिद् भौतिकविज्ञान-सूत्राणि समुपस्थाप्यन्ते। ऊर्जायाः रूपान्तरणं भवति (Transformation of Energy)। यथा च प्रतिपाद्यते :

अग्ने.....त्मना शतिनं पुरुरूपम्। ऋग्० २.२.९

स्तीर्णा अस्य संहतो विश्वरूपाः। ऋग्० ३.१.७

इह पुरुरूपशब्देन विश्वरूप-शब्देन च अग्नेः विविधरूपग्रहणं संसूच्यते।

ऊर्जा (Energy) विश्वव्यापिनी वर्तते। सैव इन्द्र-मित्र-वरुण-रुद्र-विष्णु-ब्रह्म-पूषादिशब्दैः वर्ण्यते।

---

* निदेशकः विश्वभारती अनुसन्धान परिषद्, ज्ञानपुर (भदोही); कुलपतिः गुरुकुल एम० वी० ज्वालापुर, हरिद्वार, उत्तर प्रदेशः (भू० पू०)

त्वमग्न इन्द्रः, त्वं विष्णुः, त्वं ब्रह्मा............। ऋग्० २.१.३

त्वं वरुणः, त्वं मित्रः, त्वम् अर्यमा............। ऋग्० २.१.४

त्वं रुद्रः, त्वं पूषा, त्वं सविता, त्वं भगः............। ऋग्० २.१.६-७

ऊर्जा विश्वव्यापिनी (Energy Omnipresent) :

विश्वस्य केतुः, भुवनस्य गर्भः, आ रोदसी अपृणात्। यजु० १२.३३

आ रोदसी भानुना भात्यन्तः। ऋग्० १०.४५.४

ऊर्जाया दश विशिष्टरूपत्वम् : यथा-सौर-ऊर्जा, जलीय-ऊर्जा, भूगर्भीय-ऊर्जा-प्रभृतयः। यथा चाद्यत्वे भौतिकविज्ञाने निर्दिश्यते-मैकेनिक ऊर्जा, रासायनिक ऊर्जा, सौर ऊर्जा, नाभिकीय-ऊर्जा-प्रभृतयः।

दश प्रति धुरं वहन्ति वह्नयः। ऋग्० ८.३.२३

समुद्रान्तर्गतो वह्निः अथर्ववेदे शान्तो घोरश्च वर्ण्यते।

यो व आपोऽग्निराविवेश......घोरं तदेतत्। अथर्व० १६.१.८

शिवान् अग्नीन् अप्सुदः............। अथर्व० १६.१.१३

यजुर्वेदे अग्नेः (ऊर्जायाः) रूपत्रयं वर्ण्यते सौर-ऊर्जा, भौतिकोऽग्निः, समुद्रान्तर्गतो वह्निश्च।

दिवस्परि प्रथमं जज्ञे............, द्वितीयं जातवेदाः, तृतीयमप्सु............। यजु० १२.१८

ऊर्जायाः विश्वव्यापित्वम् : एतद् अथर्ववेदे विस्तरेण प्रतिपाद्यते। सेयम् ऊर्जा अग्निरूपेण भुवि, अन्तरिक्षे, दिवि च सर्वत्र संचरति। ऊर्जा व्यक्तरूपेण अव्यक्तरूपेण वा सर्वत्र प्रसरति। अतएव यत्र कुत्रापि घर्षणं भवति, तत्र विद्युत उत्पत्तिः।

दिवं पृथिवीमन्वन्तरिक्षं, ये विद्युतम् अनुसंचरन्ति।

ये दिक्ष्वन्तर्ये वाते अन्तस्तेभ्यो अग्निभ्यः............। अथर्व० ३.२१.७

विविधयन्त्राणां वर्णनम् : तैत्तिरीयसंहितायाम् ऊर्जाहेतोः प्रयुज्यमानानां विविधयन्त्राणां वर्णनं प्राप्यते। तद्यथा--1. वातयन्त्रम्—वायुप्रसारणाय वायोश्च भारमानार्थं यन्त्रम्। 2. ऋतुयन्त्रम्—शीतोष्णतादिमानार्थं यन्त्रम्। 3. दिग्यन्त्रम्—दिशाबोधकं यन्त्रम्। 4. तेजोयन्त्रम्—प्रकाशजननार्थं यन्त्रम्। 5. वाग्यन्त्रम्—ध्वनिप्रसारणयन्त्रम्।

वातानां यन्त्राय, ऋतूनां यन्त्राय, दिशां यन्त्राय, तेजसे यन्त्राय। वाचो यन्त्रम् अशीय।

तैत्ति० सं० १.६.१.२

परमाणुषु अग्नेरस्तित्वम् : सर्वेषु परमाणुषु अग्नितत्त्वं निहितं वर्तते। अग्नितत्त्वस्य सत्तयैव तत्र ऊष्मा गतिश्च संलक्ष्यते।

अग्निर्मूर्धा दिवः......अपां रेतांसि जिन्वति। ऋग्० ८.४४.१६

विश्वा रजांसि शुशुचानो अस्थात्। ऋग्० १.१४९.४

विश्वस्य प्रथमो वैज्ञानिकः, अथर्वा ऋषिः

अथर्वा ऋषिः आविष्कारत्रयं व्यदधात्। (1) अरण्योर्मन्थनेन वह्नेरुत्पादनम्, (2) सरोवरस्थजल-मन्थनेन जलीय-विद्युतः (Hydroelectric, Hydel) उत्पादनम्, (3) उत्खनन-पद्धत्या भूगर्भीय-अग्नेः (पुरीष्य अग्नि, Oil and Natural Gas) निःसारणम्। यजुर्वेदे विस्तरेण आविष्कारत्रयम् एतद् वर्ण्यते।

(क) तमु त्वा दध्यङ् ऋषिः पुत्र ईधे अथर्वणः। यजु० 11.33

अरण्योर्निहितो जातवेदाः। ऋग्० 3.29.2

(ख) त्वामग्ने पुष्करादधि अथर्वा निरमन्थत। यजु० 11.32

(ग) पुरीष्योऽसि विश्वभरा अथर्वा त्वा प्रथमो निरमन्थदग्ने। यजु० 11.32

पृथिव्याः सधस्थाद् अग्निं पुरीष्यम्.......खनामः। यजु० 11.28

भूः परिक्रामति : ऋग्वेदे यजुर्वेदे च वर्ण्यते यद् भूः सूर्यं परितः परिक्रामति। भुवः परिक्रमणेनैव अहोरात्रं संपद्यते। ऋग्वेदे स्फुटमेतत् प्रतिपाद्यते यत् पृथिवी (क्षाः) शुष्णम् (सूर्यम्) परितः प्रदक्षिणित् (प्रदक्षिणां परिक्रमां वा विदधाति)।

(क) आयं गौः पृश्निनरक्रमीद्, असदन्मातरं पुरः। पितरं च प्रयन् स्वः।

ऋग्० 10.189.1., यजु० 3.6

(ख) क्षाः......शुष्णं परि प्रदक्षिणित्। ऋग्० 10.22.14

सूर्योऽपि परिक्रामति : यजुर्वेदे प्रतिपाद्यते यत् न केवलं भूरेव परिक्रामति, अपि तु सूर्यम् अपि परिक्रामति। न केवलं सूर्यमेव, अपितु सकलं जगत् परिक्रामति।

समाववर्ति पृथिवी समुषाः समु सूर्यः। समु विश्वमिदं जगत्। यजु० 20.23

सूर्य एव चन्द्रं प्रकाशयति : चन्द्रमसि नास्ति प्रकाशः। सूर्यः स्वकिरणैः चन्द्रं प्रकाशयति। आचार्ययास्केनापि निरुक्ते प्रतिपादितम् एतत्।

(क) सुषुम्णः सूर्यरश्मिः चन्द्रमा गन्धर्वः। यजु० 18.40

(ख) अथाप्यस्य एको रश्मिः चन्द्रमसं प्रति दीप्यते। आदित्ययोऽस्य दीप्तिर्भवति।

निरुक्त 2.6

सोम : (Hydrogen) सूर्यस्य शक्तिदाता : अथर्ववेदे वर्ण्यते यत् सूर्यस्य शक्ति-स्रोतः सोमः (Hydrogen) एव वर्तते।

सोमेन-आदित्या बलिनः। अथर्व० 14.1.2

नक्षत्रेषु सोमतत्त्वस्य महत्त्वम् : नक्षत्रेषु प्रकाशकत्वं कान्तिमत्त्वं च सोमस्य (Hydrogen) सत्तयैव वर्तते। सोम (Hydrogen) एव तेषाम् अधिष्ठाता राजा च। तत्र सोमो वाष्परूपेण (Gas) वर्तते।

(क) अथो नक्षत्राणाम् एषाम् उपस्थे सोम आहितः। अथर्व० 14.1.2

(ख) शकधूमं नक्षत्राणि यद् राजानम् अकुर्वत। अथर्व० 6.128.1

सूर्ये बाष्पद्वयस्य (Hydrogen and Helium gases) अस्तित्वम्-

यजुर्वेदे स्फुटम् एतत् प्रतिपाद्यते यत् सूर्ये उच्चशक्तियुक्तम् (उद्वयसम्) बाष्पद्वयं वर्तते। बाष्पद्वयस्य निर्देशः 'अपां रसः' 'अपां रसस्य यो रसः' इति वचनेन क्रियते। 'अपां रसः' जलस्य सारभागः सूक्ष्मरूपो वा Hydrogen gas वर्तते। 'अपां रसस्य यो रसः' जलसारभागस्यापि साररूपः सूक्ष्मरूपो वा Helium वर्तते। सूर्ये नवति-प्रतिशतं 'हाइड्रोजन' वर्तते, अष्ट-प्रतिशतं च 'हीलियम गैस' वर्तते। मन्त्रे 'सूर्ये सन्तम्' इत्यनेन सूर्ये उच्चशक्तिसमन्वितस्य वाष्पद्वयस्य सत्ता निर्दिश्यते।

सूर्यं परितो बाष्पसमूहः ऋग्वेदे दीर्घतमस ऋषेः कथनम् अस्ति यद् मया योगदृष्ट्या सूर्यं परितः उच्चशक्तिसम्पन्नो बाष्प (Gas) समूहो दृष्टः। 'शकमयं धूमम्' इत्यनेन महाशक्तियुक्तं बाष्पं निर्दिश्यते।

शकमयं धूमम् आराद् अपश्यम् विषूवता पर एनावरेण। ऋग्० 1.164.43

सूर्ये कालिमा (Spots) : ऋग्वेदे वर्ण्यते यत् सूर्यस्य चक्षुः (मण्डलम्) रजसा आवृतम् (धूलियुक्तम्) वर्तते। वैज्ञानिकैः तथ्यमेतत् स्वीक्रियते।

सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतम्। ऋग्० 1.164.14

सप्त महासूर्याः (7 Solar Systems)—अथर्ववेदे संसूच्यते यद् ब्रह्मणि सप्त सूर्याणां सहैव वासोऽस्ति। एतेन विज्ञायते यत् सप्त महासौरमण्डलं वर्तते। ताण्ड्य-महाब्राह्मणेऽपि सप्तसूर्याणाम् उल्लेखः प्राप्यते।

यस्मिन् सूर्या अर्पिताः सप्त साकम्। अथर्व० 13.3.10

सप्त आदित्याः। ताण्ड्य० महा० 23.1.3

आकर्षणशक्तिः (Law of gravitation) : वेदेषु आकर्षणशक्तेः स्पष्टम् उल्लेखः प्राप्यते। सर्वेषु परमाणुषु आकर्षणशक्तिः वर्तते। सर्वे परमाणवः अन्योन्यम् आकर्षन्ति।

एको अन्यत् चकृषे विश्वमानुषक्। ऋग्० 1.52.14

सूर्यः पृथिवीम् आकर्षणशक्त्या धारयति—

दाधर्थ पृथिवीम् अभितो मयूखैः। यजु० 5.16

सविता यन्त्रैः पृथिवीम् अरम्णात्। ऋग्० 10.149.1

आकर्षणशक्त्यैव सर्वाणि नक्षत्राणि द्यावाभूमी च स्वस्थाने प्रतिष्ठितानि सन्ति।

स्वर्णरम् अन्तरिक्षाणि रोचना द्यावाभूमी पृथिवीं स्कम्भुरोजसा। ऋग्० 10.65.4

सूर्यकिरणेभ्यो विद्युत्प्रवाहः (Electro-magnetic Radiation) : ऋग्वेदे वर्ण्यते यत् सूर्यकिरणैः

सह मित्रावरुणौ एकस्मिन्नेव रथे चरतः। मित्रो धनात्मक आवेशः (Positive charge) वरुणश्च **ऋणात्मक** आवेशः (Negative charge)। तौ संगत्य विद्युत्-प्रवाहम् (Electro-magnetic Radiation) कुरुतः **तत एव** विद्युत्-चुम्बकीय तरङ्गाः (Electro-magnetic waves) प्रवहन्ति। मन्त्रे च 'अयः शीर्षा' पदं, **चुम्बकशक्तिं** द्योतयति।

(क) मित्रावरुणा........रथर्यतः साकं सूर्यस्य रश्मिभिः। ऋग्० 8.101.1-2

(ख) प्र यो वां मित्रावरुणाऽजिरो दूतो अद्रवत्। अयः शीर्षा मदेरघुः। ऋग्० 8.101.3

ऊर्जाया द्रव्यस्य चान्योन्यरूपेण परिवर्तनम् (Conservation of mass and energy) : ऋग्वेदे सिद्धान्तस्यास्य सूत्रम् उपलभ्यते। अदितेः (प्रकृत्याः, Mass), दक्षः (ऊर्जा, Energy) अजायत। **दक्षात्** (ऊर्जायाः) च अदितिः (प्रकृतिः) अजायत। सिद्धान्तस्यास्य अभिप्रायोऽयं यद् द्रव्यमेव ऊर्जारूपं धत्ते, **ऊर्जा च** द्रव्यस्य रूपम्। एतदेव आइन्स्टाइन (Einstein) महोदयेन प्रतिपाद्यते—$E=mc^2$

अदितेर्दक्षो अजायत, दक्षादु-अदितिः परि। ऋग्० 10.72.4

महद् उल्बम् (Ozone Layer) : ऋग्वेदे अथर्ववेदे च 'महद् उल्बम्' इत्यनेन ओज़ोन-स्तरस्य **निर्देशः** क्रियते। गर्भस्थ-शिशु-रक्षणाय यथा 'उल्बम्' भवति, तथैव भू-रूप-शिशु-रक्षणाय परमात्मना एतद् महद् उल्बं रचितम् अस्ति। स्थविरं स्थूलरूपम् एतदस्ति। अस्य रूपं च हिरण्ययं सुवर्णाभं वर्तते।

(क) महत् तदुल्बं स्थविरं तदासीद् येनाविष्टितः प्रविवेशिथापः। ऋग्० 10.51.1

(ख) तस्योत जायमानस्योल्ब आसीद् हिण्ययः। अथर्व० 4.2.8

जले अग्नीषोमयोः (Oxygen and Hydrogen) अस्तित्वम् : अथर्ववेदे प्रतिपाद्यते यद् जले **अग्निः** (Oxygen) सोमश्च (Hydrogen) विद्येते।

अग्नीषोमौ बिभ्रति-आप इत् ताः। अथर्व० 3.13.5

जल-निर्माण-सूत्रम् : ऋग्वेदे जल-निर्माण-सूत्रम् उपलभ्यते यद् मित्र-वरुणयोः **सम्मेलनेन** जलोपलब्धिर्भवति। आधुनिकं विज्ञानसूत्रं वर्तते H_2O। हाइड्रोजन-गैसस्य कणद्वयम्, आक्सीजन-गैसस्य **चैकः** कणः, एकस्मिन् पात्रे स्थापिते विद्युत्-तरङ्ग-प्रवाहेण तद् जलं भवति। मन्त्रे तु निर्दिश्यते यद् जलार्थं **मित्रं** (Oxygen) वरुणं (Hydrogen) च गृहाण।

मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम्। धियं घृताचीं साधन्ता। ऋग्० 1.27

वृक्षेषु अवितत्त्वम् (Chlorophyll) : वनस्पति-विज्ञानदृष्ट्या महत्त्वपूर्णं तथ्यमेकम् अथर्ववेदे **प्राप्यते।** तत्र स्फुटमेतद् उच्यते यद् अवितत्त्वस्य सत्तयैव वृक्षा वनस्पतयश्च हरिताः सन्ति। **रक्षार्थकाद्** अव्धातोर्निष्पन्नोऽयम् अविशब्दो जीवनरक्षकत्त्वं निर्दिशति। विज्ञानदृष्ट्या एतत् क्लोरोफिल् (Chlorophyll) **इति** कथ्यते।

अविर्वै नाम देवता ऋतेनास्ते परीवृता।

तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः। अथर्व० 10.8.31

वृक्षास्तिष्ठन्त एव स्वपन्ति। ते सजीवा इव शयनक्रियां कुर्वन्ति।

अस्थुर्वृक्षा ऊर्ध्वस्वप्नाः। अथर्व० 6.44.1

वृक्षाः प्राणवायुम् उद्गिरन्ति। सामवेदे कथ्यते यत् ते समानवायुम् (Oxygen) उद्गिरन्ति।

तमित् समानं वनिनश्च वीरुधो
अन्तर्वतीश्च सुवते च विश्वहा। साम० 18.24

एवं सुकरम् एतद् वक्तुं यद् वेदेषु शतशो विज्ञान-सूत्राणि वर्तन्ते।

वेद में आधुनिक विज्ञान के महाविस्फोट (Big Bang) की परिकल्पना

डॉ० विष्णुकान्त वर्मा *

यह जगत् क्या है, यह कैसे अस्तित्त्व में आया, यह जिज्ञासा का विषय रहा है और सदैव रहेगा। यह जगत् कैसे अस्तित्त्व में आया–इसका समाधान भौतिक पदार्थ सत्ता के विश्लेषण में है, जिस विषय को विज्ञान कहा जाता है। बार-बार परीक्षा के फलस्वरूप पाये गये परिणाम को सिद्धान्त का प्रतिष्ठित पद प्राप्त है। सृष्टि उत्पत्ति (Cosmogony) आधुनिक विज्ञान के अन्वेषण का महत्त्वपूर्ण विषय है यह जगत् क्यों अस्तित्व में आया–इस प्रश्न के समाधान में दर्शन की भूमिका निहित हो जाती है। वस्तुतः विज्ञान और दर्शन ज्ञान के ही दो विभाग हैं।

1. वैदिक परिकल्पना–

वेद ज्ञान के आगार हैं, ज्ञान के अन्तर्गत जो कुछ आता है वह वेद में विद्यमान है चाहे चेतना के स्रोत का विषय हो या सृष्टि उत्पत्ति विज्ञान का। भौतिक पदार्थ सत्ता जिन नियमों के अन्तर्गत वर्तती है उस समग्र नियमावली का वैदिक प्रतीक ऋत है, जिसका वैज्ञानिक नाम कास्मालॉजी (Cosmology) है। ऋचा कहती है कि ईश्वर ने आदि काल में, समग्र ऋत और सत्य स्वरूप मूल प्रकृति को अव्यक्त अवस्था से व्यक्त किया। जगत् उत्पत्ति और रचना सम्बन्धी विविध स्थितियों को प्रतिष्ठित करने वाले वेद के अपने प्रतीक हैं जिनके सत्य स्वरूप के अनावरण के अभाव में वास्तविक सत्य वस्तुस्थिति प्रतिष्ठित नहीं हो पाती है।

वैदिक विज्ञान का प्रतिपादन स्वतन्त्र रूप से किया जा सकता है क्योंकि वेद की सृष्टि उत्पत्ति विषयक मूलभूत रूपरेखा स्वयं में पूर्ण है, किन्तु विज्ञान के सिद्धान्तों से तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने पर वैदिक परिकल्पना की सत्यता प्रयोग सिद्ध विज्ञान अन्वेषण से प्रतिष्ठित होती है जैसा कि ऋचा ने स्वयं कहा है—

देवानां नु वयं जाना प्रवोच विपन्यया।

---

* प्राचार्य, अभियान्त्रिकी महाविद्यालय बिलासपुर, मध्यप्रदेश भू0पू0

उक्थेषु शस्यमानेषु यो पश्यादुत्तरे युगे।। ऋग्वेद, 10.72.1

हम ऋषि, देवों के जन्म का विशिष्टता से प्रवचन करेंगे (उक्थेषु शस्यमानेषु) इन आदेशात्मक वेद मन्त्रों में निहित ज्ञानों को (उत्तर युगे) भविष्य में आने वाले युग में (यः) जो कोई भी विद्वान् (पश्यात्–लेट् लकार) साक्षात् देखेगा। अर्थात् वेद मन्त्रों में निहित सत्य के दर्शन प्रयोग सिद्ध विज्ञान के अन्वेषण में देखा जाना है।

द्वितीय तथ्य यह है कि देव प्रकृति के प्रतिरूप हैं जिनकी उत्पत्ति का उपादान कारण प्रकृति है। सूक्त की द्वितीय ऋचा कहती है—

ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मारइवाधमत्।

देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत।। ऋग्वेद, 10.72.2

देवों के पूर्व युग अर्थात् उत्पत्ति काल में ब्रह्माण्ड के स्वामी ने असत्-सत् का लुहार की तरह अग्निदाह किया। तब असत् पूर्व अवस्था से आगामी अवस्था भी प्रादुर्भूत हो गयी थी।

इस सूक्त में देवों के दो वर्गों की उत्पत्ति वर्णित है। एक वर्ग में मूल स्थिति अदिति से जगत् रूप बनने तक अवस्थान्तरित होती प्रकृति की सब अवस्थाओं का विवरण है और दूसरे वर्ग में देव नक्षत्र, ग्रह, सूर्य पृथिवी आदि हैं, जिनकी उत्पत्ति का विज्ञान वर्णित है। इस सूक्त में क्रमबद्ध सृष्टि विज्ञान है। अन्यत्र भी सृष्टि विज्ञान के बिन्दु बिखरे पड़े हैं—

2. वैज्ञानिक सृष्टि उत्पत्ति परिकल्पना–

आईन्सटीन के सिद्धान्तों पर वैज्ञानिकों ने जगत् उत्पत्ति का (बिग बैंग) महा विस्फोट (मॉडल) प्रतिमान बनाया है जिसके अनुसार 10 से 20 अरब वर्ष पूर्व समस्त पदार्थ गैलेक्सियों के केन्द्र में एक अत्यन्त सघन अतिशय प्रज्वलित पिण्ड के रूप में एकत्र हो गया था, तब तापमान 10 अरब डिग्री सेल्सियस था तथा द्रव्य घनत्व एक घन सेण्टीमीटर में 4 हजार मेट्रिक टन तक था। उस समय परमाणु तो क्या परमाणु का नाभिक (न्यूक्लियस) भी नहीं था। क्वाण्टम अवस्था से क्वार्क सूप आदि अवस्थाओं से निष्क्रमण करता हुआ पदार्थ एक प्रामाणिक काल (Standard Era) पर आया। इस काल से विशेष ज्ञान उपलब्ध है। प्रामाणिक काल पर इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन, न्यूट्रॉन, पाजीट्रॉन आदि अष्टवर्गी कण व प्रतिकण (पार्टिकल एन्टीपार्टिकल) विद्यमान थे। उस समय कण प्रतिकण और विकिरण के मध्य मन्थन हो रहा था पर विकिरण मेटर पार्ट (कण प्रतिकण संयुक्त) पर हावी था।

महाविस्फोट से द्रव्य में तीव्र गति से मण्डलाकार प्रसार प्रारम्भ हुआ और महाविस्फोट के 30 मिनट बाद हीलियम नाभिक (2 प्रोटॉन + 2 न्यूट्रॉन का यौगिक) बन गया। उस समय 26, 74 अनुपात में हीलियम हाईड्रोजन नाभिक द्रव्य बना जिसे कॉस्मिक मेटर भी कहते हैं।

लाखों वर्ष बाद तापमान 4 हजार डिग्री हो जाने पर सप्त वर्गी परमाणु रचना हुई उस समय कई प्रकार के नाभिक इलेक्ट्रॉन से संयुक्त हुए। लगभग इसी काल से नक्षत्र, ग्रह, सूर्य, पृथिवी की रचना प्रारम्भ हुई।

3. वैदिक नाभिकीय विज्ञान–

वैज्ञानिक महाविस्फोट के सिद्धान्त से वैदिक मन्तव्यों का साम्य दर्शाने के पूर्व वैदिक नाभिकीय विज्ञान से परिचित होना आवश्यक है। वेद के अनुसार अदिति त्रिवर्गी मूल कण मित्र, वरुण, अर्यमा की समग्र सत्ता का प्रतीक है। अदिति ब्राह्मी स्थिति है अर्थात् ब्रह्म की अङ्गभूता भौतिक देह है। सृष्टि में नियोजित होते ही त्रिवर्गी मूल तत्त्व की संज्ञा अदिति से आपः हो जाती है जिसका दूसरा नाम माया या सलिल है। मित्र वरुण ऋणात्मक व घनात्मक विद्युत वाहक कण हैं और अर्यमा विकिरण है। सृष्टि में नियोजित होने पर अर्यमा का नाम सोम हो जाता है।

4. आदि सृष्टि काल में महादग्नि पिण्ड की वैदिक परिकल्पना–

सृष्टि के एक ज्योतिर्मय महदग्नि पिण्ड से प्रारम्भ होने की परिकल्पना वैदिक प्रतीक हिरण्यगर्भः में विद्यमान है। ऋषि हिरण्यगर्भः प्राजापत्यः ने सूक्त की प्रथम ऋक् में कहा है कि आदि काल में समस्त भूतों का उत्पत्तिकर्त्ता जगत् का एकमात्र स्वामी विद्यमान था—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् । ऋग्वेद, 10.121.1

ईश्वर के हिरण्यगर्भः स्वरूप में क्या रहस्य निहित है यह ज्ञातव्य है। श्वेताश्वतर उपनिषद् कहती है—

हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानं स नो बुद्धया शुभया संयुनक्तु। 4.12

हिरण्यगर्भ ऐसी कौन सी स्थिति है जिसका देखा जाना ईश्वर की प्रतिष्ठा का विषय बना— शतपथ ब्राह्मण से हिरण्यं का रहस्य विदित होता है यथा—

ज्योतिर्वै हिरण्यं ज्योतिरेषोऽमृतं हिरण्यम्। 11.1.5

निश्चय ही हिरण्य ज्योति ही है यह अविनाशी ज्योति है अर्थात् अविनाशी मूल तत्त्वों की ज्योति है—

आपो ह वा इदमग्न सलिलमेवास।
तासु तपस्तप्यमानासु हिरण्यमाण्डं संबभूव।। 11.1.6

आदिकाल में आपः सलिल ही था, सलिल आदि काल का (देखिये नासदीय सूक्त—अप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्) अविज्ञेय मूल तत्त्व था। सलति गच्छति निम्नम् निर्वचन से सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवस्था से स्थूल में जाने वाला। उन तप्त, अतिशय तप्त, आपः वाच्य मूल तत्त्वों में ज्योतिर्मय प्रज्वलित पिण्ड प्रादुर्भूत हुआ था। इसी से ईश्वर हिरण्यगर्भः कहलाया, जैसा कि अमरकोश निर्वचन करता है—

हिरण्यं हिरण्यमयं अण्डं तस्य गर्भ इव।

हिरण्यगर्भ सूक्त ने स्वयं हिरण्यगर्भः की व्याख्या 7वीं ऋक् में की है तब अन्यत्र अन्वेषण से क्या प्रयोजन, यथा—

आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन्गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम् ततो देवानां समवर्ततासुरेकः ऋग्वेद 10.121.7

(यत् ह बृहतीः आपः गर्भंदधाना) जब प्रसिद्ध है कि आपः की विस्तृत विकृतियाँ अन्तस् में धारण किये (विश्वं अग्निं जनयन्तीः आयन्) समग्र अग्नि पिण्ड को उत्पन्न करती आयी थीं तब (देवानां असुः एकः समवर्तत) देवों का प्राण रूप, उनका जीवन प्रदाता एकमात्र ईश्वर विद्यमान था। देव अग्नि पिण्ड रूप मूल कारण से प्रादुर्भूत हुए प्रकृति के प्रतिरूप हैं। यह व्याख्या इतनी प्रसिद्ध थी कि मनुस्मृति ने यथावत् ऐसा ही विचार व्यक्त किया, यथा

अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्।
तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।। मनुस्मृति, 1.8.9

ईश्वर ने आदिकाल में अप् तत्त्व प्रकट किया, उसी को बीज रूप बनाकर नीचे का स्थूल सृजन किया। वह अप् तत्त्व सहस्र सूर्यों की प्रभा वाला पिण्ड बना। आदिकाल में प्रादुर्भूत हुए महदाग्नि पिण्ड से जगत् रचना का वैदिक सिद्धान्त सर्वथा सिद्ध है, इसमें संशय का कोई स्थान नहीं है। यह परिकल्पना इतनी प्रसिद्ध थी कि वेदेतर साहित्य-महाभारत व पुराण ने भी इसका उल्लेख किया है।

5. अग्नि पिण्ड का प्रसार-

आदि द्रव्य मंडल के प्रसार की वैज्ञानिक परिकल्पना वैदिक प्रतीक मातरिश्वन् में निहित है। निरुक्त के अनुसार—

मातरिश्वा वायुः, मातरि अन्तरिक्षे श्वयति।
मातरि आशु अनिति इति वा।

ऋचा ने स्वयं मातरिश्वन् की व्याख्या इस प्रकार की है—

मातरिश्वा यदमिमीत मातरि वातस्य सर्गो अभवत् सरीमणि। ऋग्वेद, 3.29.11

(मातरि) मूल मातृ शक्ति में (यत् सरीमणि) जिसगति में (वातस्य सर्गः) वायु का त्याग हुआ था उसे (मातरिश्वा अमिमीत) मातरिश्वा ने नापा था। अर्थात् मातरिश्वा मूल मातृशक्ति में होने वाले प्रसार का द्योतक है। जब मूल शक्ति श्वास बाहर छोड़ती है तो जगत् मूल शक्ति के बाहर अस्तित्व में आता है। जब मूल शक्ति श्वास अन्दर खींचती है तो जगत् मूल शक्ति में विलय हो जाता है।

वैदिक परिकल्पना विज्ञान से एक पग आगे जाती है। विज्ञान केवल हॉवेल के परीक्षा सिद्ध जगत् प्रसार

सिद्धान्त के आधार पर महाविस्फोट के अनन्तर वर्तमान में जगत् के द्रव्य के निरन्तर प्रसार के तथ्य को कहता है किन्तु वैदिक सिद्धान्त प्रसार और संकुचन की एकान्तर, एक के बाद एक होने वाली व्यापक क्रिया के द्वारा सर्वकालिक सत्य को कहता है।

विज्ञान की यह मान्यता है कि यह सृष्टि 10 से 20 अरब वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुई और तापगति विज्ञान (सेकेण्ड लॉ आफ थर्मोडायनामिक्स) के दूसरे नियम से सिद्ध है कि यह जगत् शनैः-शनैः मृत्यु की ओर जा रहा है। इस प्रकार विज्ञान ने इस जगत् के उत्पन्न होने और कालान्तर में इसके नष्ट हो जाने के तथ्य को भी घोषित किया है किन्तु विज्ञान का ज्ञान वर्तमान सृष्टि तक सीमित है इसके बाहर उसका ज्ञान नगण्य है जबकि वैदिक सिद्धान्त इस सृष्टि के परे अनादि काल से भूतकाल में और अनन्त काल तक चलते जाने वाले, भविष्यत् में उत्पत्ति, लय के दिन-रात की तरह होने वाले एकान्तर क्रम की परिकल्पना के दर्शन कर रहा है।

6. आदिकाल में ऊर्जा और द्रव्यभाग की भूमिका-

अग्नि पिण्ड की उत्पत्ति के समय प्रकृति के द्रव्यभाग (कण-प्रतिकण) और विकिरण (ऊर्जा) भाग के मध्य मन्थन चल रहा था, ऊर्जा भाग का द्रव्य भाग पर वर्चस्व था। विज्ञान के इस सिद्धान्त को ऋचा ने वर्णित किया है—

सोमो राजा प्रथमो ब्रह्मजायां पुनः प्रायच्छदहृणीयमानः।

अन्वर्तिता वरुणो मित्रो आसीदग्निर्होता हस्तगृह्या निनाय।। ऋग्वेद, 10.109.2

सृष्टि में नियोजित होने पर विकिरण अर्यमा की संज्ञा सोम हो जाती है तदनुसार—

(राजा) सर्वोच्च सत्ता सोम (प्रथमः) आदिकाल के समय (पुनः) प्रलय के अनन्तर फिर से (अ-हृणीयमानः) तत्पर हुआ (ब्रह्मजायां) प्रकृति को (प्रायच्छत्) आगे ले जाता है। (अर्तिता, अर्द् गतौ) गतिशीलता में (अनु) पीछे मित्र वरुण थे (अग्निः होता) अग्निरूप सोम ने प्रमुख याज्ञिक अर्थात् संगतिकरण कर्ता की तरह (हस्तगृह्य आ निनाय) मानो हाथ पकड़कर मित्र वरुण को आगे किया।

मित्रावरुण (कण-प्रतिकण) प्रकृति का द्रव्य भाग क्रिया में पीछे था, विकिरण सोम ने उसे क्रियाशील किया।

7. पदार्थ की अवस्थाओं के चरण-

ऋचा कहती है कि अग्नि पिण्ड की उत्पत्ति के समय आठ देव थे अर्थात् द्रव्य अष्टवर्गी था-**अष्टौ देवासो अदितिर्ये जातास्तन्वस्परि**। यह अष्ट वर्गी द्रव्य विज्ञान प्रोक्त अष्टवर्गी प्लाज्मा है। पौराणिक साहित्य में इन्हें अष्टवसु कहा गया है।

अग्नि मण्डल का पर्याप्त प्रसार हो जाने पर ऋचा के अनुसार-

देवाँ उप प्रैत्सप्तभिः परामार्ताण्डमास्यत्

महदग्नि मण्डल दूर तक फेंका गया अर्थात् जब इसमें पर्याप्त प्रसार हो गया तब (सप्तभिः देवान् उप प्रैत) सात देव प्रकर्षता से आये अर्थात् विज्ञान प्रोक्त सप्तवर्गी परमाणुओं की रचना हुई। अन्यत्र वेद में इस अवस्था को सप्त अर्ध गर्भाः कहा गया–सप्तार्ध गर्भा भुवनस्य रेतो ऋग्वेद, 1/164/36

अर्धगर्भा भ्रूणावस्था की द्योतक है जो विज्ञान के परमाणु के लिये प्रयुक्त नैसेन्ट स्टेट का समानार्थी है।

अन्ततोगत्वा सप्तवर्गी जगत् अस्तित्त्व में आता है, ऋचा कहती है—

सप्तभिः पुत्रैरदितिरुप प्रैत्यपूर्व्यं युगम्।

प्रजायै मृत्यवे त्वत्पुनर्मार्ताण्डमाभरत्।। ऋग्वेद, 10.72.9

पूर्व कल्प में अदिति सात पुत्रों सहित आयी थी अर्थात् सप्त वर्गी परिणाम सहित जगत् रूप में आयी थी। सृष्टि उत्पत्ति और लय हेतु हे अदिते, तुझसे ही महदग्नि मंडल आदिकाल में पुनः धारण किया जाता है।

इस विवरण में अपांनपात् अवस्था को गौण मानकर छोड़ दिया गया है, किन्तु अपांनपात् देवता का विवरण अनेक सूक्तों में आया है। अपांनपात् अवस्था प्लाज्मा अवस्था और परमाणु अवस्था की मध्यवर्ती अवस्था है विज्ञान में इसे कॉस्मिक मेटर कहते हैं। यह हीलियम हाइड्रोजन के नाभिक (न्यूक्लियस) का मिश्रण होता है।

8. रूपक रहस्य–

ऋग्वेद की रूपक अलंकारिक भाषा में ईश्वर पिता, मूल आद्या शक्ति अदिति ईश्वर की जाया तदनुसार माता, सृष्टि में नियोजित प्रकृति का क्रियात्मक रूप आपः पुत्र या पुत्री कहा गया है, तदनुसार (आगामी परिणामी अवस्था) पुत्र का (या पुत्री का) पुत्र अपांनपात् कहा गया है नपात् का अर्थ नाती है। पुत्री के पुत्र हेतु दायभाग की कल्पना में भी सृष्टि उत्पत्ति विषय है—

शासद् वह्निर्दुहितुर्नप्तयं गाद् विद्वाँ ऋतस्य दीधितिं सपर्यन्।

पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन्त्सं शग्मयेन मनसा दधन्व।। ऋग्वेद, 3.31.1

(दुहितुः शासत्) पुत्री रूप क्रियात्मक प्रकृति का शासन करता हुआ (विद्वान्) विद्वान् ईश्वर (ऋतस्य सपर्यन्) प्रकृति के साथ गुण स्वभाव का मान करता हुआ अर्थात् प्राकृतिक गुणधर्म के अनुरूप (यत्र) जहां (पिता) ईश्वर (दुहितुः सेकम् ऋञ्जन्) पुत्री आपः के प्रसार को निर्दिष्ट करता हुआ (शग्मयेन) सामर्थ्य के साथ (मनसा) पूर्ण ज्ञान के द्वारा (दधन्व) तीव्रता से गया था (जिस तीव्रता से प्रकृति में परिवर्तन हुआ) तब (वह्निः दीधितिम् नप्तयं गात्) अग्निरूप मूल क्रियात्मक प्रकृति विद्युन्मय अपांनपात् रूप नाभिक अवस्था को प्राप्त हुई, इसी प्रकार का सृष्टि रचना सम्बन्धी विचार आगामी ऋक् में है—

न जामये तान्वो रिक्थमारैक् चकार गर्भं सनितुर्निधानम्।

यदी मातरो जनयन्त वह्निमन्यः कर्त्ता सुकृतोरन्य ऋन्धन्।। ऋग्वेद, 3.13.2

भाष्य—(तान्वः) मूल प्रकृति (अदिति) की देह से उत्पन्न पुत्र या पुत्री रूप आपः (जामये) सम्बन्धी पुत्र के लिये (निधानम्) अपने क्रियात्मक प्रकृति रूप परम आश्रय रूपी भंडार को (रिक्थम्) दायभाग रूप से पूरा का पूरा देकर (न आरैक) खाली, रिक्त न करे। (सनितुः गर्भम् चकार) वह क्रियात्मक प्रकृति आपः भोक्ता अपने पुत्र के गर्भ को धारण करती है। (यदी मातरः वह्निमजनयन्त) जब त्रिवर्गी मूल प्रकृति माताएं अग्नि रूप नाभिक अवस्था अपांनपात् को उत्पन्न करें तो (कर्त्ता अन्यः) शक्ति प्रदाता ऊर्जा का भाग अन्य होता है और (सुकृतः अन्यः ऋन्धन्) अच्छे प्रकार निर्मित समृद्ध होने वाला भाग अन्य होता है।

ऋचा में यह परिकल्पना है कि मूल शक्ति अदिति की पुत्री रूप क्रियात्मक प्रकृति आपः दो भागों में विभक्त हो जाती है–एक भाग (कॉस्मिक मेटर) अपांनपात् के रूप में जिसे पुत्री का पुत्र कहा गया है, विज्ञान का हीलियम हाईड्रोज़न नाभिक मिश्रण है और दूसरा भाग पूर्ण विकसित पृथिवी आदि ग्रह रूप में हो जाता है जिसे सुकृतः कहा गया है। यह पूर्ण विकसित भाग नाभिक द्रव्य अपांनपात् पर पलता है। क्रियात्मक प्रकृति पूरी की पूरी आगामी अवस्था में परिणित हो अपना भंडार रिक्त नहीं करती, यही विज्ञान मन्त्रों में निहित है।

❐

वैदिक वाङ्मय में प्रकाश चिन्तन

डॉ० सुद्युम्न आचार्य *

समस्त विद्याओं के अधिष्ठान वेद में भौतिक विज्ञान के अनेक विषयों के साथ-साथ प्रकाश के भी अनेक सिद्धान्तों का निरूपण प्राप्त होता है। ये सिद्धान्त या तो विविध मन्त्रों में स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किये गये हैं अथवा शब्दों के विशेष प्रयोगों द्वारा या आलंकारिक भाषा द्वारा संकेतित किये गये हैं। इन्हें आधार बनाकर उपनिषदों तथा दर्शनशास्त्र में प्रकाश या तेजस् के विषय में अनेक विशिष्ट मान्यताओं की स्थापना हुई है। इसमें सन्देह नहीं कि आधुनिक भौतिक विज्ञान की प्रकाश से सम्बन्धित मान्यताओं के विकास में वैदिक सिद्धान्तों से सहयोग प्राप्त हुआ है।

वेदों से प्रेरणा प्राप्त करके दर्शन के विविध सम्प्रदायों द्वारा प्रकाश के निरूपण के प्रसंग में कहीं-कहीं ऐसा लगने लगता है मानो उनमें परस्पर विरोध हो या वैदिक वचनों से विरोध हो। पर वास्तव में ऐसा है नहीं। ध्यान से देखने पर ऐसा विरोध तिरोहित हो जाता है। वेद तथा दर्शन के इन सिद्धान्तों का आधुनिक भौतिक विज्ञान से प्रतीत होने वाले विरोध का समाधान भी सम्भव हो सकता है। प्रस्तुत लेख में वेदों के प्रकाश-विषयक ऐसे कुछ सिद्धान्तों का वर्णन है जो प्रथम दृष्टि में आपाततः विरोधी लगते हुए भी अन्ततः सर्वथा यथार्थ सिद्ध होते हैं।

1. क—जल से तेज की उत्पत्ति—वेद मन्त्रों में अग्नि के स्वरूप निरूपण के अवसर पर जल से अग्नि की उत्पत्ति की चर्चा है। स्पष्टतः वहाँ अग्नि के विद्युत् रूपी तेज से आशय है। वेद के एक सुन्दर मन्त्र में कहा है कि अग्नि ने सर्वप्रथम द्युलोक में जन्म लिया, दूसरी बार मनुष्यों के उपक्रम के द्वारा तथा तीसरी बार जलों से—

> दिवस्वपरि प्रथमं जज्ञे अग्निरस्मद् द्वितीयं परि जातवेदाः।
> तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रमिन्धान एनं जरते स्वाधीः।। —ऋग्वेद 10.45.1

इस प्रकार इस मन्त्र में द्युस्थानीय, अन्तरिक्षस्थानीय तथा पृथिवीस्थानीय तीनों प्रकार की अग्नियों का निरूपण हुआ है। अन्य मन्त्र में प्रथम दो प्रकार की अग्नियों की चर्चा करते हुए कहा है कि वरुण ने जलों में

* रीडर, स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग, मु0 म0 टाउन, पी0 जी0 कालेज, बलिया, उत्तरप्रदेश

अग्नि को तथा द्युलोक में सूर्य को उपस्थापित किया—

हृत्सु क्रतुं वरुणो अप्स्वग्निं दिवि सूर्यमदधात् सोममद्रौ। —ऋग्वेद 5.85.2

अन्तरिक्ष स्थानीय अग्नि या विद्युत की इस विशेषता के कारण इसे 'अपांनपात्' यह विशिष्ट नाम दिया गया है। इसका मूल अर्थ 'जल का पोता' यह है।[1]जल से मेघ तथा इनके संघर्षण से बिजली उत्पन्न होती है। अतः मेघ की विद्युत् के लिए यह नाम सर्वथा सार्थक है।

इस विवरण से वेदों की इस मान्यता का सङ्केत मिलता है कि विश्व के किसी भी पदार्थ के संघर्षण से तेज की उत्पत्ति हो सकती है। चाहे वह अग्नि से विरोधी लगने वाला जल ही क्यों न हो। आधुनिक विज्ञान भी इससे सहमत है। उनके अनुसार लकड़ी, कोयला जैसे सुलभ पदार्थ से लेकर यूरेनियम जैसे दुर्लभ किसी पदार्थ में संघर्षण से उनके अणुओं में भयंकर प्रकम्पन उत्पन्न होता है। इससे वे ऊष्मा तथा प्रकाश ऊर्जा को उत्सर्जित करते हैं तथा इस प्रकार तेजस् की प्रतीति कराते हैं। पदार्थों के संघर्षण से प्रकट बल से उत्पन्न होने के कारण वेद में आलंकारिक भाषा में इसे बल का पुत्र बताया है।

दिवः शिशुं सहसः सूनुमग्निं यज्ञस्य केतुमरुषं यजध्यै। —ऋग्वेद 6.49.2

अन्य प्रसंग में इसी अर्थ में इसे 'सहस्पुत्र' नाम भी दिया गया है।

वेद के इन मन्त्रों को आधार बना कर न्याय शास्त्र में तेज के उपभेदों के प्रसंग में 'दिव्य तेज' का निरूपण किया है। वहाँ कहा है कि जल से उत्पन्न होने वाली आकाशीय विद्युत् इस उपभेद के अन्तर्गत है। यह अबिन्धन होती है। अर्थात् इसके उत्पन्न होने में जल ही इसका ईंधन होता है।[2] जिस प्रकार लकड़ी की आग का निमित्त कारण लकड़ी उसका ईंधन होती है, इसी प्रकार इस मेघ की बिजली का निमित्त कारण जल उसका ईंधन सिद्ध होता है।

पर वेद के एक मन्त्र में आकाशीय विद्युत् की जल से उत्पत्ति स्वीकार करते हुए भी उसके ईंधन होने का प्रतिषेध किया है। वहाँ कहा है कि तेज का एक रूप जलों में ईंधन न बनते हुए भी चमकता है तथा विद्वान् लोग उसके दूसरे रूप पार्थिव अग्नि की प्रशंसा करते हैं—

यो अनिध्मो दीदयदप्स्वन्तर्यं विप्रास ईडते अध्वरेषु। —ऋग्वेद 10.30.4

यहाँ दृष्टिभेद से दोनों मान्यताएं समीचीन हैं। इनमें कोई विरोध नहीं है। न्यायशास्त्र का मानना है कि अग्नि का जो सांयोगिक आधार होता है, वह उसका ईंधन भी अवश्य होता है। जैसे अग्नि का आधार लकड़ी उसका ईंधन है। इसी प्रकार दिव्य तेज का आधार जल उस दिव्य तेज का ईंधन होता है।

पर यहाँ वेदमन्त्र की दृष्टि यह है कि अग्नि का जो आधार ईंधन बनता है, वह अवश्य ही उस ईंधन से विनाश को प्राप्त होता है। पर इस दिव्य तेज का आधार जल उस तेज से विनाश को प्राप्त नहीं होता। अतः यहाँ जल विद्युत् का ईंधन नहीं हो सकता।

यहाँ न्यायशास्त्र की दृष्टि को आधार बना कर महाकवि कालिदास का वाडवाग्नि के विषय में यह कहना सर्वथा सही है कि समुद्र जल ईंधन बन कर अपने में अग्नि को धारण करता है तथा साथ ही आह्लाद

देने वाली चन्द्र की ज्योति को प्रस्फुटित करता है।

अबिन्धनवह्निमसौ बिभर्ति प्रह्लादनं ज्योतिरजन्यनेन।

—रघुवंश 13.4

इस विवरण से प्रकट है कि विविध दृष्टि से अलग-अलग शास्त्रों में जल के ईंधन होने या न होने की स्थापना में कोई विरोध नहीं है।

1. ख. तेज से जल की उत्पत्ति—ब्राह्मण ग्रन्थों में तेज से जल उत्पत्ति का निरूपण हुआ है। वहाँ कहा है कि अग्नि से धूम उत्पन्न होता है, धूम से अभ्र या मेघ तथा इनसे जल वृष्टि होती है—

अग्नेर्वै धूमो जायते, धूमादभ्रम्, अभ्राद् वृष्टिः।

—शतपथ ब्राह्मण, 3.5.17

यहाँ वृष्टि विज्ञान का निरूपण है। गर्मी में सूर्य के प्रचण्ड ताप के प्रभाव से समुद्र का जल वाष्प के रूप में हल्का होकर ऊपर उठता है तथा वायुदाब वाली दिशा की ओर गतिशील होता है। साथ ही इस ताप से आसमान में अत्यधिक धूलि कण छा जाते हैं। इसे ही धूम की उत्पत्ति कहा गया है। समुद्र से उत्पन्न जल वाष्प ऊँचाई पर शीतलता के प्रभाव से किंचित् संघनित होकर नन्हीं बूँद या जल शीकर का रूप धारण करते हुए इन्हीं धूलि कणों में बैठने लगती हैं। इस दशा में जल शीकर अभ्र या काले मेघों के रूप में इधर-उधर भागते दृष्टिगोचर होते हैं। पुनः अधिक शीतलता प्राप्त होने पर ये नन्हीं बूँदें बड़ी होने लगती हैं। तब ये इन धूलि-कणों में नहीं टिक पातीं। उस दशा में अभ्र या मेघ वृष्टि के रूप में प्रकट होने लगता है।

प्रस्तुत विवरण का उपरिलिखित वैदिक मन्त्रों से कोई विरोध नहीं है क्योंकि विश्व में अलग-अलग परिस्थितियों में दोनों एक-दूसरे से उत्पन्न होते हैं। सूर्य की प्रचण्ड अग्नि से अभ्र निर्मित होते हैं। ये एक परिस्थिति में वृष्टि का रूप धारण करते हैं। अन्य परिस्थिति में इन मेघों के संघर्षण से विद्युत् नामक एक अन्य प्रकार की अग्नि प्रादुर्भूत होती है। इस प्रकार विश्व में एक दूसरे के प्रभाव से एक दूसरे के अलग-अलग रूपों की उत्पत्ति सम्भव होने से दोनों विवरण समुचित तथा अविरोधी सिद्ध होते हैं।

2. क—चक्षु से तेज की उत्पत्ति—वेद में सृष्टि-विद्या से सम्बन्धित एक प्रसिद्ध मन्त्र में चक्षु से सूर्य की उत्पत्ति बताई गई है—

चक्षोः सूर्यो अजायत। यजुर्वेद 31.12

यह मन्त्र पुरुष सूक्त के अन्तर्गत परिपठित है। वहाँ पुरुष से आशय पुरुष विशेष ईश्वर से है। योगसूत्र में क्लेश, कर्म आदि से रहित विशेष 'पुरुष' को ईश्वर के रूप में स्वीकार किया गया है।[3] प्रस्तुत सूक्त में जिस प्रकार की सर्व व्यापकता का वर्णन है, वह केवल ईश्वर के सम्बन्ध में ही परिघटित हो सकती है। इसी सूक्त के प्रथम आलंकारिक मन्त्र में कहा है कि मनुष्य के किसी भी आधारभूत भूमि में व्याप्त रहते हुए वह उससे भी दस अङ्गुल आगे बढ़ा हुआ है।[4] तात्पर्य यह कि वह सर्वत्र व्यापक है।

इस प्रकार के पुरुषविशेष ईश्वर के चक्षु से सूर्य उत्पन्न हुआ है। सर्वव्यापक तथा इसीलिये निराकार

ईश्वर की चक्षु भी साकार नहीं हो सकती। अतः इसी सूक्त के एक मन्त्र में ईश्वर के हजार सिर, हजार आँख आदि के वर्णन[5] का आशय उसकी अनन्त सिर तथा आंखों की शक्ति है। उपरिलिखित प्रस्तुत मन्त्र में ईश्वर की अनन्त दर्शन-शक्ति से सूर्य उत्पन्न हुआ, यह आशय अभिप्रेत है। चक्षु तथा सूर्य दोनों दर्शन के साधन या उपकरण है। इस प्रकार दोनों में दर्शन साधनत्व की समानता है। इस प्रकार की समानता रखने वाले चक्षु से सूर्य की उत्पत्ति सर्वथा सम्भव है।

वैदिक तथा औपनिषदिक दर्शन की यह अवधारणा रही है कि विश्व के विशाल तथा अति विशाल पदार्थों में भी ईश्वर की शक्ति ही प्रभावी है। यह ठीक है कि सूर्य पृथिवी की तुलना में अत्यन्त विशाल है। पर सर्वव्यापक ईश्वर के सामने वह नितान्त तुच्छ बिन्दुमात्र है। वह उस ईश्वर की शक्ति से ही प्रकाशशील है। करोड़ों, अरबों वर्ष पूर्व वह ईश्वर द्वारा संचालित भौतिक विज्ञान के नियमों से उत्पन्न हुआ था तथा अब वह उन्हीं संचालित नियमों से अवस्थिति को प्राप्त कर रहा है।

उपनिषद् के एक अति सुन्दर श्लोक में कहा है कि सर्वव्यापक ईश्वर को चांद, तारे, बिजलियाँ प्रकाशित नहीं करतीं, इस मामूली अग्नि की तो बात ही क्या। इसके विपरीत वास्तविकता यह है कि उस ईश्वर के प्रकाश से ही ये सभी प्रकाशित होते हैं।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।। —श्वेताश्वतर उपनिषद् 6.14

इस दृष्टि से वेद के इस पुरुष सूक्त में चक्षु से सूर्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त स्थिर किया गया है।

2. ख—तेज से चक्षु की उत्पत्ति—वेदान्त में इन्द्रियों की उत्पत्ति के प्रसंग में कहा है कि अग्नि के सात्विक अंश से चक्षु की उत्पत्ति होती है।[6]

उपनिषदों में इस तथ्य को इस प्रकार संकेतित किया है कि सूर्य ही चक्षु बन कर अक्षि में अनुप्रविष्ट हुआ—

आदित्यश्चक्षुर्भूत्वा अक्षीणि प्राविशत्। —ऐतरेयोपनिषद्, 1.2.4

इस वचन का पूर्वोक्त वेद मन्त्र से कोई विरोध नहीं है क्योंकि यहाँ सामान्य प्राणियों की चक्षु उत्पत्ति का निरूपण किया है। दोनों वचनों के समन्वय से यह सिद्धान्त स्थिर होता है कि ईश्वर की अनन्त दर्शन-शक्ति से सूर्य उत्पन्न हुआ। साथ ही दर्शन के साधन सूर्य के द्वारा सामान्य प्राणियों की अक्षि में दर्शन साधन रूपी चक्षु इन्द्रिय की उत्पत्ति हुई है।

3. क—तेज का भास्वर शुक्ल रूप है—वेद में सूर्य अथवा अग्नि रूपी तेज का विद्युत के समान भास्वर शुक्ल रूप स्वीकार किया गया है। एक सुन्दर मन्त्र में कहा है कि विद्युत् के सदृश भास्वर शुक्ल रूप वाले अतिविशाल सूर्यदेव पार्थिव अग्नि को उसी प्रकार प्रज्वलन के लिए प्रेरित करते हैं—

बृहन्त इद् भानवो भाऋजीकमग्निं सचन्त विद्युतो न शुक्राः। —ऋग्वेद 3.1.14

यह ध्यान देने योग्य है कि वेद में इसके इस रूप को दर्शाने के लिये 'शुक्र' शब्द का प्रयोग हुआ है। बाद में लौकिक संस्कृत में इस शब्द के आधार पर 'शुक्ल' शब्द का प्रचलन हुआ। इस शब्द के सफेद अर्थ के द्वारा यह सुपुष्ट सङ्केत मिलता है कि इसके मूल 'शुक्र' शब्द का भी सफेद अर्थ ही है।

न्यायशास्त्र में वेद की इस मान्यता को आधार बना कर यह सिद्धान्त स्थिर किया गया कि तेज का मौलिक रूप भास्वर शुक्ल ही होता है। न्याय के सभी ग्रन्थों में ऐसा ही अभिमत प्रकट किया गया है।[7]

न्याय ने अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि में यह भी कहा है कि यदि आग की लौ आदि में इसका लाल रङ्ग दीख पड़े तो मानना होगा कि उसमें अनेक पार्थिव कण संयुक्त हैं। उनके प्रभाव से उसका वास्तविक भास्वर शुक्ल रूप दब गया है। इस प्रकार वह रक्त रूप मूलतः पार्थिव कणों का है।[8] अग्नि को एक रूप वाला समझ लेना भ्रम ही है।

3. ख—तेज का लोहित रूप है—पर उपनिषदों में अग्नि के तेजस्तत्त्व को स्पष्ट ही रक्त रूप वाला कहा है। वहाँ कहा है कि इस तेजस् का रूप 'रोहित' या लाल है। लौकिक संस्कृत में वर्ण-परिवर्तन होकर निर्मित 'लोहित' शब्द का रक्त अर्थ में पर्याप्त प्रयोग होता है। उपनिषद् का वचन इस प्रकार है—

यदग्ने रोहितरूपं तेजसस्तद्रूपम् —छान्दोग्य उपनिषद् 6.4.1

प्रथम दृष्टि में ऐसा लगता है कि वेद तथा उपनिषदों के इन वचनों के बीच विरोध है। पर आधुनिक विज्ञान बताता है कि इनमें कोई विरोध नहीं है। तेज विविध प्रकार की ऊष्मा वाली स्थिति में अलग-अलग प्रकार के रङ्ग उत्सर्जित करते हैं। यह देखा गया है कि 525°C से अधिक ताप वाले तेज से लाल रङ्ग की किरणें निकलती हैं। उसके पश्चात् अलग-अलग ताप में अलग-अलग रङ्ग वाली किरणें प्रकट होती हैं। अन्त में 1600°C से अधिक ताप की दशा में तेज भास्वर शुक्ल या चमकदार सफेद दिखाई देता है। इस सिद्धान्त के आधार पर आजकल बड़ी-बड़ी धमन भट्ठियों में आग के रङ्ग को देखकर ही लोग इसके ताप का अन्दाज लगा लेते हैं।

इस विवरण से प्रकट है कि अलग-अलग ताप में तेज अलग-अलग रङ्गों को धारण कर सकता है। इसमें कोई भी मान्यता या भ्रम नहीं है। उपनिषद् अग्नि को लाल बताते हुए तेज की दृश्यता के सीमान्तर पर सबसे कम ताप वाली स्थिति का निरूपण करता है। पर वेद में तेज के सबसे उच्च ताप वाली स्थिति में इसके भास्वर शुक्ल रूप को प्रकट किया है। इस प्रकार उपनिषद् तथा वेद के दोनों प्रकार के विवरण सर्वथा समुचित एवम् अविरोधी सिद्ध होते हैं।

4. प्रकाश द्रव्य है या ऊर्जा—आधुनिक विज्ञान में पदार्थ को द्रव्य तथा ऊर्जा के रूप में विभाजित करने की परम्परा है। इनके बीच अनेक स्पष्ट विभाजक लक्षण पाये जाते हैं। जैसे द्रव्य जगह घेरता है अथवा दर्शन के शब्दों में 'सप्रतिघ' होता है। इस प्रकार वह अपनी जगह पर दूसरे को नहीं आने देता। साथ ही द्रव्य सम्पीडक होता है अर्थात् अन्य पदार्थ को दबाता है। इसके विपरीत ऊर्जा न तो सप्रतिघ न सम्पीडक होती है। प्रकाश इन लक्षणों वाला होने से आधुनिक विज्ञान में ऊर्जा के रूप में मान्य है।

दर्शन शास्त्र में प्रकाश को तेज के अन्तर्गत मानते हुए द्रव्य के रूप में परिभाषित किया जाता है। वहाँ यह माना है कि यह अनेक गुणों का आधार होने से अति सूक्ष्म कणों के रूप में द्रव्य है।

वेदों में भी अग्नि, सूर्य आदि के रूप गुणों की चर्चा करते हुए इसे द्रव्य की परिभाषा के अन्तर्गत स्वीकार किया है। साथ ही इसे 'प्रकाश' नाम देते हुए[9] इसके ऊर्जा स्वरूप होने का भी सङ्केत दिया है। क्योंकि इस प्रकार के नाम वाले शब्दों में ऊर्जा के कुछ लक्षण प्राप्त होते हैं। जैसे आकाश में ऊर्जा के उपरिलिखित लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। यद्यपि इसमें ऊर्जा के सभी लक्षण प्राप्त न होने से निश्चय ही यह ऊर्जा नहीं है। वेद में आकाश के समतुल्य प्रकाश नाम से यह सङ्केत मिलता है कि प्रकाश में भी ऊर्जा के कुछ लक्षण प्राप्त होते हैं। इस प्रकार यह ऊर्जा है तथा अन्य लक्षणों के आधार पर द्रव्य भी है।

सामान्यतः द्रव्य तथा ऊर्जा अलग-अलग लक्षणों वाले अलग-अलग पदार्थ समझे जाते हैं। पर प्रकाश के सन्दर्भ में आधुनिक विज्ञान का भी मानना है कि इसमें एक साथ दोनों प्रकार के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। यह निर्वात में बिना माध्यम के भी तरङ्ग-गति करता है। इसके व्यतिकरण (interference), ध्रुवण (Polarisation) आदि की व्याख्या के लिये इसकी तरङ्ग गति मानना आवश्यक होता है। साथ ही प्रकाश-विद्युत् प्रभाव (Photo-electric effect) को समझने के लिये इसे कणिका रूप में भी मानना पड़ता है। यह प्रभाव प्रकाश ऊर्जा के कण अथवा फोटान (Photon) द्वारा सम्पन्न माना जाता है।

इस प्रकार आधुनिक विज्ञान में प्रकाश द्रव्य तथा ऊर्जा के विभेद को खोता प्रतीत होता है। वेदों में भी प्रकाश के उपरिलिखित विवरण से ऐसे ही सङ्केत प्राप्त होते हैं।"

सन्दर्भ सङ्केतः

1. निरुक्त 10.18
2. दिव्यमबिन्धनं सौरविद्युदादि- प्रशस्तपादभाष्य, तेज प्रकरण।
3. क्लेशकर्मविपाकशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः-योगसूत्र 1.24।
4. स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशांगुलम्-यजुर्वेद 31.1।
5. सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्-यजुर्वेद 31.1।
6. एतैश्च सत्त्वगुणोपेतैः पञ्चभूतैर्व्यस्तैः पृथक् पृथक् क्रमेण श्रोत्रत्वक्चक्षुरसनघ्राणाख्यानि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि जायन्ते। -वेदान्त परिभाषा, विषय-परिच्छेद
7. उष्णः स्पर्श तेजसस्तु स्याद्रूपं शुक्लभास्वरम्।-कारिकावली प्रत्यक्षखण्ड, तेजोनिरूपण
8. वैश्वानरे मरकतकिरणादौ च पार्थिवरूपेणाभिभवाच्छुक्लरूपाग्रहः।-मुक्तावली प्रत्यक्षखण्ड, तेजोनिरूपण
9. इदं स्वरिदमिदास वाममयं प्रकाश उर्वन्तरिक्षम्।-ऋग्वेद 10.124.6

वैदिक साहित्य में सूर्य-विज्ञान
(Solar Science in Vaidic Literature)

प्रो० बांके बिहारी श्रीवास्तव *

वैदिक साहित्य में सूर्य और सौर ऊर्जा के विषय में विस्तृत सामग्री प्राप्त होती है। इसमें सूर्य का महत्त्व, सूर्य की शक्ति का आधार, सूर्य और चराचर का सम्बन्ध तथा सौर ऊर्जा के विविध चमत्कारों आदि का वर्णन मिलता है। यहाँ कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बातों का ही उल्लेख किया जा रहा है।

प्राचीन भारतीय वैदिक ऋषियों ने प्रकाश, ताप और तज्जनित ऊर्जा के एकमात्र मूल स्रोत के रूप में सूर्य को प्रतिष्ठित किया। वेद सूर्य को ही सम्पूर्ण चराचर जगत का उत्पादक कहते हैं। वैदिक मंत्रों में सूर्य की स्तुतियाँ इस तथ्य को भली-भाँति स्पष्ट करती हैं—

नूनं जनाः सूर्येण प्रसूतः।

सूर्य पृथिवी को रोके हुए है : ऋग्वेद में वर्णन है कि सूर्य ने अपनी आकर्षण शक्ति से पृथिवी को रोका है अतएव पृथिवी गिरने नहीं पाती। मंत्र में आकर्षण शक्ति के लिए 'यन्त्र' शब्द है। यन्त्र शब्द का अर्थ है- नियन्त्रण करने वाली शक्ति—

सविता यन्त्रैः पृथिवीम् अरम्णात्। ऋग्० 10. 149.1

यजुर्वेद में इसी बात को और स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि सूर्य ने अपनी किरणों से, अर्थात् अपनी किरणों की आकर्षण शक्ति से, पृथिवी को चारों ओर से रोका हुआ है। इतना ही नहीं, अपितु पूरे द्यावापृथिवी को उसने अपनी आकर्षण शक्ति से रोक रखा है—

व्यस्कम्ना रोदसी विष्णवेते दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः। यजु० 15. 16

वैदिक मन्त्रों में यह भी बतलाया गया है कि सूर्य अपनी शक्तियों से पृथिवीलोक और द्युलोक दोनों को रोके हुए हैं अर्थात् सूर्य सबके मध्य में है और सबका आकर्षण है। पृथिवी और सूर्य के मध्य में रहने वाले

---

* अध्यक्ष, उ0प्र0 माध्यमिक शिक्षा सेवा चयन बोर्ड, इलाहाबाद

चन्द्रमा, बुद्ध और शुक्र पृथिवीलोक स्थित तथा सूर्य के ऊपर के मंगल, बृहस्पति और शनि द्युलोक स्थित कहे गये हैं। इन सभी ग्रहों का धारण और आकर्षण सूर्य द्वारा ही होता है। आकर्षण शक्ति सम्पन्न होने के साथ ही सूर्य प्रकाश एवं ताप रूपी आनन्द शक्ति का स्रोत भी है। इसके लिए पृथिवी ही नहीं समस्त सौर-मण्डल सूर्य पर ही आश्रित है। सूर्य की यह ऊर्जा अपनी है अथवा सौर-मण्डल के बाह्य जगत् से प्राप्त होती है।

भारतीय तान्त्रिकों का कथन है कि सूर्य ऊर्जा का एक माध्यम मात्र है-असाधारण शक्तिशाली एक लैंस के समान कार्य सम्पन्न करता है। इस लैंस से होकर परम ज्योति जगत् में उतरती है। परब्रह्म की जो अपनी रश्मि है उस रश्मि से उत्पन्न तेज का ही नाम सूर्य है। सूर्य को जगत्स्रष्टा, जगत्पालक और जगत्संहारक पूर्ण ब्रह्म परमात्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। अन्त में—

विश्वानिदेव सवितर्दुरितानि परासुव। यद् भद्रं तन्न आसुव।।

समस्त संसार को उत्पन्न करने वाले, सृष्टि-पालन-संहार करने वाले किंवा विश्व में सर्वाधिक देदीप्यमान एवं जगत् को शुभ कर्मों में प्रवृत्त करने वाले, हे परब्रह्म स्वरूप सविता देव! आप हमारे सम्पूर्ण आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक दुरितों बुराइयों को हमसे दूर करें किन्तु जो भला है—भद्र, उसे हमारे लिए, विश्व के सभी प्राणियों के लिए चारों ओर से लायें।

सूर्य संसार की आत्मा

सूर्य सौरमण्डल के ग्रह उपग्रहों आदि का पूर्णतया नियन्ता है। वही सौर मण्डल को ऊर्जा देता है। वही अपने आकर्षण से पृथिवी आदि ग्रहों को रोके हुए है। सूर्य की ऊर्जा से ही संसार के चराचर में गति, प्रगति, विकास और विलास है। सूर्य के द्वारा ही संसार को जीवनी शक्ति मिलती है, अतः सूर्य को जगत की आत्मा कहा गया है—

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। ऋग० 1. 1151/यजु० 7.42/अथर्व० 13.2.35

ऋग्वेद के एक मन्त्र में उल्लेख है कि 'नानासूर्याः' और 'सप्त आदित्याः' अर्थात् सूर्य अनेक हैं, सात सूर्य से अभिप्राय ज्ञात होता है कि सात सौरमण्डल है।

सप्त दिशो नानासूर्याः। देवा आदित्या ये सप्त। ऋग्० 1.114.3

अथर्ववेद का कथन है कि केन्द्रीय सूर्य कश्यप है। ये सात उसके अंग हैं। तैत्तिरीय आरण्यक 1.7.1 में इन सात सूर्यों के नाम दिए हैं-आरोग; भाज; पटर; पतंग; स्वर्णर; ज्योतिषीमान् और विभास।

कश्यप...........यस्मिन् अर्पिताः सप्तसाकम्। अथर्व 13.3.10

सूर्य की अनन्त ऊर्जा का आधार

अथर्ववेद में वर्णन है कि सूर्य की ऊर्जा का आधार सोम अर्थात् हाइड्रोजन है। सोम से सूर्य को शक्ति मिलती है—

सोमेन आदित्या बलिनः। अथर्व० 14. 1.2

यजुर्वेद में इसको दूसरे रूप में प्रस्तुत किया गया है। मन्त्र का कथन है कि सूर्य में निम्न दो तत्त्व मिलते हैं—

1. 'अपां रसम्' जल का सार भाग, जो ऊर्जा के रूप में है। 'उद्वयस्' शब्द ऊर्जारूप या गैसरूप अर्थ का बोधक है। जल का यह सार भाग हाइड्रोज़न है। हाइड्रोज़न के लिए 'अपां रसः' इस पारिभाषिक शब्द का प्रयोग किया गया है।

2. 'अपां रसस्य यो रसः' का अर्थ है - जल के सारभाग का सारभाग। जल का सारभाग हाइड्रोज़न है और उसका सारभाग हीलियम है। मन्त्र में हीलियम के लिए 'अपां रसस्य यो रसः' पारिभाषिक शब्द का प्रयोग किया गया है। मन्त्र में सूर्ये सन्तं समाहितम् के द्वारा स्पष्ट किया गया है कि ये दोनों तत्त्व सूर्य में विद्यमान हैं—

अपां रसम् उद्वयसं, सूर्ये सन्तं समाहितम्।

अपां रहसस्य यो रसस्तं वो गृह्णाम्युत्तमम्।। यजु० 9.3

आधुनिक विज्ञान के अनुसार सूर्य में 90 प्रतिशत हाइड्रोजन है, 8 प्रतिशत हीलियम और 2 प्रतिशत अन्य द्रव्य। सूर्य की सतह का तापमान 6 हज़ार डिग्री सेन्टीग्रेड है और अन्दर के हिस्से का तापमान लगभग 1 करोड़ 30 लाख डिग्री सेन्टीग्रेड है। इस आन्तरिक ताप के कारण हाइड्रोजन हीलियम के रूप में परिवर्तित हो जाता है, इसे **Thermo-nuclear Reactions** कहा जाता है। गैसों के इन रूपान्तरणों के कारण सूर्य को निरन्तर विशाल ऊर्जा प्राप्त होती रहती है। सूर्य को अपनी इस ऊर्जा के लिए प्रति सेकंड 50 लाख टन द्रव्यमान की आवश्यकात होती है।

सूर्य के चारों ओर विशाल गैस

ऋग्वेद में दीर्घतमस् ऋषि का कथन है कि मैंने योग-दृष्टि से देखा है कि सूर्य के चारों ओर दूर-दूर तक शक्तिशाली गैस (धूम) फैली हुई है। शक्तिशाली गैस के लिए 'शकमयं धूमम्' अर्थात् महाशक्तियुक्त धूम शब्द का प्रयोग है—

शकमयं धूमम् आराद् अपश्यम्, विषूवता पर एनावरेण। ऋग्० 1. 164. 43.

सूर्य में धब्बे—ऋग्वेद में वर्णन है कि सूर्यमण्डल में धब्बे है। मन्त्र का कथन है कि सूर्य-चक्षु, मण्डल-घेरा, रजस्-धूल, धब्बों से युक्त होकर विचरण करता है—

सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतम्। ऋग्० 1.164.14

सूर्य से ऊर्जा का दोहन

ऋग्वेद और यजुर्वेद में वर्णन है कि सूर्य से ऊर्जा का दोहन त्रित ने किया। इस त्रित में तीन देवता हैं- इन्द्र, गन्धर्व और वसु। इन्द्र ने ऊर्जा का सर्वप्रथम ज्ञान प्राप्त किया, गन्धर्वों ने इसका परीक्षण किया और वसुओं ने इसको मूर्तरूप दिया। वसु वे विद्वान हैं, जो भौतिक विज्ञान के विशेषज्ञ हैं। एक ने इसका ज्ञान प्राप्त किया, दूसरे ने परीक्षण द्वारा इसकी सत्ता प्रमाणित की और तीसरे वसु ने इसको मूर्तरूप देकर इसका प्रयोग किया। इस प्रकार और सूर्य के सफल अविष्कार का श्रेय त्रित-तीन की जोड़ी को है—इन्द्र, गन्धर्व और वसु—

त्रित एनम् आयुनक्, इन्द्र एणं प्रथमो अध्यतिष्ठत् ।

गन्धर्वो अस्य रशनाम् अगृह्णात्, सूरादश्वं वसवो निरतष्ट।। ऋग्० 1.163.2/यजु० 2.9

सौर ऊर्जा के आविष्कारक = वसिष्ठ और भरद्वाज ऋषि—ऋग्वेद का कथन है कि परमात्मा ने सूर्य में ऊर्जा का खजाना रखा है। एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि ऋषियों ने सूर्य से उस घर्म-ऊष्मा को निकाला। सौर ऊर्जा को निकालने का श्रेय वसिष्ठ, वसिष्ठ-पुत्रों एवं भरद्वाज ऋषि के वंशजों को है। ये सौर ऊर्जा जनन सम्बन्धी मन्त्रों के ऋषि हैं—

स शेवधिं नि दधिषे विवस्पति। ऋग्० 2. 13.6

आ सूर्याद् अभरन् धर्ममेते। ऋग्० 10. 181.3

सूर्य-तत्त्व का रहस्य

प्रश्नोपनिषत् के अनुसार सूर्य-तत्त्व को जानने वालों का कहना है कि असंख्य किरणों से युक्त प्रकाशमय तपता हुआ सूर्य विश्व के समस्त रूपों का केन्द्र है। सभी रूप, रंग और आकृतियाँ सूर्य से उत्पन्न और प्रकाशित होती है। सूर्य-सविता ही सबका उत्पत्ति स्थान है और सबकी जीवन ज्योति का मूल स्त्रोत है। सहस्त्रों किरणों वाला सूर्य संसार के सैकड़ों प्रकार के कार्यों का सम्पादन करता हुआ उदित होता है। जगत में उष्णता-गर्मी और प्रकाश फैलाना, ऋतुओं का परिवर्तन, सम्पूर्ण सृष्टि को जीवनदात्री ऊर्जा प्रदान करना आदि असंख्य कार्य सूर्य द्वारा ही सम्पन्न होते हैं।

सहस्त्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः।। प्रश्नोपनिषद् 1/8

सूर्योपनिषद् और सूर्यपुराण में भी सूर्य के असाधारण गुणस्वरूपों और कार्यों पर प्रकाश डालते हुए उन्हें भगवान् स्वीकार किया गया है।

सूर्यात् भवन्ति भूतानि सूर्येण पालितानि तु।

बृहद्देवता ग्रन्थ में आचार्य शौनक ने बतलाया है कि एक मात्र सूर्य से भूत, भविष्य और वर्तमान के समस्त स्थावर और जंगम पदार्थ उत्पन्न होते हैं और अन्त में उसी में लीन हो जाते है।

ज्योतिष् के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सूर्य-सिद्धान्त' में सूर्य को सब जगत् का आदि कारण होने से 'आदित्य' नाम

से स्मरण किया गया है। तत्त्ववेता ऋषियों ने उपनिषदों के माध्यम से यह भी बतलाया कि इस भूतल पर जो जल बरसता है उसकी उत्पत्ति भी सूर्य द्वारा होती है। अतः सबको जलरूप जीवन प्रदान करने वाला होने से वह सबका पिता है। इन ज्ञानी पुरुषों ने यह भी कहा कि सूर्य किरणों में लाल, नीले, पीले, हरे आदि सात रंग होते हैं। इन्हें ही सूर्य के रथ को वहन करने वाले सप्त-अश्वों की संज्ञा दी गई।

सूर्य की वर्ण-माला :

ऋषियों ने यह अनुभव किया कि सूर्य रश्मियाँ जाति और संख्या दोनों ही में अनन्त हैं। सबका सम्मिलित रूप - प्रभा एक होती है और शुक्लवर्ण की होती है। इस शुक्लवर्ण प्रभा या प्रकाश में प्रथम स्तर की लाल, पीली, नीली आदि रंग की किरणों का आविर्भाव होता है। दो या दो से अधिक किरणों के आपस में मिलने से अनेक उप-वर्णों की किरणे बनती हैं।

शुक्लवर्ण प्रकाश का विश्लेषण कर अलग-अलग वर्णों रंगों की किरणों को पहचान कर उनके विशिष्ट गुणों को भी ज्ञात किया गया। सूर्य रश्मियों के गहन अध्ययन की इस प्रक्रिया को 'सूर्य-विज्ञान' नाम दिया गया। प्राचीन काल में उच्च-कोटि के ऋषिगण इस विज्ञान से भली-भाँति परिचित थे और उचित अवसरों पर इसका प्रयोग किया भी करते थे।

सूर्य-विज्ञान के अनुसार जगत् के नाना प्रकार के पदार्थ सूर्य की विभिन्न रश्मियों से, मिश्रण-भेद से उत्पन्न होते हैं। अत्यन्त सूक्ष्म बीजरूप से ये पदार्थ किरणों में विद्यमान रहते हैं। जो व्यक्ति सूर्य की इन रश्मियों - वर्णमाला को भली-भाँति पहचान कर विभिन्न अनुपातों में मिश्रित करना सीख लेता है वह विभिन्न पदार्थों को अपनी इच्छानुसार बना सकता है। विभिन्न वस्तुओं की रचना के लिए अलग-अलग वर्णों की रश्मियों को एक विशिष्ट क्रम और अनुपात में मिलाया जाता है। जिस प्रकार वर्णमाला के विभिन्न अक्षरों को मिलाकर शब्द, पद और वाक्य बनते हैं इसी प्रकार विभिन्न वर्णों की रश्मियों के संयोजन से विभिन्न पदार्थ बनते हैं। रश्मियों की प्रकृति और वर्ण के गुण-धर्म से परिचित होने के साथ ही प्रयोगकर्त्ता को जिस वस्तु का निर्माण करना होता है उसकी रचना के अवयवों की भी पूरी जानकारी होना आवश्यक होता है। सूर्य का एक नाम सविता भी है। इसी आधार पर सूर्य-विज्ञान को 'सविता विद्या' भी कहा जाता है। यह विद्या बहुत रहस्यमय भी है। इस विद्या में सिद्धि प्राप्त योगी सूर्य-किरणों को इच्छानुसार किसी भी पदार्थ में परिवर्तित करने में समर्थ हो जाता है।

सूर्य-विज्ञानवेत्ता मनीषी :

आधुनिक युग में परमहंस योगिराज स्वामी विशुद्धानन्द जी ने इस विज्ञान के विषय में विशेष जानकारी दी और प्रयोग करके भी दिखलाया। स्वामी जी ने अनेक अवसरों पर विशिष्ट व्यक्तियों, देशी-विदेशी विद्वानों की उपस्थिति में सूर्य रश्मियों के मिश्रण से विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ - फूल-फल, मूंगा, मोती, हीरे तथा

और भी अनेक पदार्थ बनाकर प्रस्तुत किये थे।

परमहंस स्वामी विशुद्धानन्द जी ने सूर्य-विज्ञान की शिक्षा तिब्बत स्थित ज्ञानगंज के योगाश्रम में प्राप्त की थी। अनेक वर्षों तक उस आश्रम में रहकर अनवरत परिश्रम करके धैर्यपूर्वक साधना करते हुए वे विज्ञान और योग दोनों विधाओं में पारंगत हुए। परमहंस श्यामानन्द के निकट उन्होंने सूर्य-विज्ञान की शिक्षा प्राप्त की और परमहंस स्वामी भृगुराज जी ने उन्हें योग की शिक्षा दी थी।

महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज ने अपनी पुस्तक 'ज्ञानमंगल' में 'सूर्य-विज्ञान' की चर्चा करते हुए लिखा है–

विज्ञान की बात सुनकर कोई यह न समझे कि यह पाश्चात्य विज्ञान की तरह जड़ विज्ञान है। वास्तव में जड़ के नाम से जो कोई कहते हैं, वह भी एकान्त भाव से जड़ नहीं है। 'विशिष्ट ज्ञान' ही विज्ञान-शब्द का अर्थ है। तथाकथित जड़ और चेतन- दोनों ही विज्ञान के विषय हैं। सूर्य इसका केन्द्र स्वरूप और प्रधान आश्रय है, इसलिए सूर्य-विज्ञान कहा जाता है। शास्त्र में है कि एक ऐसा पदार्थ है जिसका ज्ञान-लाभ करने पर सर्वविषयक विज्ञान स्वतः उपलब्ध हो जाता है। श्रुति का यह अनुशासन ब्रह्मविज्ञान का अवलम्बन कर प्रवृत्त हुआ है। किन्तु इस विज्ञान का स्वरूप कैसा है, किस उपाय से उसका कार्य क्षेत्र में उपयोग किया जा सकता है, उन्होंने इसका विशेष रूप से अनुसंधान किया है, वे ही जानते हैं कि सूर्य ही सब प्रकार के विज्ञानों का मूल स्तम्भ है। सृष्टि, स्थिति, संहार- अर्थात् जागतिक व्यावहारिक सभी प्रकार सूर्य से ही प्रवृत्त हैं। केवल यही नहीं, सूर्य ही देवयान पक्ष का लक्ष्यस्वरूप है। इसे अगर मुक्तिद्वार कहते हुए वर्णन किया जाये तो कोई अत्युक्ति न होगी। विशुद्ध आत्मज्ञान- स्वरूपोलब्धि-करने के लिए सौरतत्त्व का आश्रय ग्रहण करना निश्चित रूप से आवश्यक है। सूक्ष्मरूप से आलोचना करने पर समझ में आता है कि विज्ञान भी एक प्रकार का महायोग है। अतः जिसकी व्याख्या योग के रूप में करते हैं, वह मूलतः विज्ञान के अलावा अन्य कुछ नहीं है केवल प्रणाली के भेद हैं। इसलिए साधक के लिए दोनों ही समभाव में आवश्यक है। योग मार्ग में विज्ञान और विज्ञान-मार्ग में योग परम सहायक है।

विशुद्धानन्द जी सूर्य-विज्ञान में इतने पारंगत थे कि वे विभिन्न पदार्थों को केवल नाम सुनकर आकर्षित कर उपलब्ध कराने में समर्थ थे। इसके बारे में उनसे पूछे जाने पर उन्होंने गोपीनाथ कविराज जी को बतलाया था कि अपने में आकर्षण करने की क्षमता हो और उपादानों का ज्ञान हो तो सूर्य-रश्मियों की विस्तार-सीमा में जो कुछ भी है उसे खींच कर लाया जा सकता है। बृहदाकार स्थूल वस्तु तक देश-देशान्तर से अल्प समय में लाकर उपस्थिति की जा सकती है।

इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। सूर्य-विज्ञान की वैज्ञानिकता असंदिग्ध है। यह उतना ही वैज्ञानिक है जितना कोई अन्य भौतिक विज्ञान। भौतिक विज्ञान की अपनी सीमाएं और क्षमताएं होती हैं, सूर्य-विज्ञान का क्षेत्र असीमित और विभु के समान व्यापक है। यह अवश्य है कि आधुनिक विज्ञान अभी तक उन सीमाओं तक पहुँच नहीं पाया है।

❐

सृष्टिविज्ञान का आधार प्रणव सङ्गीत

डॉ० किरण कुमारी *

सृष्टि प्रक्रिया में जीवन, जगत् एवं सङ्गीत तीनों की उत्पत्ति नाद से हुई है। नाद एक प्रकार का सङ्गीत ही है। यह दो अक्षरों के योग से बना है— ना+ द। अर्थात् 'न' नकार प्राणवाचक (वायुवाचक) तथा 'दकार' अग्नि-वाचक है, अतः जो वायु और अग्नि के योग सम्बन्ध से उत्पन्न होता है, उसी को नाद कहते हैं।[1] यह प्राण वाचक 'प्रणव ध्वनि' ही ओंकार है। सृष्टि के आदिकारण रूप कार्य की ध्वनि ही ओंकार है।

संस्कृत शब्द नाद का अर्थ है—ध्वनि। अथवा 'चेतना' का प्रवाह। नाद सतत सनातन सृजनात्मक ध्वनि है तथा यह आध्यात्मिक साधना का केन्द्र बिन्दु भी है। ध्वनि की तरङ्गें स्थूल, सूक्ष्म, बाहर से अन्दर, अकेन्द्रिय से कारण जगत् तथा उसके भी परे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में तरङ्गित होती हुई तन्त्र का स्वरूप निर्माण करती हैं।[2]

तत्त्वज्ञों की यह धारणा है कि जगत् या संसार गति का ही नामान्तर है—'गच्छतीति जगत्, संसरतीति संसारः'। विचार और वैज्ञानिक प्रयोगों से यह सिद्ध है कि इस गत्यात्मक जगत् में चाहे ज्ञान हो या ज्ञेय— दोनों गति ही है। गति और स्पन्दन परस्पर पर्याय है—यह स्पन्दन ही सृष्टि या सङ्गीत है—ज्ञान अथवा ज्ञेय समष्टि है। सृष्टि सादि या सान्त है अथवा अनादि और अनन्त—इस विकल्प और निर्णय में हम न भी पड़े— तब भी हमारा प्रकृत विचार अवरुद्ध नहीं होगा। हमारा समस्त प्रत्यय या ज्ञान इसी स्पन्दन की अभिव्यक्ति का प्रकार भेद है—वह ज्ञान चाहे आन्तरिक सुख-दुःख का हो या बाहरी शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का। ज्ञान है क्या? वस्तु का ज्ञानेन्द्रियों से सन्निकर्ष या तज्जन्य हलचल या धक्का, उसका धक्का स्नायु सूत्र-समूह को स्नायु सूत्र समूह का धक्का मस्तिष्क के अनुभूति केन्द्र गुच्छ-विशेष को। धक्कों के स्पन्दन का यह क्रम न चले, तो ज्ञानात्मक क्रिया हो ही न सके। निष्कर्ष यह कि धक्का या गति या स्पन्दन विशेष ही ज्ञान या प्रत्यय या सङ्गीत स्वर है।[3]

अब विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि सभी पदार्थ यहाँ तक कि ठोस तथा स्थिर दिखने वाले भी निरन्तर गतिशील हैं अतएव हर वस्तु तरङ्गावस्था में है। अतः इन ध्वनि तरङ्गों को अनुभव करना, उन्हें जानना,

---

* वरिष्ठ प्रवक्ता, संस्कुत विभाग, गंगा देवी महिला कालेज, कंकड़बाग, पटना, बिहार

उनका पता लगाना, उनका शक्तिकरण करना तथा उन पर नियन्त्रण स्थापित करना इत्यादि नाद का विषय है। अतः साधक के प्राण प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं जिससे उसके शरीर तथा मन में व्यवस्थित वाद्य यन्त्र की तरह नवीन सङ्गीत मुखरित होता है।

जहाँ तक ज्ञेयात्मक जगत् का सम्बन्ध है—यदि उसे देखा जाये तो हम पायेंगे कि कोई भी दृश्यमान ठोस वस्तु यदि चूर्ण-विचूर्ण हो जाती है, अन्ततः जिसे रासायनिक परमाणु कहते हैं उस तक पहुँच जाती है तो क्या उसे विराम का बिन्दु माना जा सकता है.........आपाततः ही यह विराम है, वस्तुतः नहीं। वास्तव में रासायनिक अणु परमाणु भी यौगिक द्रव्य है—उनकी गठन प्रणाली जटिल है। इलेक्ट्रॉन उनके भी सूक्ष्मतम उपादान है वे विद्यक्षु है। रासायनिक परमाणुओं की तुलना में विद्युत अणुओं के माप परिणाम कम है। वैज्ञानिकों ने इनकी गठन को इतने जटिलतम रूप में निरूपित किया है कि एक-एक अणु को सौर जगत् की गठन व्यवस्था से भी उपमित किया जाय तो अत्युक्ति नहीं। इतना ही नहीं कि अणु स्पन्दन है—इनका भीतरी जगत् भी हलचल से आक्रान्त है। विद्युत अणु की गति एक सेकेण्ड में प्रायः दो लाख मील है। उर्मिविज्ञान ने इसकी भी आन्तरिक बनावट को देखने का प्रयास किया है लेकिन क्या उसे गणित में बांधा जा सकता है निश्चित रूप दिया जा सकता है? विद्युत अणु चाहे ईश्वर के एक-एक आवर्त्त हों या विज्ञान के नूतन ढाँचे में कुछ और, है सारा उपादान गति[4]।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि समस्त ज्ञान ज्ञेयात्मक जगत् का गत्यात्मक स्पन्दन का मूल तत्त्व है, इन्हीं दोनों का 'समरस' रूप है, केवल एक अधूरा पक्ष है। परिस्थिति के बिना क्या गति' बोध्य है? भूत विज्ञान तो नहीं—पर आर्ष-विज्ञान या अध्यात्म विज्ञान मानता है कि कोई अचल अधिष्ठान भी है—'चल' या स्पन्दन का। मूल तत्त्व इन्हीं का समरस रूप है—एक उसका अधूरा पक्ष है।

यह स्पन्द या मूल स्पन्द ही ऋषियों द्वारा 'शब्द' या 'वाक्' या प्रणव 'ओ३म्' ध्वनि कहा गया है। धर्म साम्य देखकर लक्षक नाम देना पड़ता है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द में से शब्द ही एक ऐसा विषय है जिसमें सर्जन क्षमता भी है और स्पन्दनमयता का प्राचुर्य। ये दो विशेषताएं उस मूल शब्द में भी हैं—मूलतः उस स्पन्दनतत्त्व को भी 'शब्द' या 'वाक्' या 'प्रणव' संज्ञा दी जाती है। वही शब्द इस सृष्टि का मूल उपादान है। इसे हम सुन पायें या न सुन पायें—यह स्पन्दन पर शब्द है यदि सुन पायें तो अपर शब्द है। श्रवण शक्ति जितनी तीव्र होगी, वह उतनी ही सूक्ष्म शब्द को सुन पाएगा। इतना तो हम सब का अनुभव है कि मानव अपने श्रोत्रेन्द्रिय से स्पन्द की आवृति को एक निश्चित सीमा में ही ग्रहण कर सकता है—न उसके ऊपर जाने से और न ही उसके नीचे जाने से, पर यन्त्र की सहायता से हमारी ग्रहण शक्ति तीव्रतर हो जाती है। यह यन्त्र जितना ही अधिक शक्ति का होगा, हमारी श्रवण शक्ति सीमातीत शब्द को भी ग्रहण कर लेगी। अभिप्राय यह है कि शब्द स्थूल भी होता है और सूक्ष्म भी। पर ये दोनों प्रकार के शब्द विकृत हैं—शुद्ध शब्द नहीं। शुद्ध शब्द को हमारे शास्त्रों में तन्मात्र कहा गया है। प्रत्येक पदार्थ का आरम्भ शुद्ध शब्द या स्पन्दन ग्रहण होता है, यन्त्र सह कृत शब्द से सूक्ष्म किन्तु विकृत शब्द और सामान्य श्रवणेन्द्रिय से सामान्य या स्थूल विकृत शब्द का ग्रहण होता है। इन तीनों का मूलभूत जो स्पन्द या चाञ्चल्य है वह पर शब्द है—सामान्य स्पन्द है जो योगियों के लिए भी अगम्य है। साधक

अपने 'श्रवण' को निरतिशय स्तर तक ले जा सकते हैं, और पदार्थ मात्र के आरम्भ सूक्ष्मतम 'स्पन्द' को सुन सकते हैं और चाहें तो उस सूक्ष्मतम शब्द से सृष्टि भी कर सकते हैं। वास्तव में यह निरतिशय श्रवण सामर्थ्य ही प्रजापति है—जिसमें यह सामर्थ्य है उसका प्राजापत्य उद्‌बुद्ध है। शाप और वरदान इसी सामर्थ्य की अभिव्यक्ति है· ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति'—यही है। आरम्भिक स्पन्दन जिनकी पकड़ में है—वे कुछ भी सृष्ट कर सकते हैं—सृष्टि का प्रजापति यही 'तन्मात्र'[5] शब्द है।

सृष्टि कैसे हुई? किस प्रकार इसका प्रारम्भ हुआ? इन समस्याओं का समाधान हमें जिन धार्मिक पुस्तकों में मिलता है उनमें प्रायः शब्द या वाक् या प्रणव से सृष्टि का होना कहा गया है। वेद कहता है—वाग् वै विश्वा भुवनानि जज्ञे वाक् से ही समस्त सृष्टि की उत्पत्ति हुई है। परमात्मा ने 'भूः' ऐसा कहा और पृथिवी की सृष्टि हो गई। कुरान में कहा गया है कि अल्लाह ताला ने 'कुन' कहा और सृष्टि तैयार हो गई। बाइबिल में कहा है 'In the beginning there was the word and the word was with the God and God was the word'. अर्थात् आदि में केवल शब्द था और शब्द परमात्मा के साथ था। यूनानी चिन्तन में भी Logas की कुछ ऐसी ही धारणा है। इन सब उद्धरणों से स्पष्ट है कि सृष्टि का मूल शब्द है। पर कौन सा शब्द? वह जो वाग् यन्त्र से उच्चरित है?[6] और यही वाग् यन्त्र से उच्चरित ध्वनि ही प्रणव सङ्गीत है। ऐसा सङ्गीत जो नकार प्राणवाचक (वायु वाचक) तथा 'दकार' अग्नि वाचक है, जो वायु और अग्नि के योग (सम्बन्ध) से उत्पन्न होता है उसी को 'नाद' कहते हैं। सभी धर्मों में नादयोग का उल्लेख मिलता है। नादयोग का बौद्धिक विश्लेषण नहीं हो सकता, क्योंकि इसकी समूची प्रक्रिया आन्तरिक होती है। यह एक जीवन्त सिद्धान्त है जिससे सृष्टि के सभी आयाम प्राण तथा गति प्राप्त करते हैं। नाद सबके भीतर विद्यमान है, वह निर्जीव जगत् में भी व्याप्त है। मनुष्य होने के नाते हम इसका अनुभव करके इसमें प्रविष्ट हो सकते हैं।

संसार के सारे कार्य नाद से ही संचालित होते हैं, संसार नाद का ही स्वरूप है, नाद से ही यह उत्पन्न हुआ है। उसके समस्त कार्यों का स्रोत नाद ही होता है। आध्यात्मिक विकास की चरम सीमा पर पहुँचा हुआ व्यक्ति अपने ही नाद में डूबा रहता है तथा विश्व की समस्त दृश्य वस्तुओं को स्वयं से उत्पन्न मानता है। उद्विग्न मस्तिष्क वालों के लिए नाद एक आंधी-तूफान की तरह होता है। नादयोग के अभ्यास द्वारा इस व्यग्र नाद को एक जगह स्थिर कर उसे अन्तर्मुखी बनाया जा सकता है। इस प्रकार व्यक्ति की वर्तमान चेतना तथा उसकी उच्च आन्तरिक शक्तियों के बीच सामञ्जस्य स्थापित किया जा सकता है। इससे चेतना का धीरे-धीरे विकास होता है तथा उसका मन ध्वनि तरङ्गों में लगने लगता है। इस प्रकार व्यक्ति आन्तरिक बोध की क्षमता प्राप्त करता है। जो मन अब तक बाहरी वस्तुओं से आनन्द प्राप्त करता था, अब भीतरी वस्तुओं तथा अन्तर्मुखता से प्राप्त करने लगता है। इस प्रकार नादयोग के अभ्यास से मन के स्थूल आयाम वृक्ष के सूखे पत्तों की तरह गिर जाते हैं।

इस प्रकार सङ्गीत की उत्पत्ति भी नाद से होती है। सङ्गीत शब्द 'गीत' शब्द में 'सम्' उपसर्ग से बना है। सम् सहित और गीत अर्थात् गान। गान के सहित अङ्गभूत क्रियाओं 'नृत्य' व 'वादन' के साथ किया हुआ कार्य 'सङ्गीत' कहलाता है। सङ्गीत की उत्पत्ति जिस ध्वनि से होती है वह दो प्रकार का होता है—पहले को

'स्वर' और दूसरे को 'कोलाहल' (या रव) कहते हैं। जब कोई ध्वनि नियमित और आवर्त्त कम्पनों से मिलकर उत्पन्न होती है उसे 'स्वर' कहते हैं। इसके विपरीत जब कम्पन अनियमित तथा पेचीदे या मिश्रित हों तो उस ध्वनि को 'कोलाहल' कहते हैं। नियमित आन्दोलन संख्या ध्वनि या स्वर कहलाती है।[7] यही ध्वनि सङ्गीत के काम में आती है, जो कानों को मधुर लगती है तथा चित को प्रसन्न करती है। इसी ध्वनि को सङ्गीत की भाषा में 'नाद' कहते हैं। इस आधार पर सङ्गीतोपयोगी नाद 'स्वर' कहलाता है।

'ओ३म्' शब्द स्वर है, यह अक्षर अमृत और अभय है, यह प्रणव अक्षरमय है अर्थात् अ, उ और म्—ओंकार रूपी प्रणव होता है। इसके तीनों अक्षरों में तीनों गुण स्थूल, सूक्ष्म और कारणरूप त्रिजगत्, त्रिदेव आदि विद्यमान है। अतः सृष्टि के आदिकारण रूप कार्य की ध्वनि ही ओंकार है। 'प्रणव-ध्वनि' ही ओंकार है। प्रणव ध्वनि रूप ध्वन्यात्मक शब्द का रूप वर्णात्मक प्रतिशब्द होने के कारण शाब्दिक ओंकार अथवा शब्दातीत प्रणव दोनों ही पूर्वा पर सम्बन्ध से ईश्वरवाचक होकर प्रणव कहलाते हैं। प्रणव के ध्वन्यात्मक होने के कारण उसका कोई भी अङ्ग मुख से उच्चारण करने योग्य नहीं है, किन्तु मानसिक जप से परे केवल ध्यान की अवस्था में अन्तःकरण में ही प्रणव ध्वनि सुनाई दे सकती है। उसी ध्वन्यात्मक प्रकृति के आदिशब्द ईश्वरवाचक प्रणव का वर्णात्मक प्रतिशब्द उपासना काण्ड की सिद्धि के लिए बताया गया है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है—

वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः।

स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे।। श्वेता० 1/13

जैसे कि अरणि में रहती हुई भी अग्नि की मूर्ति नहीं दीखती है और न उसके सूक्ष्म रूप (जो अरणि में उस समय भी रहता है) का नाश है और वह (अरणिगत अग्नि) पुनः पुनः अधरारणि और उत्तरारणि में मन्थन दण्ड के घर्षण से ग्रहण की जाती है। इन दोनों बातों के समान आत्मा ओंकार के देह में ध्यान के पूर्व छिपा हुआ, ध्यानाभ्यास से ग्रहण किया जाता है। इसलिए—

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।

ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्यन्निगूढवत्।। श्वेता० 1/14

अपने देह को अधरारणि तथा 'ओ३म्' को उत्तरारणि बनाकर मन्थन दण्ड की रगड़ के अभ्यास से पुनः-पुनः मन्थन से छिपी हुई अग्नि के सदृश उस ज्योति को देखें, ऐसा कहा गया है।

ऐसे वेद-वेदाङ्गानुमोदित ओंकार को अमरता-अभयता-दातृत्व-महत्ता के कारण ही आगमों में भी इसका विस्तार से चिन्तन हुआ है। मानव की अन्तः प्रज्ञा एवं कल्पना का सीधा स्पर्श करने वाली 'प्रतीक विद्या' युगों की साधना, निरन्तर स्वाध्याय और यौगिक अन्वेषणों से अनुप्राणित है। महाशून्य में अविरत चल रही सृष्टि और प्रलय की विराट् क्रीड़ा के वैज्ञानिक सत्य का साक्षात्कार कराने की दृष्टि से ही भावना मूर्ति की सृष्टि हुई है। ओंकार की आकृति रूपा सृष्टि होने के पूर्व आगमों में अनेक विध चिन्तन प्रस्तुत हुए हैं।

प्राचीन सङ्गीत का विकास नादयोग साधना के सिद्धान्तों पर हुआ था। नाद की विभिन्न प्रकार की लहरें

चेतना के सभी स्तरों वाले व्यक्तियों के लिए समान रूप से अनुकूल नहीं होती। नाद की कुछ लहरें किन्हीं लोगों को बड़ी अरुचिकर लगती है जबकि कुछ लहरें दूसरों के लिए बड़ी आनन्दमयी होती हैं। इसी प्रकार कुछ लहरें दिन के विशिष्ट समय में मनभावन, तो किसी अन्य समय में अरुचिकर लगती है।

नादयोग के पांच आयाम होते हैं—भौतिक, प्राणिक, मानसिक, अतिमानसिक तथा अतीन्द्रिय। प्रत्येक आयाम का एक अपना तरङ्ग स्तर होता है। इसे जानने समझने की युक्ति भी अलग-अलग होती है। जैसे-जैसे मन शुद्ध तथा स्पष्ट होता जाता है उसकी बोध क्षमता भी सूक्ष्म होने लगती है।

जैसे-जैसे चक्र जागृत होते हैं, नादयोग में सूक्ष्म ध्वनियों का अनुभव होता है। उदाहरण के लिए मूलाधार में सम्भवतः स्थूल, आन्तरिक व बाह्य ध्वनि सूक्ष्म होती जाती है। अनाहत में बिना घात के उत्पन्न ध्वनि का अनुभव आध्यात्मिक यात्रा का प्रारम्भ है।

अभ्यास द्वारा यदि एक बार नाद की प्राप्ति तथा उसका अनुभव हो जाये तो स्वतः स्फूर्त रूप से साधक को मार्ग-दर्शन प्रदान करता रहता है। यह ऐसी वस्तु नहीं है जिसे आप किसी ऐसे व्यक्ति को दे सकें जिसकी उसमें कोई रुचि न हो। साधक के नाद के अनुभवों को गुरु को छोड़ कोई अन्य व्यक्ति नहीं समझ सकता। अतएव इन अनुभवों की चर्चा अन्य व्यक्तियों से नहीं करनी चाहिए। क्योंकि अनावश्यक चर्चा करने से बौद्धिक उलझने उत्पन्न हो जाती हैं।

पारम्परिक रूप से नादयोग के साधकों ने चक्रों के जागरण के साथ अपनी चेतना के स्तर को ऊपर उठाया तथा विभिन्न गुण धर्मों वाले नाद का अनुभव किया था। तत्पश्चात् यह अभ्यास बिन्दु पर जाकर समाप्त होता था। ऐसा कहा जाता है कि बिन्दु पर नाद ऐसा स्वरूप प्राप्त करता है जिसकी पकड़ तथा समझ मन के परे होती है।

वर्णक्रम (स्पैक्ट्रम) सात रङ्गों से बनता है। हमारे शरीर में भी सात प्रमुख चक्र होते हैं सङ्गीत में भी सात स्वर होते हैं। एक विशेष आवर्तन पर हमारे अवचेतन में ध्वनियाँ विशेष रङ्गों को उत्पन्न करती हैं।[8]

यह विशेष आवर्तन क्या है? इस विधि को स्पष्ट करते हुए स्वामी जी कहते हैं। सिद्धासन अथवा सिद्धयोनि आसन में बैठिये, आँखें बन्द रखिये, कोई तार वाला वाद्य लेकर सात स्वर निकालिए जैसे—स, रे, ग, म, प, ध, नि, सां। सां, नि, ध, प, म, ग, रे, स अथवा डो, रे, मी, फा, ला, टि, डो। डो, टि, ला, फा, मी, रे, डो आदि।

अब इन स्वरों को क्रम से मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्धि, बिन्दु तथा सहस्रार में संयुक्त कीजिए। इन स्वरों के साथ चेतना को चक्रों पर ऊपर नीचे घुमाइये। इसके बाद इन स्वरों को शरीर की अन्य चेतना के साथ घुमाइये। इन स्वरों के कम्पन स्नायुओं तथा नलिका विहीन ग्रन्थि संस्थान को शान्त करते हैं।[9]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सङ्गीत एक महाशक्ति है। सङ्गीत सामवेद है। सङ्गीत से आनन्द की प्राप्ति होती है और आनन्द ही ईश्वर है। सङ्गीत से ईश्वर के दर्शन होते हैं। इससे परब्रह्म से साक्षात्कार होता है जो

दुर्लभ है। सच्चे सन्त जनों का सङ्गीत से बहुत लगाव देखा गया है। साधक, उपासक जानते हैं कि सङ्गीत की क्या शक्ति है? हमारे साधु-सन्तों की सङ्गीत साधना का ही यह प्रभाव था कि कबीर, सूर, तुलसी, मीरा, तुकाराम, रैदास, नरसी मेहता, विद्यापति, टैगोर आदि ने अपना विशिष्ट स्थान भक्ति रस में डूबकर पाया।

गीता में श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा—वेदानां सामवेदोऽस्मि वेदों में मैं सामवेद हूँ। मुनिः औद्‌गात्रं सामभिश्चक्रे—व्यास जी ने साम से उद्‌गाता के कर्म की स्थापना की। सामगीतरतो ब्रह्मा—ब्रह्मा जी सामगीतरत है अर्थात् सामगान उन्हें अति प्रिय है।

सामगानाद्द्रुतं विष्णुः प्रसीदत्यमराधिपः।

न तथा यज्ञदानैः सत्यमेतन्महामुने।।[10]

अर्थात् हे महामुने, देवताओं के स्वामी विष्णु भगवान् सामगान द्वारा जितनी शीघ्रता से प्रसन्न होते हैं, वैसे यज्ञ दानादि द्वारा भी नहीं होते। सङ्गीत की शक्ति एवं सत्ता को सभी स्वीकारते हैं। सङ्गीत की उपासना क्रियात्मक है। तुरन्त फलदायक है। सङ्गीत ब्रह्म से साक्षात्कार कराता है। श्री आद्य शङ्कराचार्य ने कहा है—

नादानुसन्धान नमोऽस्तु तुभ्यं, त्वां साधनं तत्त्वपदस्य जाने।

भगवत्प्रसादात् पवनेन साकं, विलीयते विष्णु पदे मनो मे।।[11]

अर्थात् हे नादानुसन्धान! तुम्हें नमस्कार है क्योंकि मैं तत्त्वपद की प्राप्ति के लिए एक उत्तम साधन जान गया हूँ, तुम्हारे प्रसाद में मेरा मन, पवन प्राणों सहित, विष्णु पद (तत्त्व पद) में विलीन हो जाता है।

सङ्गीत मार्तण्ड पं० ओंकार नाथ ठाकुर ने कहा है—'सङ्गीत पृथिवी का विषय नहीं है, यह आकाशीय गुण है। मानव की उत्पत्ति बिन्दु से और विकास नाद (स्वर) से माना गया है। बिन्दु से भौतिक शरीर और नाद से मानवता अर्थात् आध्यात्मिक उत्थान का निर्माण होता है।'

ओलिवर लौं ने कहा है—'एटम शक्ति के विनाश को रोकने की शक्ति नाद में है। एक बूँद जल से सङ्गीत के स्वरों द्वारा एटम तोड़कर एक वर्ष तक न्यूयार्क को विद्युत शक्ति दी जा सकती है।'

सङ्गीत की महाशक्ति के कुछ उदाहरण हम इस प्रकार दे सकते हैं कि गाने की धुनों के साथ हाथ पैर अनायास ही गति करने लगते हैं अर्थात् सङ्गीत का मनुष्य के जीवन और आत्मा से सीधा सम्बन्ध है। केले और धान की खेती में सङ्गीत की स्वर लहरियाँ डाली जायें तो उनके वजन और उत्पादन क्षमता में वृद्धि होती देखी गयी है। अतः सङ्गीत की महाशक्ति का प्रभाव मनुष्य जीवन तक ही नहीं, वृक्ष और वनस्पति भी इससे प्रभावित होते हैं।

सङ्गीत की महाशक्ति का उपयोग रोगियों के इलाज के लिए भी किया जाता है। स्वर प्रवाह से आन्तरिक उल्लास में एक तरङ्ग श्रृंखला उत्पन्न होती है जो मनुष्य, पशु, पक्षी को उल्लसित कर स्वस्थ बनाती है।

अदृश्य जगत् की सूक्ष्म कार्य प्रणाली पर एक दिव्य ईश्वरीय सङ्गीत, झङ्कृत होता है। सङ्गीत से मनुष्य को परम शान्ति का अनुभव होता है। मन स्वस्थ होता है, जीवन अनुशासित होता है। थका हारा मन चेतना से स्फुरित हो जाता है। सङ्गीत से मनुष्य का आध्यात्मिक विकास होता है। सङ्गीत जीवन दायिनी शक्ति है।

सङ्गीत के प्रभाव से गायें अधिक दूध देती हैं। प्रसव पीड़ा कष्टमुक्त हो जाती है। अमेरिका के कई दन्त चिकित्सक एक विशिष्ट सङ्गीत लहरी, विद्युत् वाद्य यन्त्र से बनाकर दांत उखाड़ते हैं। सङ्गीत से पागलपन के रोगी भी अच्छे होते देखे गये हैं।

सङ्गीत से नाड़ी संस्थान में लहरें उठती हैं जिनसे प्रभावित होकर मन लहराने लगता है। सऽगायन से फेफड़े, मस्तिष्क व स्वर यन्त्र मजबूत होते हैं। सङ्गीत में स्फूर्ति, चैतन्यता और रोमाञ्च होता है। सङ्गीत से सर्प अपनी कुटिलता भूलकर मस्त हो जाता है। हॉलैंड में गायें दुहते समय मधुर सङ्गीत का उपयोग कर अधिक दूध प्राप्त किया जाता है।

सामसङ्गीत को सुनकर चर-अचर सभी निर्विकार और अचेतन स्थिति को पहुँच जाते हैं। सङ्गीत की शक्ति प्राणायाम है। सङ्गीत से शरीर के भीतरी अवयवों का व्यायाम होता है और आक्सीजन की वृद्धि भी होती है। सङ्गीत से दया, ममता, उदारता, प्रेम, करुणा, आत्मीयता, सेवाभाव और सौजन्यता का तेजी से विकास होता है। दुःखी आँखों में सङ्गीत प्रसन्नता की चमक पैदा कर देता है। भगवान विष्णु ने नारद से कहा था---

खगा भृङ्गा पतङ्गश्च कुरङ्गाद्यापि जन्तवः।
सर्व एव प्रगीयन्ते गीत व्याप्तदिगन्तरे।।[12]

हे नारद! पक्षी, भौंरे, पतङ्ग, हिरण आदि जीव जन्तुओं को भी सङ्गीत से प्रेम होता है। सङ्गीत से संसार का कोई भी स्थान रिक्त नहीं है।

सङ्गीत एक पराशक्ति है। सङ्गीत से मनुष्य की किसी भी भावना को उत्तेजित किया जा सकता है। सङ्गीत से समाज में व्यवस्था स्थापित की जा सकती है। भर्तृहरि ने कहा है—सङ्गीत और कला से विहीन मनुष्य बिना सींग-पूंछ के पशु के समान होता है।

चैतन्य सर्वभूतानां विवृतं जगदात्मना। नादो ब्रह्म तदानन्दमन्दिलीयमुपास्महे।।
नादोपासनया देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः। भवन्त्युपासिद्धनूनं यस्मादेते तदात्मकाः।।[13]

नाद ब्रह्म समस्त प्राणियों में चैतन्य और आनन्दमय है। उसकी उपासना करने से ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों की सम्मिलित उपासना हो जाती है। वे तीनों (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) नाद ब्रह्म के साथ बंधे हुए हैं।

अब तक सङ्गीत को मनोरंजन मात्र का साधन माना जाता रहा है, पर विज्ञान अब इस विश्वास पर उतर रहा है कि सङ्गीत एक बड़ा महत्त्वपूर्ण शक्ति केन्द्र है। यदि उस शक्ति का यथेष्ट अनुसन्धान एवं उपयोग किया जा सका तो अनेक आश्चर्यजनक रहस्य सामने आएंगे और उनका मानव जाति के कल्याण में भारी उपयोग किया जा सकेगा।

सङ्गीत एक महान् शक्ति और साधन है और ब्रह्म प्राप्ति उसकी सिद्धि। नाद बिन्दूपनिषद् के 42 से 45 मन्त्रों में बताया गया है कि भ्रमर जिस प्रकार फूलों का रस ग्रहण करता हुआ फूलों की गन्ध की अपेक्षा नहीं करता, उसी नाद में रुचि लेने वाला चित्त विषय-वासना में दुर्गन्ध की इच्छा नहीं रखता। यदि मन को हिरण

और तरङ्ग की संज्ञा दें तो यह नाद उस हिरण को बांधने और पकड़ने वाला जाल और तरङ्ग को साधने वाला तट ही माना जाएगा।[14] नाद ब्रह्म का अभिप्राय उस अनाहत ध्वनि से है जो प्रकृति और पुरुष के संयोग स्थल से निरन्तर प्रसृत और निनादित होती रहती है। ओंकार वही, स्वयंभू ब्रह्मनाद है।

इस प्रकार समस्त विश्व सङ्गीतमय है, सङ्गीत ही इसकी प्रेरणा और प्राणशक्ति है। यह तत्त्व इतना महत्त्वपूर्ण और शक्ति सम्पन्न है कि इसके उपयोग से हम अपने मृत्योन्मुख जीवन को अमरत्व की ओर अग्रसर कर सकते हैं। भगवान शिव ने मन को लय करने की अगणित साधनाओं में नादानुसन्धान को सबसे सरल और श्रेष्ठ बताया है। सङ्गीत ही ब्रह्म है, सङ्गीत शिव है, सङ्गीत शक्ति है और यह शक्ति परमात्मा की कृपा से ही सम्भव है।

गीता में कहा है—मुझमें मन को एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन ध्यान में लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रद्धा से युक्त होकर मुझ सगुण रूप परमेश्वर को भजते हैं, वे मुझको योगियों में अति उत्तम योगी मान्य हैं—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमाः मताः।।   12.2

सन्दर्भ सङ्केत :

1. सङ्गीत विशारद, पृ0 40
2. स्वामी सत्यानन्द सरस्वती, ईश्वर दर्शन, पृ0 164
3. शोध प्रभा (त्रैमासिक शोध पत्रिका), श्री लाल बहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली, 1995, पृ0 96
4. वही, पृ0 96
5. वही, पृ0 97
6. वही, पृ0 95
7. वसन्त, सङ्गीत विशारद, 1975, पृ0 36
8. स्वामी सत्यानन्द सरस्वती, ईश्वर दर्शन, पृ0 166
9. वही, पृ0 167।
10. लक्षचण्डी महायज्ञ स्मारिका, मातृ उद्‌बोधन आश्रम, पटना 1991, पृ0 236, सङ्गीताचार्य पं0 श्यामदास मिश्र
11. वही, पृ0 236
12. विष्णु पुराण
13. भर्तृहरि, वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड
14. नादबिन्दूपनिषद्, मन्त्र 42-45.

पहले भी बनते थे ध्वनि-रहित विमान

राजशेखर व्यास *

महर्षि भरद्वाजप्रणीत यन्त्रसर्वस्व ग्रन्थ में पूरा एक 'वैमानिक-प्रकरण' है। इसमें 8 अध्याय और 100 अधिकरण हैं, जिनमें 500 सूत्र हैं। इस पूरे प्रकरण में विमान-निर्माण का विधान है। सूत्रकार भरद्वाज ने विमानों की व्याख्या इस प्रकार की है—एक देश से दूसरे देश, एक द्वीप से दूसरे द्वीप तथा एक लोक से दूसरे लोक में जो आकाश में उड़कर जाता हो, उसे 'विमान' कहा जाता है—

देशादेशान्तरं तद्वद्द्वीपाद्द्वीपान्तरं तथा,
लोकाल्लोकान्तरं चापि योऽम्बरेगन्तुमर्हति।
स विमान इति प्रोक्तः खेटशास्त्रविदां वरैः।।

इसी प्रकार रामायण में जहाँ पुष्पक विमान की चर्चा हुई है, वहाँ महर्षि वाल्मीकि ने भी लिखा है—

यस्य तत् पुष्पकं नाम विमानं कामगं शुभम्।
वीर्यादावर्जितं भद्रे यानि विहायसम् ।।   अरण्यकाण्ड - 48/6

'युक्तिकल्पतरु' में भी विमान के विषय में यही कहा है—

व्योमयानं विमानं वा पूर्वमासीन्महीभजाम्।   यानप्रकरण 50

अमरकोशकार ने कहा है—

व्योमयानं विमानोऽस्त्रि।

गुरुकुल काँगड़ी के स्वामी ब्रह्ममुनिजी ने अनेक आचार्य प्रणीत ग्रन्थों के आधार पर एक 'बृहद् विमानशास्त्र' की रचना की है। उसमें उद्धृत प्रमाणों से भी यही प्रमाणित होता है कि आकाश में उड़ने वाले यान को ही 'विमान' कहा गया है। वैदिक साहित्य के अभिनव व्याख्याता और सूक्तों के रहस्यद्रष्टा महर्षि दयानन्द ने भी वैदिक-मन्त्रों में आकाश में उड़ने वाले विमानों की वेदादि भाष्य में चर्चा की है।

---

* कार्यक्रम उपनियन्त्रक, दूरदर्शन महानिदेशालय, दिल्ली

आर्ष ग्रन्थ 'गयाचिन्तामणि' नामक पुस्तक में मयूर आकृति वाले विमान एवं वाल्मीकि रामायण (सुन्दरकांड) में पुष्पक विमानों का जो जीवन्त विवरण मिलता है वह कपोल कल्पना नहीं है। ऋग्वेद (6:66:7) (1:116:34) (1:37:1) तथा यजुर्वेद (9:8) में अत्यन्त वेगवान् विमानों का विस्तार के साथ वैज्ञानिक वर्णन आया है।

ये सभी साक्ष्य इस बात को प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त हैं कि हमारा पुरातन विज्ञान अध्यात्म विज्ञान के साथ-साथ अत्यन्त विकसित स्थिति में था। हमारा दुर्भाग्य है कि इतनी समृद्ध धरोहर के स्वामी होकर भी हम आत्म विस्मृति में खो गये।

विमानों की आकाश-गति के कारण स्वर्गगामिता स्वीकार की गयी है। इसीलिए जन-साधारण, देवों की शोभा-यात्रा में जिस 'पालकी', ढोल आदि का उपयोग करते हैं, और जिसे लोग कन्धों पर उठाते हैं, उसका नाम 'विमान' शब्द से ज्ञापित करने लगे। इसी प्रकार किसी साधु-सन्त, आचार्य, महन्त की अर्थी को भी 'वैकुण्ठी' या 'विमान' कहते हैं, क्योंकि स्वर्ग-यात्रा का माध्यम मानकर ही आन्दोलित होने वाली वस्तु को 'विमान' कहने की परम्परा प्रचलित है। इस कारण पालकी को कहीं-कहीं 'विमान' कहा जाता है, (जबकि 'पालकी' स्वतन्त्र रूप से 'आन्दोलित' या 'शिविका' ही कही जाती है) तथापि विमान के अधर में चलने के कारण ही अधर में आन्दोलित होने वाली पालकी को उसका प्रतीक समझ लिया जाता है। वस्तुतः यह वायु-विहार करने वाले 'विमान' का ही प्रतीक है। अन्यथा 'पुष्पक विमान' को वायुविहारी होने के कारण 'पालकी' कहना कदापि सम्भव नहीं। ग्रन्थों में विमान को 'व्योम-विहारी' ही माना जाता है, यदि 'पालकी' का नाम 'विमान' होता, तो भरद्वाज, अगत्स्य, वाल्मीकि, भोज, विश्वकर्मा, छाया-पुरुष, ननु और भय आदि विमानवेत्ताओं ने व्योम-यान को विमान कहकर आकाशसञ्चारी यान्त्रिक-विद्या के साथ सम्बन्धित न किया होता। उसके अनुकरण पर अन्य यानों के जो नाम आदि रखे गये हों, वे 'अनुकरण-मात्र' है, वास्तविक नहीं।

कुछ समय पूर्व मैसूर में महर्षि भरद्वाजप्रणीत 'विमान-शास्त्र' नागरी लिपि में लिखित प्राप्त हुआ है, उसमें 'सुन्दर', 'शकुन' और 'रुक्म' नामक तीन वायुयानों के चित्र भी अंकित है। इस ग्रन्थ में आठ प्रकरण हैं तथा पाँच सौ सूत्रों में विमानों के निर्माण, प्रकार और विविध भेदों की जानकारी दी गयी है। साधारण विमानों के सिवाय ऐसे विमानों के निर्माण की विधियाँ भी बतायी गयी हैं, जो आग से जल न सकें, न काटे जा सकें, न टूट सकें। विमान के आन्तरिक भेद के 31 प्रकारों, तथा विमान में प्रकाश और उष्णता का शोषण हो सके, ऐसी 16 प्रकार की धातुओं का वर्णन किया गया है। कृत्रिम वर्षा कैसे की जाये, यह वर्णन भी रोचक है। यह पुस्तक प्राचीन विद्वानों की प्रज्ञा बुद्धि का एक चमत्कार ही है। जो लोग महर्षि वाल्मीकि के पुष्पक विमान आदि की चर्चा से सुपरिचित हैं, वे यह जानते हैं कि किसी आर्य-ग्रन्थ में अति-पुरातन काल में अंकित विमानों की बात केवल कपोल-कल्पना मात्र नहीं है। जिस युग में विमानों का अस्तित्व ही न हो, वहाँ ऐसी सहज कल्पना कैसे सम्भव हो सकती है?

वाल्मीकि ही नहीं, 11वीं शताब्दी में रचित 'कथा-सरित्सागर' में यातायात करने, व्यापार करने और

प्रियजन का अपहरण कर ले जाने तक का वर्णन है। यह नहीं कहा जा सकता कि भरद्वाज-प्रणीत विमान-शास्त्र में विमानों के निर्माण विधान में कहीं निःशब्द विमान के निर्माण का उल्लेख है या नहीं, किन्तु 'कथा-सरित्सागर' में शत्रुओं से सावधानी बरतने के लिए ऐसे शब्द (ध्वनि) रहित (निःस्वन) विमान की चर्चा अवश्य आयी है, जो आवाज नहीं करता था। कथा में लिखा है कि उज्जयिनी (वर्तमान उज्जैन) के एक कुशल कारीगर ने इस तरह के एक विमान का निर्माण किया था। यह निःशब्द विमान सैकड़ों मील की गति रखता था। कथा में यह वर्णन भी है कि कई विमान लोगों को किराए पर उतारते-चढ़ाते थे। इनकी विशेषता यह होती थीं कि वे पूरी तरह लकड़ी के कील-काँटों से ही बने होते थे।

'कथा-सरित्सागर' में यह वर्णन भी है कि काञ्ची नगर के कारीगरों ने ऐसे यन्त्र भी बनाये थे, जो कल दबाते ही आठ सौ योजन ऊपर उठ जाते थे। कोई 'प्राणधर' नाम का कारीगर राजा के डर से ऐसे ही यन्त्र से उड़कर 'काञ्ची' से भाग गया था और उसका भाई 'राज्यधर' भी अपने बनाये यन्त्र से दो सौ योजन ऊपर उड़कर देश से भाग निकला था। इसी कारीगर ने राजा नरवाहनदत्त को एक विमान बनाकर भेंट किया था, जो सागर पार कर 'कर्पूरसम्भव' नामक नगर में विमान के वेग को धीमा कर नीचे उतर पड़ा था। महाराज नन्दारदेव की पुत्री नन्दारवती को राजकुमार सुन्दरसेन विमान में लेकर अलकावती आ रहा आ, पर रास्ते में प्रबल वायु-वेग के कारण यह टूटकर गिर पड़ा था फिर भी सौभाग्य से ये बच निकले थे।

यद्यपि ये सन्दर्भ 'कथा-सरित्सागर' की कल्पित-कथा के हैं, किन्तु यह स्पष्ट है कि उस कथा-निर्माण काल में विमानों के निर्माण, उड़ान, ऊँचाई पर जाने, सशब्द और निःशब्द विमान आदि के ज्ञान से यह प्रतीत होता है कि उस समय यह विमान-विज्ञान सुपरिचित हो गया था।

'कथा-सरित्सागर' में विमान के निर्माता 'काञ्ची' और 'अवन्ती' के रहने वाले बताये गये हैं। मैसूर से प्राप्त मुनि भरद्वाजप्रणीत विमानशास्त्र दक्षिण भारत की इस जानकारी का समर्थन करता है। अवन्ती का साहित्य तो काल-चक्र में विनष्ट हो गया तथा हमारी असावधानी तथा उपेक्षा से गाड़ियों में भर-भरकर विदेशों में पहुँचा दिया गया है। रहा-सहा आज भी उपेक्षित है। परन्तु भरद्वाज का विमान-शास्त्र आज भी वैज्ञानिकों और उनकी प्रज्ञा को चुनौती देता है, जो अपने देश, अपने शास्त्र और विज्ञान का उपहास उड़ाने में ही ज्ञान मानते हैं।

जो विमानशास्त्र मैसूर में मिला है, बहुत वर्ष पूर्व नासिक के रा०सा० बझे नामक विद्वान् को वैसा ही एक खण्डित ग्रन्थ 'अगस्त्य-संहिता' नाम का उज्जैन से भी प्राप्त हुआ था। उसमें भी विमानों के निर्माण का विधान-सूत्र और 50 खण्डों का विवरण था। श्री बझेजी ने अपने 'शिल्पशास्त्र' ग्रन्थ में इसका उल्लेख करते हुए बतलाया है कि यह अपूर्ण ही मिला था। बझेजी ने क्षीरसागर-प्रकाशित यन्त्र शास्त्र में लिखा है कि भरद्वाज ने बिना तार के संदेश भिजवाने का विधान भी किया है। कुछ समय बाद 'विमानाधिकरण' के कुछ पृष्ठ बड़ोदरा की गायकवाड़ संस्कृत सीरीज को प्राप्त हुए थे। स्व० बझेजी को भी कुछ काल के पश्चात् भरद्वाज के विमान-सूत्र पर 'बोधानन्द यतीश्वर' की लिखी हुई टीका मिल गयी थी। उन्होंने इसकी चर्चा पूना

की बसन्त-व्याख्यानमाला में की थी। इसकी उक्त टीका के कुछ उदाहरण नागपुर के पी० डब्ल्यू० डी० के सेक्रेटरियट के श्री मो० ग० जोशी ने लिये थे। उन उद्धरणों की संगति भरद्वाज के 'विमानसूत्र' से लगती है। बौधायन टीका से यह भी ज्ञात होता है कि विमानशास्त्र पर भरद्वाज ने ही नहीं, अन्य कई विद्वानों ने भी ग्रन्थ रचना की थी। उन्होंने कुछ नामों की सूची भी दी है—जैसे वामननिर्मित 'विमानचन्द्रिका' शौनकनिर्मित 'व्योमयानतन्त्र' गर्ग का 'यन्त्रकल्प', वाचस्पति का 'यानबिन्दु', चाण्डायण की 'खेटयानप्रदीपिका', घुंडिनाथ का 'व्योमयानाङ्कप्रकाश' आदि। आज इनमें से कोई भी ग्रन्थ कहीं उपलब्ध नहीं है। इसी प्रकार भरद्वाज के ग्रन्थ पर लल्ल, नारायण, शैल, विश्वम्भर की टीकाएँ (वार्त्तिक) भी कहीं प्राप्त नहीं है। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि भारत में विमान निर्माण-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ लिखे गये थे। सम्भवतः ये सूत्रकाल की रचनाएँ थीं। श्री ग० वि० केतकरजी जैसे विद्वान् का कहना है कि जिस उज्जैन में 'अगस्त्यसंहिता' जैसे ग्रन्थ की उपलब्धि हुई, वह नगर अशोक तथा विक्रम काल में ज्ञान-विज्ञान की भूमि रहा है। आश्चर्य नहीं कि उस समय अवन्ती के विद्यापीठ में ये ग्रन्थ पाठ्यक्रम में पाठ्य पुस्तकों के रूप में रहे हों। आज भी आश्चर्य नहीं कि अवन्ती और उसके निकटवर्ती भागों में ऐसे अनेक ग्रन्थरत्न छिपे पड़े हों।

सन् 1927 में महाराजा धार के बन्धु महाराजा सेतुराम जी के तंजौर स्थित पुस्तकालय में मुझे 'अर्न्तग्रहयात्रा' नामक एक अद्भुत ग्रन्थ देखने का सुयोग्य मिला था, जिसमें एक ग्रह से दूसरे ग्रह में यात्रा करने का वर्णन था। अनन्तर अध्ययन की आवश्यकता होने पर, बहुत प्रयास करने के बाद भी वह पुस्तक धार नगर के प्रसादस्थ पुस्तकालय से उपलब्ध न हो सकी, पता नहीं इतनी महत्त्वपूर्ण पुस्तक कहाँ चली गयी। इच्छा है कि विमानशास्त्र आदि विषयों पर दुर्लभ जानकारी देने वाले ग्रन्थों का संग्रहण कर एक पुस्तकालय की स्थापना की जाए, जहाँ देश-विदेश के अध्येता छात्र आकर अपनी जिज्ञासा शान्त करें और प्राच्य भारतीय संस्कृति के ज्ञान-विज्ञान की गहनता पर गर्व का अनुभव करें।

वैदिककालीन रसायन विज्ञान

डॉ० विष्णु दत्त शर्मा *

विज्ञान एक विशिष्ट ज्ञान है जिसका तात्पर्य है तत्त्व और ज्ञान की खोज, यह कभी भी समाप्त न होने वाला मार्ग है क्योंकि जितना अधिक हम जान पाते हैं, उससे कहीं अधिक जानने को शेष रहता है। विज्ञान हमारे जीवन का अभिन्न अङ्ग बन गया है। इसके अभाव में हम प्रायः पंगु हैं। जन-जन में विज्ञान का प्रसार हमारी नागरिकता का महान् उत्तरदायित्व है।

आधुनिक विज्ञान समस्त विश्व का उपादान कारण प्रोटॉन, इलैक्ट्रॉन तथा न्यूट्रॉन नामक तीन प्रकार के तत्त्वों को मानता है। इसकी परिभाषा है कि प्रोटॉन तत्त्व आकर्षण शक्ति का पुंज है जबकि इसके विपरीत इलैक्ट्रॉन अपकर्षण-स्वरूप है। पहला अपनी ओर दूसरे को आकृष्ट करता है किन्तु दूसरा अपने को अपकर्षण (repulsion) में प्रवृत्त रखता है, इनको इसीलिए यथाक्रम धनावेशित और ऋणावेशित कहा जाता है। तीसरे तत्त्व न्यूट्रॉन में ये दोनों लक्षण नहीं होते। समस्त विश्व के मूल में ये ही पदार्थ हैं, इन्हीं से सब जगत् बना है। भारतीय दर्शन ने मूल तत्त्व-सत्, रजस्, तमस् माने हैं। समस्त जड़ जगत इन्हीं तत्त्वों से परिणाम होकर बना है। परिव्राजक कपिल ने इनका स्वरूप इस प्रकार बताया है कि सत् प्रीतिरूप है; प्रीति का अर्थ है दूसरे को अपनी ओर आकृष्ट करना। इसके विपरीत रजस् अप्रीतिरूप है, दूर हटने की प्रवृत्ति रखता है। तीसरा तमस् विषादरूप है, अर्थात् न प्रीतिरूप और न अप्रीतिरूप। मूल तत्त्व के विषय में ये दोनों (आधुनिक विज्ञान और भारतीय दर्शन) कितनी अधिक समान परिभाषा को प्रस्तुत करते हैं, यह ध्यान देने योग्य है। यह स्थिति मूलतत्त्व-विषयक जानकारी की सच्चाई को प्रकट करती है।

जिस प्रकार तीनों तत्त्वों (प्रोटॉन, इलैक्ट्रॉन, न्यूट्रॉन अथवा सत्, रजस्, तमस्) में उपस्थित विभिन्न संख्या अथवा मात्रा में मिश्रण, से पदार्थ बनता है उसी प्रकार इनके न्यूनाधिक गुणों के संमिश्रण से युग का निर्माण होता है। महाकवि तुलसीदास ने सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग आदि चार युग, सत्, रजस्, तमस् आदि तत्त्वों के न्यूनाधिक मिश्रण से निर्माण होना स्वीकारा है। प्रस्तुत है 'रामचरितमानस' में सन्तकवि द्वारा वर्णित विचार :

---

* वैज्ञानिक, वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसन्धान परिषद्, नई दिल्ली (भू०पू०)

सुद्ध सत्त्व समता बिग्याना। कृत प्रभाव प्रसन्न मन जाना।।

तामस बहुत रजोगुन थोरा। कलि प्रभाव विरोध चहुँ ओरा।। मानस, 7, 103 (1-3)

'अणु' की व्याख्या आदि काल में प्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक ऋषि कणाद् ने की थी। ईसा से पूर्व छठी शताब्दी में इस भारतीय आचार्य ने यह कल्पना की थी कि पदार्थ सूक्ष्म कणों से बने हैं जो और अधिक विभाजित नहीं हो सकते, उन्हें 'परमाणु' अर्थात् सूक्ष्म-अणु कहा गया। अतः किसी पदार्थ के सूक्ष्मतम और रासायनिक रूप में अविभाज्य कण, जिनसे अणु बनते हैं, परमाणु कहलाते हैं। कणाद ऋषि ने द्वयणुकों (di-atomic) तथा त्र्यणुकों (tri-atomic) की भी कल्पना की थी जो दो या तीन परमाणुओं के मिलने से बनते हैं। ईसा से पूर्व पांचवीं तथा चौथी शताब्दी में यूनान के आचार्यों एवं उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ब्रिटिश वैज्ञानिक सर डाल्टन ने भी ऐसे ही विचार व्यक्त किये थे। कणाद ऋषि का विचार था कि परमाणु अविनाशी हैं और इनका विखण्डन नहीं हो सकता। किन्तु आज कण अर्थात् अणु को भी कई परमाणुओं में विभाजित किया जा सकता है जिसका सूक्ष्म से सूक्ष्म भाग लव (particles) कहलाता है।

विज्ञान के अनुसार जब एक तत्त्व किसी दूसरे तत्त्व में परिवर्तित हो जाता है तो इस क्रिया को वैज्ञानिक भाषा में उत्परिवर्तन (transmutation) कहते हैं। सामान्यतः किसी पदार्थ के असंख्य परमाणु अपने स्वाभाविक गुणों द्वारा अणुओं (molecules) के छोटे-छोटे समूह बनाते रहते हैं और किसी विशिष्ट तत्त्व के प्रत्येक अणु में एक ही प्रकार के कई परमाणु होते हैं, किन्तु यौगिक या मिश्रित तत्त्वों में दो या अधिक प्रकार के भी परमाणु होते हैं। जो पदार्थ एक ही प्रकार के परमाणुओं से बने होते हैं उन्हें मौलिक पदार्थ अथवा रासायनिक तत्त्व (elementary substance) कहते हैं किन्तु इसके विपरीत जिन पदार्थों के अणु दो या अधिक तत्त्वों के परमाणुओं के योग से बनते हैं उन्हें '**यौगिक पदार्थ**' (compound substance) कहते हैं।

पदार्थों की संरचना एवं लाक्षणिक गुणों के कारण होने वाले परिवर्तनों, विश्लेषण तथा संश्लेषण के अध्ययन से संबंधित विषय को रसायन विज्ञान कहते हैं। ये परिवर्तन दो प्रकार के हैं—भौतिक तथा रासायनिक। भौतिक परिवर्तन में पदार्थ का रूप बदल जाता है किन्तु कुछ समय के पश्चात् वह अपनी वास्तविक स्थिति में आ जाता है। उदाहरणार्थ लोहे को चुम्बक पर रगड़ने से चुम्बक बन जाता है और भौतिक परिवर्तन के कारण फिर लोहा बना रहता है। पानी अपने हिमांक पर बर्फ हो जाता है किन्तु पिघलने पर फिर पानी का रूप ग्रहण कर लेता है।

हम प्रतिदिन अनेक प्रकार के परिवर्तन देखते हैं। यथा—दूध खट्टा हो जाता है, लोहे पर जंग लग जाता है, गन्ने का रस पड़ा रहने पर सिरका बन जाता है, इत्यादि। इन सब क्रियाओं में पदार्थ का स्वभाव बदल कर नये गुण वाले नये पदार्थ बनते हैं। ये परिवर्तन स्थायी हैं और इन्हें सरलता से उलटा नहीं जा सकता। ऐसे परिवर्तनों को रासायनिक परिवर्तन कहते हैं। विज्ञान की यह शाखा, जिसके अन्तर्गत हम रासायनिक परिवर्तनों का अध्ययन करते हैं, रसायन विज्ञान कहलाती है। विभिन्न पदार्थों की रचना और इसके गुणों का अध्ययन भी इसी में सम्मिलित है।

रसायन शास्त्र के नियमों के अनुसार पदार्थ के तत्त्वों में किसी भी परिवर्तन को जिसके द्वारा ठोस

पदार्थ को द्रव अथवा द्रव पदार्थ को गैस में बदल दिया जाता है और इस परिवर्तन में उस तत्त्व के अणु अपने मौलिक स्वरूप में उसी प्रकार बने रहते हैं, विज्ञान में इस परिवर्तन को **भौतिक परिवर्तन** (Physical change) कहते हैं। इस परिवर्तन में पदार्थ बाह्य स्वरूप, रङ्ग-रूप तथा गुण आदि बदल जाते हैं, किन्तु पदार्थ का आन्तरिक स्वरूप अथवा मौलिक अस्तित्व उसी प्रकार बना रहता है। उदाहरणार्थ बर्फ, जल और वाष्प के परस्पर परिवर्तन को 'भौतिक परिवर्तन' कहा जाएगा क्योंकि इस प्रक्रिया में आक्सीज़न तथा हाइड्रोज़न के अणुओं का अस्तित्व उसी प्रकार बना रहता है जो फिर घूम कर अपने मौलिक स्वरूप में वापस आ जाते हैं। इसके विपरीत जब किसी पदार्थ के अणुओं का विखंडन होकर एक तत्त्व किसी दूसरे तत्त्व में परिवर्तित हो जाता है (जैसे जल के अणु, हाइड्रोज़न और आक्सीज़न में बदल जाते हैं) और उसे सरलता से पुनः परिवर्तित नहीं किया जा सकता तो विज्ञान में उस क्रिया को **'रासायनिक परिवर्तन'** (Chemical change) कहते हैं। यह एक स्थायी परिवर्तन होता है जिसमें पदार्थ का आन्तरिक स्वरूप एक दूसरे तत्त्व में परिवर्तित होकर एक सर्वथा नई वस्तु का रूप ग्रहण कर लेता है।

अतः रसायन शास्त्र का सम्बन्ध केवल उन परिवर्तनों से है जब पदार्थ की आणविक संरचना बदलने पर जटिल होती है। वैदिक काल से ही भारत में रसायन शास्त्र एक साहित्यिक निधि रहा है जो अथर्ववेद के नाम से प्रख्यात है। प्राचीन हिन्दू साहित्य में निथारना, घोल बनाना, रवे तैयार करना, आसवन (distillation) तथा उर्ध्वपातन (sublimation) के विषय में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। महर्षि कणाद ने अपने ग्रन्थ 'वैशेषिकदर्शनम् में पदार्थों (द्रव्यों) का विभाग इस प्रकार किया है—

पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि।। 1.1.5

अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, जीवात्मा, परमात्मा और मन ये द्रव्य हैं। महर्षि कणाद् कहते हैं कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छः पदार्थों के परस्पर साधर्म्य और वैधर्म्य की जानकारी के साथ धर्म विशेष से उत्पन्न हुए तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

किसी पदार्थ में कितने गुण होते हैं, इसका सङ्कलन किसी विद्वान् ने निम्न श्लोक में किया है—

वायोर्नवैकादश तेजसो गुणाः, जलक्षितिप्राणभूतां चतुर्दश।

दिक्कालयोः पंच षडेव चाम्बरे, महेश्वरेऽष्टौ मनसस्तथैव च।।

अर्थात् वायु के नौ, तेज (अग्नि) के ग्यारह, जल, पृथिवी और जीवात्मा प्रत्येक के चौदह-चौदह, दिशा और काल के पाँच, आकाश के छः, परमात्मा के आठ और मन के आठ गुण माने गये हैं। इसे सरलता से समझने के लिए गुणों का क्रम इस प्रकार सामने रखना चाहिए—

गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व (सांसिद्धिक, नैमित्तिक), गुरुत्व, स्नेह, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार (भावना, वेग, स्थितिस्थापक), शब्द।

वायु के 9 गुण — स्पर्श से अपरत्व (समीप होना) तक आठ और नौवां 'वेग'

नामक संस्कार।

तेज के 11 गुण	—	रूप से द्रवत्व (नैमित्तिक) तक दस, और ग्यारहवाँ वेग नामक संस्कार।
जल, 14	—	रस से स्नेह तक तेरह और चौदहवां (वेग स्थित-स्थापक नामक) संस्कार।
पृथिवी, 14	—	गन्ध से गुरुत्व तक तेरह और चौदहवां संस्कार (वेग, स्थितिस्थापक दोनों)।
		मध्यगत द्रवत्व नैमित्तिक है।
जीवात्मा, 14	—	संख्या से विभाग तक पांच, बुद्धि से संस्कार (भावना नामक) तक नौ।
दिशा, 5	—	संख्या से विभाग तक।
काल, 5	—	संख्या से विभाग तक।
आकाश, 6	—	संख्या से विभाग तक पांच, छठा शब्द।
परमात्मा, 8	—	संख्या से विभाग तक पांच; बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न—ये तीन।
मन, 8	—	संख्या से अपरत्व तक सात, आठवां संस्कार (वेग नामक)।

कौन-सा गुण किन पदार्थों (द्रव्यों) में रहता है, गुणों के क्रम से यह इस प्रकार है—

गन्ध	—	केवल पृथिवी में।
रस	—	पृथिवी और जल में।
रूप	—	पृथिवी, जल और तेज (अग्नि) में।
स्पर्श	—	पृथिवी, जल, अग्नि, वायु में।
संख्या से विभाग तक	—	सब पदार्थों में।
परत्व, अपरत्व	—	विभु द्रव्यों को छोड़ कर शेष सब में।
द्रवत्व	—	जल में (सांसिद्धिक), पृथिवी, तेज में (नैमित्तिक)
गुरुत्व	—	पृथिवी, जल में।
स्नेह	—	केवल जल में।
बुद्धि से संस्कार (भावना तक)	—	जीवात्मा में।
बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न	—	जीवात्मा, परमात्मा दोनों में।
वेग संस्कार	—	विभु द्रव्यों को छोड़कर शेष सब में।

स्थितिस्थापक — केवल पृथिवी में।

शब्द — आकाश में।

इसका पूर्ण विश्लेषण वैशेषिकदर्शनम् 1.1.6 में ध्यातव्य है।

पुरातन काल में रसायन विज्ञान को कीमिया (alchemy) कहते थे। उस समय ध्येय केवल पारस पत्थर बनाना, सार्वजनिक विलायक (universal solvent) तैयार करना तथा अमृत (elixir of life) की खोज करना था। प्राचीनकाल में हमारे पूर्वज अयस्कों (ores) से धातुओं को निकालने, औषधि तथा रङ्ग बनाने एवं किण्वन (fermentation) की विधियां जानते थे। महरौली (दिल्ली) में कुतुब मीनार के पास जो अशोक का लौह स्तम्भ है, वह धातु विज्ञान में उनकी कुशलता का प्रमाण है। आर्यों का सोमरस तथा द्रविड़ों की ताड़ी निश्चय ही किण्वित द्रव्य थे। द्रव्य सूक्ष्म व अपरिवर्तनशील कणों अर्थात् परमाणुओं से बना है। यही हमारा आधुनिक सिद्धान्त है। सुश्रुत, चरक, वाग्भट्ट आदि के लेखों से उस युग में आयुर्वेद के सम्बन्ध में हमारी कुशलता का परिचय मिलता है। प्रसिद्ध भारतीय रसायनज्ञ नागार्जुन (100 ई० पू०) ने पारे से अनेक उपयोगी औषधियाँ तैयार कीं जिनका वर्णन उन्होंने अपने ग्रन्थ 'रस रत्नाकर' में किया।

प्राचीन काल से ही भारत रङ्गों (Dyes) के निर्माण तथा रङ्गाई के लिए प्रसिद्ध रहा है। मोहनजोदड़ो में मंजीठ से रङ्गे हुए सूती कपड़े के अवशेष मिले हैं। अजन्ता की गुफाओं की चित्रकारी अपने विविध रङ्गों के लिए प्रसिद्ध है। मुगलकाल में मेहँदी आदि कई रङ्गों का प्रयोग आरम्भ हुआ। नील, मंजीठ आदि के कुछ भारतीय रङ्गों की सम्पूर्ण विश्व में ख्याति थी। अट्ठारहवीं शताब्दी में रङ्गों के निर्माण के लिए दर्जनों वनस्पतियों का उपयोग होता था, जैसे—खैर, रीठा, सेमल, ढाक, अमलताश, हल्दी, मंजीठ, मेहंदी, नील आदि। लाख का भी पर्याप्त उपयोग होता था। कुछ खनिजों से भी रङ्ग तैयार किये जाते थे। इन वस्तुओं से रङ्ग तैयार करने की विधियाँ परम्परागत थी, श्रमसाध्य थीं। नील के पौधों के पत्तों से रङ्ग तैयार करने की विधि काफी जटिल थी। अलग-अलग रङ्गों के लिए अलग-अलग रङ्ग-स्थापकों का प्रयोग होता था। सूती, रेशमी, ऊनी और छींट के वस्त्रों की रङ्गाई की तकनीक काफी उन्नत थी। यूरोप में पहली बार 1856 ई० में कोलतार से कृत्रिम रङ्ग बनाया गया। यूरोप के सौदागर इन कृत्रिम रङ्गों को भारत में लाए और इनका प्रचार किया। तब से भारतीय रङ्गों का आकर्षण घटता गया और भारतीय रङ्गों के उद्योग नष्ट हो गये।

प्राचीन भारत में धातुकर्म अत्यधिक उन्नत अवस्था में था। मोहनजोदड़ो से मिली 'नर्तकी बाला' की साढ़े दस से०मी० ऊँची कांस्यमूर्ति 'मधुच्छिष्ट विधि' (मोम के साँचे में पिघली धातु डालकर मूर्ति बनाने की विधि) में ढाली गई है। मौर्यकाल में धातुकर्म का और अधिक विकास हुआ। वास्तव में, मगध में भारत के प्रथम साम्राज्य की स्थापना लौहकर्म के बल पर ही हुई थी। भारतीय धातुकर्मकार उत्तम किस्म का इस्पात तैयार करते थे। गुप्तकालीन धातुकर्म की श्रेष्ठता के कई प्रमाण आज भी उपलब्ध हैं। 1864 ई० में एक अंग्रेज़ को सुलतानगंज में साढ़े सात फुट ऊंची लगभग एक टन भार की एक बुद्ध प्रतिमा मिली थी। कुतुबमीनार के पास लगभग 1600 वर्ष प्राचीन अद्भुत लौह स्तम्भ की जानकारी सभी को है किन्तु आश्चर्य कि इसकी लम्बाई तथा रासायनिक मिश्रण से आज भी वैज्ञानिक अनभिज्ञ हैं। इस पर तत्कालीन ब्राह्मी लिपि में छः

पंक्तियों का एक लेख भी खुदा हुआ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन काल से ही रासायनिक पदार्थों, रङ्गों तथा धातुओं आदि का उपयोग होता रहा है और इनका वर्णन वेदों में बहुतायत से किया गया है। स्वर्ण, रजत, ताम्र तथा लौह का उपयोग औषधियों में प्रचुर मात्रा में किया जाता था। लौह को 'कृष्णायस' अथवा कृष्ण धातु, ताम्र को 'लोहितायस' अथवा लाल धातु, स्वर्ण को हरित अथवा पीली धातु तथा चाँदी को रजत अथवा श्वेत धातु नाम से पुकारा जाता था। इन धातुओं के अनेक प्रसंग यजुर्वेद (18, 13), अथर्ववेद (11, 3, 7) तथा अथर्ववेद (5, 28, 1) आदि स्थलों पर द्रष्टव्य हैं :

नव प्राणान्नवभिः सं मिमीते दीर्घायुत्वाय शतशारदाय।

हरिते त्रीणि रजते त्रीणि अयसि त्रीणि तपसाविष्ठितानि।। अथर्ववेद, 5, 28, 1

इतना ही नहीं, धातुकर्म के क्षेत्र में वैदिक कालीन वैज्ञानिकों को इन्हें शुद्ध करने की विधि भी ज्ञात थी। उदाहरणार्थ, स्वर्ण को सुहागे से, चाँदी को स्वर्ण से, टिन को चाँदी से, सीसे को टिन से, लौह को सीसे से तथा लकड़ी को लौह अथवा चर्म से शोधित किया जाता था :

तद्यथा लवणेन सुवर्ण सं दध्यात् सुवर्णेन।

रजतं रजतेन त्रपु त्रपुणा सीसं सीसेन लोहं लोहेन दारु चर्मणा।।

छान्दोग्योपनिषद्, 4/17/7

धातुओं को चूर्ण बनाने की विधि हमारे ऋषि वैज्ञानिक जानते थे। इस विधि के अन्तर्गत रक्त तप्त (Red Hot) धातु को मट्ठा (Butter Milk), काँजी (Sour Gruel), तिल के बीज (Sesamum) तथा गोमूत्र आदि में बुझाया जाता है। तत्पश्चात् वास्तविक धातु का रूप समाप्त होकर चूर्ण रूप में बदल जाता है, इस उत्पाद को भस्म कहते हैं। इस भस्म के भौतिक परीक्षण के साथ-साथ वर्ण-परीक्षण (Colour Test) भी किये जाते थे जिनके परिणाम इस प्रकार पुष्ट होते थे :

स्वर्ण—चम्पक पुष्प के समान
रजत—कृष्ण
ताम्र—कृष्ण
काँसा—मेंढक जैसा हल्का नीला रङ्ग
सीसा—कबूतर जैसा रङ्ग
टिन—सफेद
लोहा—जामुनी

वैदिक काल के प्राचीनतम ग्रन्थ अथर्ववेद में रसायन सम्बन्धी विवरण उपलब्ध है। इस साहित्य में छानना, निथारना, घोल बनाना, क्रिस्टल बनाना, आसवन तथा ऊर्ध्वपातन (Sublimation) आदि अनेक विधियों का विस्तृत विवरण पढ़ने को मिलता है। आधुनिक विज्ञान ने इन तकनीकों का विकास सत्तरहवीं

शताब्दी के पश्चात् किया है। धातुओं में सर्वप्रथम खोज आर्सेनिक की 1250 ई० में एलबर्तुस मैगनस ने की थी और तदुपरान्त 1669 ई० में हैनिग ब्राण्ड ने फास्फोरस को खोज निकाला, शेष अधिकतर रासायनिक तत्त्व अट्ठारहवीं शताब्दी के पश्चात् ही खोजे गये। कैसी विडम्बना है कि आज आभासित होता है, जैसे सभी तत्त्वों की खोज पश्चात्य विद्वानों ने ही की है, भारतीय प्राचीन वैज्ञानिकों का नाम तक मिटा दिया गया। यदि आधुनिक वैज्ञानिक यूरोपीय विज्ञान को अधिक समृद्धिशाली मानते हैं तो गंधक, लोहा, चाँदी, टिन, एण्टीमनी, स्वर्ण, पारद तथा सीसा के खोजकर्त्ताओं के नाम बताएँ। यह तथ्य है कि इस विषय पर आज का विज्ञान मूक है क्योंकि इनकी खोज भारत में हुई थी। बौद्ध सिद्ध नागार्जुन अपने रसायन विज्ञान के द्वारा पारद से सोना बनाने की कला में सिद्धहस्त थे। ये कई प्रकार से स्वर्ण बना सकते थे। नागार्जुन द्वारा लिखित 'रत्नाकर' नामक ग्रन्थ में ये उल्लेख प्राप्त हैं। इसी प्रकार लौह-शास्त्र की रचना भी इन्हीं के द्वारा हुई।

प्राचीन भारत का विज्ञान इतना विकसित था कि उपर्युक्त धातुओं के गुण-अवगुणों के पूर्ण विश्लेषण तत्कालीन महर्षियों ने पहले ही बता दिये थे। उदाहरणार्थ, स्वर्ण धातु को आयुवर्धक, स्वास्थ्यवर्धक, शक्तिदायक, स्फूर्तिदायक कहा गया है। अथर्ववेद की निम्नांकित पंक्तियाँ ध्यातव्य हैं :

आयुषेत्वा वर्चसे त्वौजसे च बलाय च।
यथा हिरण्यतेजसा विभासासि जनाँ अनु।। अथर्ववेद, 19, 26, 3

इस धातु से वरुण, बृहस्पति, वृत्र-संहारक इन्द्र आदि सभी भिज्ञ थे। प्रस्तुत है अथर्ववेद का एक अन्य उदाहरण :

यद् वेद राजा वरुणो वेद देवो बृहस्पतिः।
इन्द्रो यद् वृत्रहा वेद तत् ते आयुष्यं भुवत।
तत् ते वर्चस्यं भुवत्।। अथर्ववेद 19, 26, 4

प्राचीन भारत में मकरध्वज-निर्माण एक ऐसी कला थी जो आज भी लोकप्रिय एवं लाभप्रद है। इसकी निर्माण-विधि में स्वर्ण का एक भाग जब पारे के आठ भाग से मिश्रित किया गया तो एक समरूप (Uniform) लेप तैयार हो गया। इसमें सोलह भाग गन्धक मिलाकर चूना (Mortar) के साथ खरल (Triturated) किया गया तो फलस्वरूप एक काला पदार्थ तैयार हो गया। गर्म करने पर गन्धक हवा में उड़ गया और शेष मर्करी सल्फाइड बच गया जो ऊर्ध्वपातन के पश्चात् गहरे लाल रङ्ग का पदार्थ मकरध्वज बना।

स्वर्ण के अतिरिक्त भारतीय प्राचीन ग्रन्थों में चाँदी की भी बहुत उपयोगिता बताई गई है। 'रसेन्द्र चिन्तामणि' ग्रन्थ में लिखा है कि यदि चाँदी को समान भार गन्धक के साथ भस्म किया जाता है तो वह सौ गुणा इष्ट फलोत्पादक हो जाती है। शुद्ध गन्धक के दो भाग और चाँदी का एक भाग लेकर यदि भस्म तैयार की जाए तो यह कुष्ठ रोग में गुणकारी है। चाँदी से तीन गुनी गन्धक के चार भाग के साथ भस्म बनाया जाए तो यह उत्पादक सफेद बाल एवं झुर्रियाँ (Wrinkles) दूर करने में लाभप्रद है। चाँदी से पाँच गुना गन्धक के साथ बनी भस्म कमजोरी, क्षीणता, क्षयता आदि को समाप्त करती हैं। चाँदी के भार में छः गुना गन्धक लेकर

भस्म बनाने और प्रयोग करने पर यह सभी प्रकार के रोगों को समूल नष्ट करती है।

धातुकर्म (Metallurgy) के विषय में अधिकतर कार्य वाग्भट्ट ने किया जिसका वर्णन 'रसेन्द्र सार-संग्रह' नामक पुस्तक में पूर्णरूपेण है। प्राचीन काल में पारद (Mercury) विषयक एक पृथक विज्ञान का विकास हुआ। वराहमिहिर (587 ई०) ने पारद एवं लौह को स्वास्थ्यवर्धक तथा शक्तिप्रद कहा है। उस काल में धातुओं के विश्लेषण ज्वाला-परीक्षण (Flame test) द्वारा किये जाते थे। सुश्रुत साहित्य में कास्टिक-क्षार, आर्सेनिक ऑक्साइड आदि का भी वर्णन मिलता है। कज्जलि (Sulphide of Mercury), ताम्र भस्म, लौह भस्म, धातुओं को रङ्गयुक्त करना, कैलामाइन (Calamine) से जस्ता (जिंक) निष्कर्षण आदि का पूर्णरूपेण विवरण 'वृन्द' के सिद्ध योग नामक ग्रन्थ में उपलब्ध है। प्राचीन भारत में बारूद बनाने की विधि भी बतलाई गई है जिसका वर्णन शुक्र नीति के अनुच्छेद 201 तथा 202 में दिया गया है।

प्राचीन काल से ही भारत वस्त्र-निर्माण के विषय में विश्व का अग्रणी देश रहा है। दूसरे देशों को निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में वस्त्रों का प्रमुख स्थान था। ईसा की आरम्भिक सदियों में रोम में भारतीय वस्त्रों की बड़ी माँग थी। प्रमुख रूप से विदेशों को वस्त्रों का निर्यात करके प्राचीन भारत सोने और चाँदी के मामले में समृद्ध हुआ था। ढाका की मलमल सारी दुनिया में प्रसिद्ध थी। यह मलमल इतनी महीन होती थी कि इसका बीस गज लंबा थान सिंगार के एक बक्स (8" x 4" x 1") में समा सकता था। अट्ठारहवीं शताब्दी के मध्यकाल तक इंग्लैण्ड में वस्त्र-निर्माण में जिन उपकरणों का प्रयोग होता था, वे भारतीय उपकरणों से उत्कृष्ट नहीं थे।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत में विज्ञान, वैज्ञानिक पद्धति, वैज्ञानिक दृष्टिकोण असाधारण रूप से विकसित था किन्तु विडम्बना यही रही कि भारतीय ही उसको विस्मृत करते गये और विदेशियों ने भी इसकी ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। इसी कारण विज्ञान के क्षेत्र में भारतीयों के योगदान का समुचित मूल्यांकन हो ही नहीं पाया है। आज के वैज्ञानिक युग में विज्ञान की महानतम उपलब्धियों और वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर जो गर्व करते हैं और जिन्हें पश्चिम के वैज्ञानिकों की ही देन माना जाता है, यदि वे प्राचीन भारत के वैज्ञानिकों और उनके सिद्धान्तों का समुचित रूप से अध्ययन करें तो उपर्युक्त धारणाएं परिवर्तित हो सकती हैं। भारतीय संस्कृति में वैज्ञानिक दृष्टिकोण, वैज्ञानिक पद्धति और विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में जो उपलब्धियाँ हुई थीं वे वस्तुतः असाधारण थीं, केवल उनका विश्लेषणात्मक अध्ययन नहीं हो पाया है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि यदि भारतवर्ष के प्राचीन साहित्य का समुचित रूप से विश्लेषणात्मक अध्ययन किया जाए तो स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में विज्ञान एक विकसित स्थिति में था। सभी प्राचीन ग्रन्थों में वेदों से लेकर गुप्त काल (400 वर्ष ई० पू०) तक प्रकृति के रहस्यों के वैज्ञानिक विश्लेषण, वैज्ञानिक आधार तथा वैज्ञानिक व्याख्याएँ उपलब्ध हैं।

❐

Indian Contribution to the World of Chemistry

Dr. Prasun Kumar Mishra *

Indian chemistry and chemical technology, the important component of theoretical and experimental technology was cultivated in all parts of India from the ancient time or Vedic period. The later literatures flash out such kind of works. In fact India was considered to be the industrial workshop of the world till the end of the 18th century. Everyone is familiar with the chemical excellence of cast iron produced in ancient and medieval India. The temparing of steel was brought to perfection in India which was completely unknown to Europe. Alexander received a precious gift of 30 pounds of not gold; but of steel from the Indian King. India was the leader of several chemical and pharmaceutical industries including dying, lenning, soap making, glass and ceramics, cement and metallurgy. Indians were far ahead of European experts in several technologies involving melting, smelting, casting, calcination, sublimation, steaming, fixation and fermentation. There were experts in preparation of a variety of metallic salts, compounds and alloys, pharmaceutical preparations, perfumery as well as consmetics. It is appropriate to mention that it were the Muslims, who took much of the Indian chemistry, medicine, astronomy and mathematics and other branches of science and technology to near west and then to Europe. It is well established that the secret of manufacturing of Damascus-steel was taken by the Arabs from Persians and the Persions from India.

The Indian manufacture and trade both in the local and world market were in a flourishing condition until the end of 18th century. European nations began seriously entering all the above mentioned domains with the help of modern chemistry and scientific knowledge and even surpassed the native achievements. The colonial powers completely eclipsed and eliminated the local talents of the native craftsmen. Thus India lost much, which it had

* **Bureau Chief, Dainik Jagaran, Bhagalpur, Bihar**

treasured so successfully for several centuries. An attempt is made in this presentation to sketch out Indian tradition with the help of three important sources viz. archeaology, literature and surviving traditions.

Archeaological excavations at MOHENJODARO in SINDH (now in Pakistan) and HARAPPA in Punjab (also in Pakistan) have shown that the people of INDUS VALLEY civilization (2500-1800 B.C.) were skilled in pottery, glass and enamels. They were also extracting metals from natural ores for making utensils, instruments and weapons.

The earliest references to the use of such materials by human beings are found in the Vedic hymns, which are the oldest recorded literature in the world.

"I want Stone, Clay, Hills, Mountains, Sands, Trees, Gold, Silver, Copper, Lead, Tin and Iron." **अश्मा च मे मृत्तिका च मे, गिरयश्च मे पर्वताश्च मे सिकताश्च मे वनस्पतयश्च मे हिरण्यं च मेऽयश्च मे सीसं च मे त्रपुश्च च मे श्यामं च मे लोहं च मे....।** कृष्ण यजु० 4-7-5

'It is obvious that the technology of extracting these six metals was known and that there were professional experts who were smiths, potters, carpenters and chariot builders.

"Homage to you carpenters, makers of chariots, potters and smiths."

नमस्तक्षेभ्यो रथकारेभ्यो वो नमः।

नमः कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यश्च वो नमः।। कृष्ण यजु० 4-5-12-13

The intellectuals of ancient India have speculated and strenously tried hard to understand the nature of the physical world and its origin. The early philosophers invoked a theory to account for the varieties of materials found in nature and also the man made articles. They visualized five different elements (पञ्चभूताः) which constitute the physical world. "These are earth water, wind, fire, and sky/either (पृथिवी, आपः, वायु, तेजस्/अग्निः, आकाशः) These five elements were supposed to be endowed with individual characteristics (गुणाः) or qualities. With diverse combinations of these elements different materials were formed. They tried to explain the different properties and qualities on the basis of these different combinations. They also speculated that these elements must have evolved from a primordial matter, just as a piece of stone can be cut out into different shapes and forms. They also considered the possibility of converting the base metal like iron or lead into gold, a precious metal. This is the basis for all the attempts made to achieve this goal. They also tried to find out an agent which could, by its touch, would convert base metal into gold 'touch tone' (स्पर्श शिला).

Another line of approach was to keep the human body in good health and youthful conditions. Experiments were conducted to prepare the agent which could bring about the youth and good health by its administration for older people. Such treatments were termed Dehavedhaḥ (देह वेधः), Kāyākalpah (कायाकल्पः) and Sañjīvanī (संजीवनी).

There was another school in India who visualized that this gross universe is made up of tiny individual particles called atoms (परमाणु), Kaṇāda (कणाद) was the leader of that school called Paramāṇuvāda (परमाणुवाद). These atoms combine and give rise to different substances. Such combined atoms were known as molecules 'Aṇu' (अणु) which can contain two atoms or three atoms (द्वाणुः त्र्यणुः). Of course, the nature of the force that would combine these atoms was still on speculation. It was remarkable indeed to find that Indians had already pictured that the atoms are invisible because of their small size. They could also estimate the size of atoms in term of the known unit familiar to them. According to shvetashvataropnishad, "Tip of hair is divided into hundred parts, and each part in its turn divided into 100 parts." This works out to be roughly 10-8 mm. It is amazing to find that this agrees well with the present day estimate for the size of the atoms in terms of the Angstron unit i.e. (10-8 = 1 A°). Māndūkyopniṣad clearly states that such a size can only be visualized and cannot be seen by the eyes. Śaṅkara also pictures that life also emerges at the atomic and molecular levels.

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।

भागो जीवः स विज्ञेयः स चान्त्याय कल्पते।। (श्वेता० 5/9)

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः।। (मुण्ड० 3/1/9)

These concepts remained latent till the begining of the 19th century. It was an English school teacher Dalton, who made use of these concepts and postulated the atomic theory of matter. This could explain satisfactorily all the laws of chemical combinations known at that time. The atomic theory of matter and the theory of evolution of life heralded the modern concept of universe.

No doubt, concept of laboratory is a very remarkable chapter of Indian technological works. So many types of experiments, readings, reactions etc. were done in the laboratory. Whether, till 16th century whole Europe and west was completely unknown of it. A laboratory (रसशाला) is to be established in a picturesque region which abounds in medical plants and well (water) and free from all interferences and disturbances. The building should be well protected with high boundary walls. The laboratory is to be furnished with a variety of

equipment and housed in the right direction.

रसशालां प्रकुर्वीत सर्वबाधाविवर्जिते। सर्वौषधिमये देशे रम्ये कूपसमन्विते।।

यक्षत्र्यक्षसहस्राक्षदिग्विभागे सुशोभने। नानोपकरणोपेतां प्राकारेण सुशोभिताम्।।

रसरत्न समुच्चय

There were more than 32 units of aparatus used for chemical and pharmaceutical investigations and they were called Yantras (यंत्र) viz. Koṣṭhi yantra, Tiryak Pāṭana Yantra, Dhekī Yantra etc.

Rasa Ratna Samucchaya also gives very nice picture of qualification of staff working in the laboratory (रसशाला).

Indian alchemists have clearly explained the properties of sulphur. It was known as killing of metals. It was used to kill the metals, was known enemy of metals (copper), 'शुल्वारि' (शुल्व + अरिः) which finally became sulphur in English.

लोहानां मारणं वक्ष्ये समाहितमनः श्रृणु। नास्ति तल्लोहमातंगो यन्नगंधक केशरी।

रसार्णव 7.138-142

Loha vedhaḥ (लोहवेधः) i.e. to transform base metals into noble metals and Dehavedhaḥ (देहवेधः) or Kaya Kalpaḥ (कायाकल्पः) i.e. to maintain in a fresh and healthy state just like a youth, were these two most important functions of sulphur.

What wonder is that calamine (रसकः) (one of the zinc ores) gets converted into gold when roasted with copper (शुल्व) three times.

किमत्र चित्रं रसको रसेन, क्रमेण कृत्वाम्बुधरेण रंजितः करोति शुल्वं त्रिपुटेन कांचनम्।

रत्नाकर—3

Today, in simple chemistry it is not possible. So the scientists can have to face this challenge.

Another use of sulphur was to manufacture Mercury sulphide (HgS). It was known as Makaradhwaja (मकरध्वज) or Cinnebar for Āyurveda as a cure for several ailments. One of the British scientific officers made a report about this preparation to the president of the Royal society Dr. J. Banks. This has been published in the proceedings of the Royal society (7.1.1790) "I have sent you in the box that contains the machines for cleaning the cotton. A piece of the cinnebar of this country which is made in manes, sometimes 100 lb. weight at a single sublimation. I have very frequentaly tried to make cinnebar by the method recom-

mended in Europe, but I have never been able to prepare any so far as the Indian at one operation. They also make corrosive sublimate (mercuric chloride) and also calomel (mercurus chloride)."

The use of sulphur powder as insectiside and the fumes of sulphur dioxide (SO_2) for bleaching negetable was also in practice.....नाशयेत् सर्वशाकानि सेकादुपवनानि च। गन्धकैरेव धूपेन पुष्पाणाम् अन्यवर्णता।

Indian chemists were very familiar with the preparation, properties and use of the Alum (K_2SO_4 Al_4 $(SO_2)_2$. $24H_2O$) known as (तुवरी) It was used as an astringent for the treatment of eyesore (नेत्रहितः).

By means of Alum, sulphuric acid (H_2SO_4) was being prepared. Similarly copper sulphate (blue vitriol $CuSO_4$ $5H_2O$) (मयूरतुत्ता), was also being manufactured. Alum was used to prepare aquaregia (HcL. HNO_3) (द्रवराज या मद्यद्रावक रस), green vitriol (Iron sulphate $FeSO_4$. $7H_2O$), Salamnoniac (NH_4Cl) नवसार, Borax, Calomel (Hg_2Cl_2) etc.

One of the most important outstanding carried out in such well equipped Laboratory was that of Loha Bhasma (iron), Suwarna Bhasma (Gold), Rajata Bhasma (Silver), Tamra Bhasma (Copper), Vanga Bhasma (Tin), Sisa Bhasma (Lead) and Ayah Bhasma (Steel). One whole chapter of Rasa Ratna Samucchaya is devoted for this purpose.

In addition to these conventional chemical operations, many biochemical works were also in vogue from line immenial. Not only milk, curds, butter, butter oil (ghee) and cheese but also intoxicating liquors were prepared by a fermentation process and consumed on several religious ceremonies and social gatherings. Nearly 610 verses of ninth Mandala of Ṛg Veda deals with fermented some juices.

स्वादिष्ठया मदीष्टया पवस्व सोम धारया। इन्द्राय पातवे सुतः............ दशोत्तराणि ऋचांश्चैव पावमानी शतानिषद्।।

Charak Saṁhitā gives at least 9 types and Kautilya Arthasāstra gives 7 types of discription of about fermented (किण्वा) liquors. The word ALCOHOL is derived from Saṁskṛt word KOHALA (कोहल) an ālcoholic preparation in the Āyurvedic medicine. The Arabs added the article AL (the) and alcohol became the accepted term.

Cosmetics and perfumes have been an important part of life. Indian chemists had made significant contributions in this field, right from vedic times down to the 18th century.

गन्धद्वारां दुराधर्षां नित्य पुष्टां करीशिणीम्। ईश्वरीं सर्वभूतानां तामिहोपह्वयेश्रियम्। —श्री सूक्त

There was a flourishing trade in this field which was considered to be more profitable than only other trade including gold— गन्धिकं पण्यं किमन्यैः काञ्चनादिभिः।

India was in the forefront of the textile industry till the end of 18th century. There were more than 100 colouring agents of both mineral and vegetable origin and possibly few of animal origin for dying the fabric and other articles of every day use. Similarly cements and tulutes were used to build temples, mansions and forts throughout the length and breadth of the country hundreds and thousands of years ago. Bṛhat Saṁhitā has a chapter on this particular topic under the title Vajralepalakṣādhyayāḥ (Adamantine glue). Even now these glues known as Aṣthabandhaḥ are prepared in temple premises for fixing or re-fixing idols.

Thus the scientific heritage of ancient India became a challenge for research scholars. The field of chemistry conceives metallurgy and medicine both. The achievements of ancient alchemists is not only a glamour; but it is also a great contribution to the world. No doubt it was a glorious past of Āryāvarta. So, the works in this field would promote our nation towards bright future.

❐

Water Treatment in Atharvaveda

Dr. Subhash Chandra Dash *

Introduction :

The Atharvaveda (AV) is the source book of Āyurveda. Bheṣaja 'medicine' is one of the important contributions of AV. The poet-priest of AV. is a physician who treats patients of different types by the help of his magic spells, sacrifice and medicines prepared out of medicinal plants. He describes that these plants have magical powers to cure a patient. So also, he has taken into consideration the natural factors like, Fire, Air, Water and Earth etc. for curative purpose. The way AV. deals with it, informs us about the beginning of treatment of various diseases and methods, which is known and accepted as a science i.e. Āyurveda afterwards. Really, AV. contributes much in this regard and afterwards the exponents like Caraka and Suśruta have acknowledged[1] that they have learnt the curative process from AV.

The Ātharvanic doctor believes that there are some evil spirits which infest the human body and create diseases. So when a man falls ill, he is attacked by the demons[2] of diseases. To cure the disease means to remove the demon and it is partly cured by the psychological factors and partly by the magic performed along with the medicinal qualities of plants. So also there is the importance of the natural elements which have medicinal powers to cure various diseases. The water is treated as the prime medicine by the Ātharvanic priest. He probably realised that mostly water forms two third of the gross weight of a human being, so it has some influence over the body, as well as, mind. That is why the Ātharvanic poet-priest calls water as nectar and describes it as most powerful curative method.

* **Senior Lecturer, Department of Sanskrit, Utkal University, Vaani Vihar, Bhubaneswar, Orissa**

Not only in AV.; but also the modern science has proved the medicinal and curative power of water and accepts it under the branch-Naturopathy, which is a system of Treatment. In this branch, starting from the ancient period, water plays an important role.

So in this paper an attempt is made to study and analyse the water treatment (water as medicine) as 'developed by both the systems'.

In the Vedic texts, water is considered as a very powerful and curative substance. It is proved to be as powerful as any other medicine. Therefore, it is described in the AV. as Amṛta 'nectar' and also named as bheṣaja 'a remedy'.[3] It means that in water there is curative power which removes all the dirt inside the body. Since, water is a natural phenomena it has been praised as a deity many a times in the Vedic literature.

Water is described as रस in a mantra[4] which tells us water! you are definitely kind and pleasant enough, you give us strength and energy which is the life force (प्राण शक्ति) and since you are the chief among the desired objects and by dispelling diseases[5] from all human beings, I ask for remedy, I beg the waters for remedy. Here, this mantra refers to the curative power of water which is named as rasa which gives energy. It is true that water is rasa parexcellence. Sāyana says—evambhūtā apaḥ bheṣajaṁ vyādhyādi nivartakam auṣadhaṁ vācāmi prārthaye.

It is sometimes recorded the importance of water and its medicinal qualities which is heard from other sources. The poet-priest says—'Some told me that in waters there are all the remedies and there is well-being for all in Agni.[6] For long life also, water is praised many-a-times. As we see : 'O waters! bestow me a remedy for my body and protect my body and allow me to live long to see the Sun without disease.[7] The water contains the natural power for bestowing long life without any disease.

In AV. I.33- (1-5) the priest priases the water and want the blessings. He says—'In the heaven, Gods make the drink, who has a beautiful colour, clean and purifying let these waters be well-being, kind enough and pleasant to us.[8]

Water as remover of diseases :

In the AV. II.3 (1-6), the poet-priest recognises and prescribes spring water as the remedy which has natural healing power. In this hymn, he says—The spring water which runs down upon the mountain, that do I make for you a remedy in order that you may be a good remedy for relief of flux (a continuous pain of a particular disease like vraṇasphoṭakādi. In this hymn also mud is referred as a curative item and hence mud

therapy is quite evident from this.[9]

In this third kāṇda, there the priest describes about the kṣetrīya (inherited diseases). In this context, the powers of water is described. The waters verily are healers (remedial) the waters disease-expelling, cures all diseases. May they relieve you from kṣetrīya.[10]

The hymn VI. 91.3 describes the curative power of water. It is said—The waters verily are remedial, the waters are disease-expelling, the waters are remedial of everything, let them make remedy for you[11].

In a different context, the Atharvavedic poet-priest praises the water as God and requests to be kind towards the person who suffers from various diseases. By invoking these mantras, he propitiates the water and then invokes to remove all the diseases. There is a reference that water cures heart disease. He knew that the water which flows from the snowy mountain i.e. Himalayas and the water coming from different corners (of the Himalayas) assembles in the Sindhu, may that heavenly water indeed grant me the cure for heart-ache.[12]

Regarding eye-diseases and pain in the foot, there is such description. The pain that burns my eyes and which hurts in my heels, my front feet, may the waters remove all that among the physicians the most excellent physician.[13] Here water is personified and works as an active physician who carefully and positively remove all the diseases from the body.

In the AV. there are descriptions of invocations of mantras regarding the restoration of perfect health. In those cases those who suffer from diseases the poet-priest invokes and prays the respective deities and utters some mantras for the benefit of the person, who is in disease. So the natural forces like The Sun, Air, Water are personified and invoked many a times. They bestow good health to the person suffered and it is recorded several times.

Here in one instance, it is mentioned that, water and plants are the universal remedies. In VIII. 7 it is mentioned that the poet-priest invokes to all magic and medicinal plants of different colours to protect this man. In the 3rd mantra it is said—the waters and the heavenly plants are the foremost among healers they have driven out, from every limb, your disease.[14]

Ways of Curing :
Kṣetrīya disease :

When there is kṣetrīya disease, the priest consecreates water with AV. II. 8.4 and through a vessel sprinkles it on the head of the patient. In another case, AV. III. 11, the

medicine man sprinkles water upon the patient which is earlier consecrated with the mantra III. 11 and heated on fire in which forest sesamums, cow-dung or pacificatory plants are put.[15]

ENT. diseases :

When somebody is suffering from disease of eye or ear or nose, the medicine-man-priest sprinkles water from a water pot in which he has put the remnants of an offering performed with AV. II and Kau. sū. 27-28.

Infections : When a man is having infections, there is the prescription of sprinkling of water on him. In this water, the priest has earlier put twenty-one roots of Uśira, having powered them and remnants of the offering performed with AV. V. 23.13 and the water is also consecreted with AV. V. 23.13 by him. This gives perfect cure to him.

Hair-fall : To stop hair-fall, the priest puts burning herbs of pacificatory (sānta) class grown upon another tree in to water and then consecreates the water with AV. VI. 21 and sprinkles it on the person who suffers from this defect.[16]

Hair-grow : For hair-grow the poet priest heats śīrṣa and nuts of Akṣa (bibhītaka) then he consecreats them with AV. VI. 21 and puts them in water. Then he sprinkles the water on the person who wants to have hair-growth. This sprinkling should take place in the morning after all stars have disappeared.[17]

Mental diseases : It is well-known that, water has power of anti-evil beings, since they are killers of Rākṣasas (evil-beings).[18] Hence it is used sometimes for the sake of curing mental diseases which are believed to be caused by the evil beings. When someone is possessed by an evil being (piśāca), the medicine man-priest makes him sip water and sprinkles him with water while reciting one of the hymns (AV. I. 7, V. 29. 1)

The Modern Water cure in Naturopathy :

Water cure plays a vital role in Naturopathy. Water is life and used from the very beginning of civilisation. ''Records from the third century B.C. coming to us from Hippocrates, the father of healing from Galen, Askepliades and many others remind us that cold water and baths of all kinds were instrumental in curing diseases from time immemorial.[19] There are various attempts made by different physicians in the middle ages to prove the curative utility of water. Some of them are Aetius, paulus, Aegineta and paracels. And afterwards we get much more materials and findings regarding water treatment. In 1673,

Nicola Lonzani, a physician from Nepal published a learned treatise on the use of water in health. In England, about the beginning of 18th century, Sir John Floyer and Br. Baynard made large use of water. They wrote a book named—The history of cold bathing both ancient and Modern. In 1738, Dr. J.S. Hahn & Silesia published a book named as—The healing virtues of cold water Inwardly and Outwardly applied, as proved by Experience. Dr. William Wright, an Army Surgeon published his experience regarding the medicinal qualities of water for curing diseases in the London Medical Journal in September 1777. He was an Army Surgeon and was attached to a vessel transporting soldiers to India and Africa. While sailing—because of poor hygine and over-crowding condition of the vessel the soldiers were suffering from high fever. He successfully fought the disease by the help of water only.

Vincent Priessnitz of Graefenburg in Austria proved that water has the power to stop a wound. He observed this in a forest while the wounded deer injured by hunters come to the spring and stay there for sometime in the water and the wound stopped. He himself has his own experience that water stopped the bleeding and the pain of his crushed finger in an accident. After this, when any of the animals or people on the farm suffered any external injury, Priessnitz applied cold water as a soothing and healing remedy.[20] In another accident, his ribs were fractured. The doctors attending him declared that it cant' be cured. But by cool water he cured himself fully.

During the early years he treated mainly sprains, fractures, dislocation rheumatism, liver and stomach complaining and chronic constipation. According to him "not only is water strengthening, refreshing, invigorating, vivifying, cooling and soothing, but it also possesses a purifying power—tending to disperse undesirable matter and to throw off poisonous substances within the system."[21]

He insisted on cold water full bath and partial baths of all kinds, the sweating process and drinking of pure water for removing the diseases. He observed that the water cure system is based on natural laws which have direct impact on our body. This also applies to animals as well.

Let us take another personality named—Sebstian Kniepp (1821-1897) of Germany. He had a private hydrotherapeutic clinic for the treatment of almost all diseases. In his book 'My Water Cure' published in 1886, he describes how he treated people at large by pure water. He claimed that water of different temperature variously applied to the system will dissolve the morbid matter in the blood, leaving the cleansed blood to experience of freer

circulation. He also proved that proper application of water will give the human body power and strength.

The basic principle of Kneipp was very simple. It began with this that every disease arises from blood which either contains impurities or circulates badly. In both these cases, cold water can be used to stimulate the skin to activity so that the diseased matter may be removed and discharged. He used cold water gently and reasonably, usually applying it a half-minute and rarely more than three minutes. He practically cured many diseases by water. As he was a Catholic priest he practices the healing art in an unselfish way. And as the days passed successfully for him of curing of number of patients, he was known as the "priest who heals with water."

Another personality Henry Lindlahr (1853-1924) first successfully captured the germ-killing power of sunlight in a glass of water by putting water in sun The sun light water was prepared by him every morning at his sanitorium. It was given to the patient to drink particularly when they had stomach and intenstinal infections, typhoid fever or other such diseases. Sunlight water also was given to the patient to wash down ulcers and it performed good result.

Analysis :

Even today in our society, people everyday use cold water to clean their eyes. Cold bath is also taken and is prescribed even today when there is temperature in the body. For wounds also cold (ice) water is given and the bleeding stops slowly. It is also a fact that, cows, buffalows etc. go and rotate their body in muddy water sometimes. It is this period that they may have some diseases and that is why they expose their body to water completely. By that, the disease is removed. This is the natural process of the animals who can't express their diseases. The natural power of water heals naturally. Not only in the laboratory they studied water and practically cured many patients; but from our common sense also we can see the healing and curative power of water even today.

So also in the early days of our society, people knew the importance of water, its curative and healing power and they used it accordingly whenever they faced any problem. It is a natural gift that activates in the body and cleanse the impurities naturally. That is why it is said—take water and drink water properly as per the requirement of the body.

References & notes :

1. Caraka Saṁhitā, 1.30 : 19-20.
2. Kaṇvas, Kābavas, AV. II. 25 : 3-9.
3. अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम् । AV. I. 4.4.
4. यो वै शिवतमो रसः। AV. I. 5.2.
5. आपो याचामि भेषजम् । AV. I. 5.4.
6. अप्सु मे सोमो अब्रवीद् अन्तर्विश्वानि भेषजा।
   अग्निं च विश्वशम्भुव।। AV. I. 6.2.
7. AV. I. 6.3
8. न आपः शं स्योना भवन्तु। AV. I. 34.4
9. AV. II. 9.4.
10. AV. III. 7.5.
11. AV. VI. 24.1.
12. AV. VI. 24.2.
13. AV. VI. 91.3.
14. आपो अग्रं दिव्या ओषधयः।
    तास्ते यक्ष्ममेनस्यमङ्गाङ्गादनीनशन् । AV. VIII. 7.3
15. Kau sū, 27.33.
16. Ibid, 30.8 & 8.15.
17. Ibid, 30.13.
18. apo vai raksasoghneh
19. See Singh, S.J. History and philosophy of Naturopathhy, Lucknow, 1980, p. 141.
20. Ibid, p. 146.
21. Ibid, p. 149.

❐

जलस्त्रोतों की खोज का विज्ञान-उदकार्गलम्

डॉ० इला घोष *

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। विज्ञानेन जातानि जीवन्ति।

तैत्तिरीय उपनिषद् (3/5) का यह सन्दर्भ प्राचीन भारत में विज्ञान के महत्त्व एवं वैज्ञानिक प्रगति को स्पष्ट शब्दों में रेखांकित करता है। ज्ञान-विज्ञान और तकनीकी दोनों ही क्षेत्रों में भारतवर्ष सभ्यता के उषःकाल से ही अग्रणी रहा है। भारत के इस उत्कृष्ट वैज्ञानिक ज्ञान के प्राचीनतम उपलब्ध स्रोत हैं—वेद, जो ज्ञानराशि होने के कारण ही 'वेद' इस संज्ञा को सार्थक करते हैं। वस्तुतः 'साक्षात्कृतधर्मा' वैदिक ऋषि ही भारत के प्रथम वैज्ञानिक थे और उनकी यज्ञशालाएँ ही प्रारम्भिक प्रयोगशालाएँ। उन्होंने इस सृष्टि-व्यवस्था को संचालित करने वाले वैज्ञानिक नियमों को 'ऋत' की संज्ञा दी।

उपनिषद् काल तक यह विज्ञान-राशि विभिन्न शाखाओं में वर्गीकृत हो चुकी थी। छान्दोग्य उपनिषद् के 'सनत्कुमार-नारद' संवाद के माध्यम से निम्न शाखाओं का ज्ञान होता है—

'गणित या राशि, ज्योतिष् या नक्षत्र विद्या, पदार्थ विज्ञान या भूत विद्या, सैन्य विज्ञान या क्षत्र विद्या, चिकित्सा विज्ञान एवं जीव विज्ञान। (7/2)

वैदिक काल से मध्य युग तक संस्कृत भाषा में निबद्ध विज्ञान को तीन रूपों में देखा जा सकता है—

प्रथम—संस्कृत भाषा में रचित स्वतन्त्र वैज्ञानिक ग्रन्थ; यथा—चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में—चरक संहिता एवं सुश्रुत-संहिता, खगोल और गणित के क्षेत्र में—आर्यभट्टीयम्, अभियान्त्रिकी और वास्तुशास्त्र के क्षेत्र में—समरांगणसूत्रधार, वनस्पति विज्ञान में—भावप्रकाश आदि।

द्वितीय—शास्त्रीय ग्रन्थों में आनुषांगिक रूप से वर्णित वैज्ञानिक सामग्री यथा,—अथर्ववेद में चिकित्सा विज्ञान सम्बन्धी सूक्त; कौटिल्य के अर्थशास्त्र में कृषि विज्ञान, खनिज अभियान्त्रिकी आदि से सम्बन्धित जानकारी।

तृतीय—विशुद्ध साहित्यिक कृतियों में उल्लिखित वैज्ञानिक सिद्धान्त—यथा—मेघदूत में '**धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः**' के रूप में मेघ के सङ्घटक तत्त्वों का उल्लेख आदि।

* प्राचार्या, शासकीय कन्या महाविद्यालय, सिवनी, मध्यप्रदेश

संस्कृत भाषा में रचित विज्ञान ग्रन्थों में एक बहुश्रुत ग्रन्थ है—वराहमिहिर की 'बृहत्संहिता'। इसमें निबद्ध बहुविध विषयों में से एक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण एवं रोचक विषय है—'उदकार्गलम्' (अ० 54) अर्थात् भूगर्भ में निहित जलस्रोतों की खोज। आधुनिक विज्ञान के Geology या 'भूगर्भ विज्ञान' के अन्तर्गत विवेचित इस विषय पर प्रकाश डालते हुए; विज्ञान के क्षेत्र में संस्कृत के योगदान को रेखाङ्कित करना ही प्रस्तुत आलेख का विषय है।

विषय-विवेचन से पूर्व 'उदकार्गलम्' शब्द के अभिप्राय को स्पष्ट करना आवश्यक है। सृष्टि के घटक पञ्चमहाभूतों में से एक है—जल। वारि, सलिल, नीर, अम्बु आदि जल के अनेक नामों में से एक नाम है 'उदक'। पृथिवी के गर्भ से ऊपर भूतल पर लाया गया जल उदक है। किन्तु इस उदक के मार्ग में प्रस्तर, मृदा आदि आवरण रूप अवरोध हैं। अर्गल का अर्थ है साँकल या अवरोध। इस अवरोध को दूर कर ही जल को भूतल पर लाया जा सकता है। 'उदकार्गलम्' इन अवरोधों के पीछे अन्तर्निहित जलस्रोतों की उपलब्धि का मार्ग बताता है—

वदाम्यतोऽहं दकार्गलम् येन जलोपलब्धिः। 54/1

वस्तुतः ऋग्वेद में वर्णित 'इन्द्र और वृत्र का युद्ध' जल के अवरोधक अर्गल को काट कर जल को पृथिवी पर लाने का ही विज्ञान है।

बृहत्संहिता के अनुसार जिस प्रकार पुरुष शरीर के विभिन्न अङ्गों में अनेक शिरायें हैं जिनसे रक्त प्रवाहित होता है उसी प्रकार पृथिवी के विभिन्न भागों में ऊँची-नीची अनेक शिरायें हैं जिनसे जलधारा प्रवाहित होती है—

पुंसां यथाङ्गेषु शिरास्तथैव क्षितावपि प्रोन्नतनिम्नसंस्थाः।। 1

भू-गर्भ में आठ दिशाओं के आधार पर आठ शिरायें मुख्य हैं। इन्द्र आदि दिक्पालों के नामों पर इनकी ऐन्द्री, आग्नेयी आदि संज्ञायें हैं। इनके मध्य में नवमी शिरा है जिसे महाशिरा कहा जाता है। इन मुख्य शिराओं से छोटी-बड़ी असंख्य शिरायें निकलती हैं। इनमें से पाताल से सीधी ऊपर की ओर उठने वाली एवं पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण की शिरायें ही शुभ होती हैं आग्नेयी, नैऋती आदि कोणों की नहीं। 3, 4, 5

पृथिवी पर जल की उपलब्धि का प्रमुख स्रोत है मेघ। आकाश से च्युत जल का वर्ण एवं स्वाद एक ही होता है। किन्तु पार्थिव तत्त्वों के संयोग से उसके वर्ण एवं स्वाद में परिवर्तन हो जाता है। 2।

जल की मात्रा के आधार पर देश तीन प्रकार के हैं—(1) अनूप—प्रचुर जल वाले, (2) मरु—जलहीन (3) जाङ्गल—मध्यम जल वाले।

इन देशों में जलस्रोतों की पहचान के लिये निम्न तत्त्व सहायक होते हैं—वनस्पति, मृदा, प्रस्तर या शिला, जीव-जन्तु, वल्मीक या बाँबी, भू संरचना, तापमान एवं ध्वनि।

इस आधार पर जाङ्गल देश में जलस्रोत की खोज इस प्रकार संभव है—

जलहीन देश में यदि वेतस वृक्ष हो, तो उस वृक्ष के पश्चिम की ओर तीन हाथ पर डेढ़ पुरुष नीचे

जल की पश्चिम शिरा प्रवाहित होती है भूमि को खोदने पर; अन्य चिह्नों में—आधे पुरुष नीचे श्वेत वर्ण मण्डल फिर पीले रङ्ग की मिट्टी तत्पश्चात् परतदार पत्थर होता है। जल-धारा प्रस्तर के नीचे होती है। 7

निर्जल देश में जामुन वृक्ष के समीप ही; पूर्व दिशा में यदि बाँबी हो; तो उस वृक्ष से तीन हाथ दक्षिण; दो पुरुष नीचे मधुर, दीर्घकाल स्थायी प्रचुर जल होता है। आधा पुरुष खोदने पर यहाँ कबूतर के समान धूसर वर्ण का पत्थर निकलता है। यहाँ की मिट्टी नीली होती है। 9, 10

अर्जुन वृक्ष से तीन हाथ उत्तर में यदि बाँबी हो, तो उस वृक्ष से तीन हाथ पश्चिम साढ़े तीन पुरुष नीचे अमित जल होता है। यहाँ आधा पुरुष खोदने पर सफेद रङ्ग की गोह निकलती है। एक पुरुष नीचे धूसर वर्ण की मिट्‌टी फिर क्रमशः बालुका मिश्रित काली, पीली और सफेद मिट्टी पाई जाती है। 13

निर्गुंडी (सिन्दुवार) का वृक्ष वल्मीक युक्त हो तो उसके तीन हाथ दक्षिण सवा दो पुरुष नीचे स्वादु और कभी न सूखने वाला जल होता है। 14

विभीतक (बहेड़े) के वृक्ष के पश्चिम दिशा में यदि बाँबी हो तो उस वृक्ष से एक हाथ उत्तर साढ़े चार पुरुष नीचे पश्चिमवाही जल प्रवाह होता है किन्तु यह स्रोत तीन वर्ष बाद नष्ट हो जाता है। 26

महुये के वृक्ष के उत्तर में यदि बाँबी हो तो वहाँ साढ़े आठ पुरुष नीचे पूर्व शिरा मिलती है, जहाँ सदा फेनिल जल बहता है। 36

कदम्ब वृक्ष के पश्चिम में यदि बाँबी हो तो पौने छह पुरुष नीचे उत्तर शिरा होती है। यहाँ जल बहुत होता है किन्तु उसमें लोहे की गन्ध होती है। 38, 39

जिस भूमि में कहीं तृण न हो और बीच में एक स्थान तृण युक्त हो तो वहाँ साढ़े चार पुरुष नीचे जल प्रवाह होता है। 52

इस प्रकार जाङ्गल देश में वेतस, जामुन, गूलर, अर्जुन, सिन्दुवार, बेर, पलाश, बिल्व, अर्क, कपिल, विभीतक, कोविदार (सप्तपर्ण), करंज, महुआ, तिलक, ताड़, नारियल, कपित्थ, अश्मन्तक, हरिद्रा आदि वृक्षों, दन्ती, शूकरपादी आदि औषधियों, वीरण, दूर्वा आदि कुशों के साथ अन्य चिह्नों को देखते हुए जल प्रवाह की खोज सम्भव है।

मरु देश में जल के स्रोत ऊँट की ग्रीवा की भाँति ऊँचे नीचे होते हैं—

ग्रीवा करभाणामिव भूतलसंस्थाः शिरा यान्ति। 62

मरुभूमि में पीलु वृक्ष की पूर्व दिशा में यदि बाँबी हो तो उस वृक्ष के साढ़े चार हाथ दक्षिण; सात पुरुष नीचे क्षार जल वाली दक्षिण शिरा होती है। 68

पीलु वृक्ष के साथ ही यदि बेर का वृक्ष हो तो उनसे तीन हाथ पूर्व को बीस पुरुष नीचे कभी न सूखने वाला खारा जल होता है। 75

करीर वृक्ष के उत्तर में यदि बाँबी हो तो उसके चार हाथ दक्षिण दस पुरुष नीचे मधुर जल होता है। 67

मरु देश में मधुर जल के लिये बदरी (बेर) और रोहित (रुहेड़ा) वृक्ष की सम्पृक्तता महत्त्वपूर्ण होती है। यहाँ सोलह पुरुष नीचे अत्यन्त मधुर जल होता है। यहाँ पहले दक्षिण शिरा बहती है फिर उत्तर शिरा। यहाँ आटे के समान श्वेत वर्ण का पत्थर, श्वेत मृत्तिका और अर्ध पुरुष खोदने पर बिच्छू दिखाई देता है। 73

जहाँ बहुत काँटों से युक्त श्वेत शमी वृक्ष हो वहाँ पचहत्तर पुरुष नीचे अर्थात् लगभग 450 फीट नीचे जल होता है। 85

अनूप देश में जल अत्यन्त सुलभ होता है वहाँ वल्मीक के ऊपर सूकरिका, व्याघ्रपादा आदि औषधियाँ उगी हों तो तीन पुरुष नीचे जल होता है। यही लक्षण जाङ्गल देश में प्राप्त होने पर पाँच पुरुष नीचे जल मिलता है। 87, 88, 89

इस प्रकार बृहत्संहिता में प्राप्त विवरण के विश्लेषण से निम्न तथ्यों का ज्ञान होता है—

(1) देश भेद के आधार पर भूतल से जल की दूरी भिन्न-भिन्न होती है।

(2) मरु देश के चिह्न जांगल देश में प्राप्त नहीं होते। जांगल देश के चिह्न मरु देश में प्राप्त होने पर भूमि को जांगल देश की तुलना में दो गुनी अधिक गहरा खोदने पर ही जलस्रोत उपलब्ध होता है।

(3) जलस्रोत की उपलब्धि का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण चिह्न है—वनस्पति, वृक्षों के साथ ही औषधियाँ कुश, गुल्म, लता आदि भी ज्ञापक होते हैं।

स्निग्ध लम्बी शाखाओं वाले छोटे आकार के फैले वृक्ष जल समीपता के सूचक होते हैं—

स्निग्धा प्रलम्बशाखा वामनविटपद्रुमाः समीप जलाः। 49

इसके विपरीत छिद्र युक्त जर्जर पत्तों वाले रूखे वृक्ष जल हीनता के—

सुषिरा जर्जरपत्रा रुक्षाश्च जलेन सन्त्यक्ताः।। 49

खजूर, जामुन, वेतस और अर्जुन वृक्ष इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। इनके समीप ही तीन पुरुष नीचे जल होता है। 101

जहाँ वृक्ष, गुल्म और लताओं की पत्तियों को तोड़ने से दूध निकलता हो वहाँ भी तीन पुरुष नीचे जल होता है। 102

मूँज, काश और कुश युक्त भूमि में यदि मिट्टी कंकड़ीली और नीली हो वहाँ बहुत और मीठा जल निकलता है। 103

कुछ वृक्षों की संहति भी महत्त्वपूर्ण होती है—जैसे—वट, पीपल और गूलर यदि तीनों का समवाय हो, या वट और पीपल साथ हों तो तीन हाथ नीचे ही जल का स्रोत होता है।

वृक्ष की एक शाखा यदि भूमि की ओर झुक रही हो या पीली पड़ गई हो तो उस शाखा के नीचे तीन पुरुष खोदने पर जल मिलता है। 55

कुछ वृक्षों की गाँठों और काँटों से भी जल का निर्धारण होता है। मरुदेश में गाँठों एवं काँटे वाले शमी

वृक्ष बहुत गहरे में जलस्रोत के सूचक होते हैं। 81, 85

(4) जल प्रवाह के द्वितीय प्रमुख ज्ञापक हैं—वल्मीक या बाँबी। विभिन्न वृक्षों के साथ विभिन्न दिशाओं में वल्मीक की स्थिति के अनुसार, जल प्रवाह की खोज की जाती है। वृक्ष से उनकी दूरी और समीपता भी सूचक है। मरु देश में यदि एक स्थान पर पाँच वल्मीक हों; उनके मध्य का वल्मीक श्वेत वर्ण का हो तो उस वल्मीक के नीचे पचपन पुरुष खोदने पर जल का स्रोत मिलता है। (82) जांगल या अनूप देश में जहाँ बहुत से वल्मीकों की पंक्ति हो; उनमें से सबसे ऊँचे के नीचे चार हाथ खोदने से ही जल मिलता है।

(5) तृतीय सूचक हैं—जीव-जन्तु। वराहमिहिर के अनुसार जांगल देश के जल सूचक जीव हैं—श्वेत, कृष्ण, हरित एवं स्वर्णिम वर्ण के मण्डूक, रोहित मत्स्य, श्वेत सर्प, श्वेत गोधा, निर्विष सर्प (डुण्डुभि), गृह गोधिका या छिपकिली, श्वेत मूषक, श्वेत विश्वम्भरक, नकुल, कच्छप, नील सर्प आदि।

मरु देश के जलसूचक जीवों में—मेंढक, श्वेत-कृष्ण सर्प, पीत वर्ण मण्डूक, कपिल वर्ण गोह और वृश्चिक (बिच्छू) मुख्य हैं। जाङ्गल और अनूप देश में भी यदि एक ही स्थान पर बहुत से कीड़े बिना बिल के दिखाई दें तो वहाँ डेढ़ पुरुष नीचे जल होता है। इन जीवों में से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है—मेंढक। किसी भी वृक्ष के नीचे यदि मेंढक दिखाई दे तो वहाँ निश्चित रूप से जल होता है।

(6) चतुर्थ चिह्न है—मृदा एवं भूमि। इस प्रसंग में पाण्डु, पीत, नील, कृष्ण, धूसर, सित, आपाण्डु पीत, उत्पल वर्णा, कपोतवर्णा, रक्त आदि कितने ही रङ्गों का तथा लौहगन्धी, ससिकता (रेतीली) सशर्करा (कंकड़ीली) आदि कितने ही प्रकारों की मिट्टी का वर्णन हुआ है। मिट्टी जल के स्वाद और प्रवाह को प्रभावित करती है। पत्थर के कणों से मिश्रित नीली मिट्टी का जल मीठा, कंकरीले ताँबे के रङ्ग की मिट्टी का जल कसैला, कपिल वर्ण की भूमि का जल क्षार युक्त तथा पाण्डुर वर्ण की भूमि का जल लवण के स्वाद वाला होता है।

सशर्करा ताम्रमही कषायं क्षारं धरित्री कपिला करोति।
आपाण्डुरायां लवणं प्रदिष्टं मिष्टं पयो नीलवसुन्धरायाम्। 104

जो भूमि सूर्य, अग्नि, भस्म और ऊँट के रङ्ग की हो वह जल हीन होती है।

जिस लाल रङ्ग की भूमि में लाल रङ्ग के अंकुरदार करीर वृक्ष हों वहाँ जल की धारा प्रस्तर के नीचे होती है। 106

जाङ्गल या अनूप देश में यदि पैर रखने से भूमि दबती हो तो डेढ़ पुरुष नीचे जल होता है।

(7) जल सूचक चिह्नों में प्रस्तर या शिला भी महत्त्वपूर्ण है। वर्ण की दृष्टि से शिलायें अनेक प्रकार की हैं—

पारावत के सदृश धूसर अञ्जन के समान काली, गोरस के समानं श्वेत, कुंकुम की आभा से युक्त, मेघ के समान श्याम वर्ण, हरित वर्ण, कुलत्थ के समान गाढ़े हरे रङ्ग की, मरकत के समान हरित वर्ण आदि। परतदार शिलाओं तथा मेंढक के समान रूप और आकार वाले प्रस्तर खण्डों का भी उल्लेख हुआ है।

वैदूर्यमणि, मूँगा और चक गूलर के समान वर्ण वाली तथा मेघ के समान कृष्ण वर्ण शिला के निकट ही प्रचुर जल होता है। 107

कबूतर, शहद, घृत तथा क्षौम वस्त्र के समान रङ्ग वाली तथा सोमलता के समान रूप वाली शिला भी शीघ्र ही अक्षय जल देती है। 108

ताम्रवर्णी बिन्दुओं से युक्त; भस्म, ऊँट और खर के समान वर्ण वाली तथा सूर्य या अग्नि के समान लाल रङ्ग की शिला निर्जल होती है। 109

(8) इन मुख्य लक्षणों के अतिरिक्त, ध्वनि, तापमान आदि कतिपय अन्य लक्षण भी हैं—

जहाँ पैरों से आघात करने पर भूमि से गम्भीर शब्द निकले वहाँ साढ़े तीन पुरुष नीचे जल होता है। 54

जिस भूमि से भाप या धुआँ निकलता दिखाई दे; वहाँ दो पुरुष नीचे प्रचुर जल वाली शिरा होती है। 60

जिस खेत में खेती उत्पन्न होकर नष्ट हो जाय वहाँ दो पुरुष नीचे ही महाशिरा होती है। 61

जहाँ गरम भूभाग में एक भाग ठण्डा या ठण्डे भूभाग में, एक भाग उष्ण हो वहाँ निश्चित रूप से जल होता है। 94

(9) इसी प्रसंग में जल के मार्ग में अवरोध उत्पन्न करने वाली शिलाओं को तोड़ने के उपाय तथा शिला को तोड़ते समय शस्त्र की धार को अकुण्ठित बनाये रखने के उपाय भी बताये गये हैं। 112-117

(10) जल स्रोत को खोजकर जल संग्रह के लिये वापी निर्माण के समय सरोवर की सुरक्षा और दृढ़ता के लिये भी निर्देश दिये गये हैं।

वापी की लम्बाई पूर्व से पश्चिम की ओर होने पर यह अधिक स्थायी होती है। दक्षिण-उत्तर की ओर लम्बी वापी वायु से उठी लहरों से शीघ्र ही टूट जाती है। 118

यदि सरोवर उत्तर-दक्षिण की ओर है तो उसके तटों को काष्ठ, ईंट या पत्थर से पक्का कर देना चाहिये। 119

दूषित जल को शुद्ध और सुगन्धित बनाने की विधि भी कही गई है—

> **अञ्जनमुस्तोशीरैः सराजकोशातकामलक चूर्णैः।**
> **कतकफलसभायुक्तैर्योगः कूपे प्रदातव्यः।।**
> **कलुषं कटुकं लवणं विरसं सलिलं यदि वाशुभगन्धि भवेत्।**
> **तदनेन भवत्यमलं सुरसं सुसुगन्धिगुणैरपरैश्च युतम्।।**

इस प्रकार 'उदकार्गलम्' जलस्रोतों की खोज और जलसंग्रह का विज्ञान है। वराहमिहिर के अनुसार, यह विज्ञान प्राचीन काल से ही; परम्परा से चला आया है। सारस्वत मुनि और मनु ने पूर्व में ही इसका विधान किया है। मनु ने कतिपय अन्य तथ्यों की ओर भी सङ्केत किया है। उन्होंने पर्वतीय प्रदेश में भी जल की खोज के साधन बताये हैं यथा—गिरि प्रदेश में यदि एक पर्वत श्रृंखला के ऊपर दूसरी श्रृंखला हो तो दूसरे पर्वत के

मूल में तीन पुरुष नीचे जलस्रोत होता है। 102

यद्यपि यह विवेचन भू-गर्भ विज्ञान का विषय है तथापि आनुषंगिक रूप से इसमें वनस्पतिविज्ञान, जीवविज्ञान, भौतिकविज्ञान, रसायनविज्ञान, अभियान्त्रिकी, वास्तुशास्त्र आदि से संबंधित विषयों का भी समावेश हो गया है। मिट्टी और जल का वनस्पतियों तथा जीवों से सम्बन्ध, उनके रङ्ग-रूप और आकार पर प्रभाव, पृथिवी की ऊपरी सतह को बनाने वाली विविध प्रकार की मृदाओं का विवरण; उसके नीचे कुछ कठोर शिलाओं का वर्णन; भूमि के बहुत नीचे से जल को सोख कर जीवित रहने वाले पादपों की देशानुसार विभिन्न प्रजातियाँ, सर्प और मेंढकों की विभिन्न जातियों का विवरण और इन सबसे भी बढ़कर वर्तमान युग की जीवन जीने की प्राथमिक आवश्यकता; जल की खोज निश्चय ही आधुनिक विज्ञान की अक्षय निधि है।

देववाणी में रचित बृहत्संहिता को; हम केवल एक ज्यौतिष ग्रन्थ या शुभ-अशुभ का विचार करने वाला शकुन ग्रन्थ कहकर छोड़ देते हैं, आवश्यकता है—एक विज्ञान ग्रन्थ के रूप में उसके सही आकलन की तथा उसके अवदान को विश्व के वैज्ञानिकों के सम्मुख लाने की।

हमारे ये महान् आचार्य सच्चे अर्थों में वैज्ञानिक थे; जिनके चिंतन के पीछे निहित था—प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण, सत्य की खोज के लिये अनवरत साधना एवं पर्यटन, सतत प्रयोग एवं परीक्षण तथा वैज्ञानिक अभिवृत्ति। यही कारण है कि आचार्य वराहमिहिर ने पृथिवी तल में निहित जल संस्थान को मानव शरीर के नाड़ी संस्थान के रूप में देखा। उन्होंने इस सुपरीक्षित सत्य को स्थापित किया—कि जल की परीक्षा भूमि के वैशिष्ट्य से करनी चाहिये—

अम्भः परीक्ष्य क्षितितुल्यमेव।। 121

यह विज्ञान लोक हित और लोक मंगल के लिये था, स्वार्थ और विनाश के लिए नहीं अतः आचार्य कहते हैं—

धर्म्यं यशस्यं च वदाम्यतोऽहं दकार्गलम्....।

❐

वेदों में वर्णित सोमपादप और सोमरस

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव *

'वेदों' में **वर्णित 'सोम पादप'** वैज्ञानिकों के लिए सदैव से शोध का विषय रहा है। ऐसे लगभग 100 पादप होंगे जिनका 'सोम' **के** नाम से उल्लेख किया गया है,किन्तु सोम पादप वैज्ञानिकों, विशेष रूप से वनस्पति विज्ञानियों के बीच विवाद का विषय रहा है।

सारकोस्टेमा एसिडम, पेरिप्लोका एफ़ाइला, सेरोपेजिआ ट्युबेरोसा, एफ़िड्रा, टिनोस्पोरा कॉर्डिफ़ोलिया, रूटा ग्रैवियोलेन्स, सोरैलिया, कैरीफ़ोलिया, वेरोनिका एन्थेल्मिन्टिका, एरैलिया जिनसेंग और **अमानिता मस्कारिया** को 'सोम' कहा गया है।

गुणों और प्रयोगों के आधार पर एफ़िड्रा और अमानिता मस्कारिया "वेदों" में उल्लिखित सोम पादप के अधिक निकट जान पड़ते हैं। चूँकि बहुत से पादपों को सोम के नाम से विभिन्न शोधार्थियों द्वारा पहचाना गया है, इससे ऐसा लगता है कि प्राचीन समय में भारतवर्ष में एक से अधिक पादपों का प्रयोग 'सोमरस' निकालने के लिए किया जाता था, किन्तु किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के पूर्व अभी भी सोम पादप पर और अधिक शोध की आवश्यकता है।

हन्ताहं पृथिवीमिमां नि दधानीह वेह वा कुवित् सोमस्यापामिति। ऋग्वेद, 10/119/3

(मेरी इतनी शक्ति है कि यदि कहो तो इस धरती को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाकर रख सकता हूँ। मैंने अनेक बार सोमपान किया है।)

ऋग्वेद की इस ऋचा ने अचानक मेरे मन में यह जिज्ञासा उत्पन्न कर दी कि वह कौन सा पौधा है जिसमें ऐसे शक्तिवर्द्धक गुण विद्यमान हैं।

ऋग्वेद में लगभग 1000 बार 'सोम' का उल्लेख हुआ है। प्रारम्भ से ही वैज्ञानिक इस बात की खोज करते आये हैं कि वास्तव में वह कौन सा पौधा है जो वेदों में 'सोम' के नाम से वर्णित है। सच पूछिए तो आज भी 'सोम' का वास्तविक स्वरूप वैज्ञानिकों के लिए एक अगम्य पहेली बना हुआ है। वेद और अन्य

---

* पूर्व-अध्यक्ष एवं रीडर, वनस्पति विज्ञान विभाग, सी0 एम0 पी0 डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद, उत्तरप्रदेश

प्राचीन ग्रन्थों में देवताओं के द्वारा सोमपान के अनेक उल्लेख मिलते हैं। किन्तु दुर्भाग्यवश इस विषय की हमें अधिक जानकारी नहीं है कि 'सोम' क्या था और किस प्रकार इस पौधे से पीने योग्य 'सोमरस' तैयार किया जाता था?

ऋग्वेद का सम्पूर्ण नवम मण्डल सोम के वर्णन से भरा हुआ है। इसमें 114 सूक्त हैं। सोम को ओषधियों का राजा कहा गया है—**सोम ओषधिनामधिराजा-गोपथ** 1/17। यह पर्वत की चोटी पर पाया जाता है—शृंगे शिशानो अर्षति-ऋग्वेद, 9/5/2। और यह भी उल्लखित है कि सोम मुंजवान पर्वत पर होता है।

सोमस्येव मौजवतस्य भक्षः-ऋग्वेद, 10/34/1

प्राचीन मुंजवान् पर्वत की समानता आजकल हिन्दुकुश पर्वत की शृंखला से की जाती है जो काबुल तक चली गई है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में सोमपान की प्रक्रिया का विस्तार से उल्लेख है। इसमें सोम को जंगल से लाने और धो-कूट कर सोमरस निकालने की विधि का वर्णन मिलता है।

सोम को 'फलक' नामक पात्र में रखते थे। सोम को काटने के लिए दो 'तख्तों' की आवश्यकता होती थी जो 36 अङ्गुल लम्बे और 18 अङ्गुल चौड़े होते थे। पत्थर के मूसलों (ग्रावा) से सोम को तख्ते पर रखकर कूटते थे। ग्रावा ऊपर की ओर पतला और नीचे की ओर मोटा होता था। कूटते समय धीरे-धीरे पानी डालते थे और मन्त्र-पाठ करते थे। कूटे हुए सोम को 'आधवनीय' नामक मिट्टी के पात्र में रखते थे। यह पात्र धातु से भी बनाते थे। इसी पात्र में कुटे हुई सोम को पानी के साथ घोलते थे, फिर निचोड़ कर रस को तो रख लिया जाता था और शेष भाग बाहर निकाल देते थे। इस भाग को 'ऋजीष' या 'फोक' कहते थे। बाद में इसे छान लेते थे। छानने का काम एक वस्त्र के टुकड़े से लिया जाता था जिसे 'दशा पवित्र' कहते थे। छानने के लिए उँगलियों से दबा कर छानना वर्जित था। छानने की विधि लगभग वैसी ही थी जैसी कि ऊपर लटकते हुए घड़े में से एक-एक बूंद जल नीचे 'शिवलिंग' पर गिराते हैं। सम्भवतः किया यह जाता था कि 'दशा पवित्र' में एक छेद करके उसमें 'कुशा' या ऊन का धागा या ऊन की बत्ती लगा देते थे। इसे 'पवित्री' कहते थे। इस प्रकार नीचे एक-एक बूंद टपकते हुए सोमरस को 'ग्रह' या 'चामस' नामक पात्र में एकत्रित कर लेते थे।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि सोमरस को प्राप्त करने के लिए एक विशेष प्रकार की विधि का प्रयोग करते थे, जो एक अनुष्ठान की भाँति पवित्र होती थी। इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकार तैयार किया गया पेय कुछ विशिष्ट अथवा भाग्यशाली लोगों के लिए ही उपलब्ध था।

पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने 'दैवत संहिता' में सोम के गुणों, रूपों तथा सोम से होने वाले लाभ का विस्तार से विवेचन किया है। ऋग्वेद में सोम के 5 और सुश्रुत संहिता में 24 भेद बताये गये हैं। चरक संहिता में सोम से सम्बन्धित साहित्य का अभाव है। कात्यायन श्रौतसूत्र (7/8/25) में सोम का उल्लेख मिलता है। सोम के बदले लोग कुछ भी देने को तैयार रहते थे। उस समय भी सोमरस अत्यन्त मूल्यवान् द्रव था। इसके लिए परस्पर कलह या युद्ध भी हो जाते थे।

सोम को वनस्पतियों का राजा कहा गया है। इसमें ओषधीय गुण मिलते हैं (ऋग्वेद, 1/84, 8/48, 64, 9/85, 109, 10/25)। सोम के सन्दर्भ में ऐसे वर्णन मिलते हैं कि इसके रस में मनुष्यों को अमर बनाने की क्षमता है और यह देवताओं को भी प्रिय है। रोगी मनुष्य के लिए यह ओषधि है तथा इसके सेवन से अन्धे को दृष्टि मिलती है, लंगड़ा चलने लगता है। यह शरीर के हर अङ्ग को स्फूर्ति देता है। भोजन को पचाने में भी सोमपान सहायता करता है और स्नायविक दुर्बलता में लाभकारी है। यह भी कहा गया है कि इससे असाध्य रोगों में भी लाभ होता है। इसमें स्वरतन्त्री के रोगों को ठीक करने की शक्ति होती है और यह हृदय रोगों में भी लाभदायक है। श्याम मनोहर मिश्र (1992) सोमरस को मादक नहीं मानते हैं।

सुश्रुत संहिता में सोम के 24 भेद बताये गये हैं। इससे ऐसा लगता है कि एक से अधिक तरह की वनस्पतियों को सोम का नाम दिया गया है। सोम को पानी पर तैरने वाला, वृक्ष पर लटकने वाला और भूमि में उगने वाला बताया गया है। एक जगह इसे मुंजवान् पर्वत पर उगने वाला बताया गया है तो दूसरी जगह इसे दक्षिण में मलय पर्वत पर उगने वाला भी कहा गया है। कहीं यह कहा गया है कि सोम की उत्पत्ति गीले पर्वतीय प्रदेशों में होती है और कहीं यह कहा गया है कि सोम पृथिवी पर वर्षा द्वारा लाया जाता है। एक जगह तो सोम को बादल का पुत्र भी कहा गया है। (ऋग्वेद, 9/82/3)

एक स्थान पर ऐसा उल्लेख है कि सोम पादप में 15 पत्र होते थे। शुक्ल पक्ष में प्रतिदिन एक-एक पत्ता निकल कर पूर्णमासी के दिन 15 पत्ते पूरे हो जाते थे और कृष्ण पक्ष में प्रतिदिन एक-एक पत्ता झड़ने लगता था और अन्त तक सभी पत्ते गिर जाने के बाद केवल लता शेष रह जाती थी। वनस्पति विज्ञानी अभी भी इस प्रकार के किसी पौधे को नहीं खोज सके हैं। ऐसा पौधा कभी भविष्य में मिलेगा, इसमें भी संदेह है।

सोम से सम्बन्धित सभी तथ्यों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने के पश्चात् ऐसा लगता है जैसे 'सोम' केवल एक ही प्रकार की वनस्पति नहीं है। एक से अधिक वनस्पतियों को सोम का नाम दिया गया प्रतीत होता है। सम्भवतः यही कारण है कि अलग-अलग पौधों को सोम सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है।

डॉ० वाट ने **सारकोस्टेमा एसिडम** (*Sarcostemma acidum*) जो मदार कुल (*Asclepiadaceae*) का पौधा है, को सोम का नाम दिया है। यह आरोही झाड़ी के रूप में फैलता है। इसका वानस्पतिक नाम **सारकोस्टेमा ब्रेविस्टिगमा** (*S. brevistigma*) भी है। यह बिना पत्तियों वाला, फैलने और ऊपर चढ़ने वाला आरोही पौधा है। इसे संस्कृत में सोम, हिन्दी और बंगला में सोमलता और मलयालम में कोंडापला कहते हैं। इस पौधे की दो अन्य जातियाँ भी सोम के नाम से जानी जाती हैं। यह कोंकण (महाराष्ट्र), कर्नाटक, सिंहभूमि, राँची (बिहार), पुरी (उड़ीसा) और बंगाल में पाया जाता है। यह पौधा सोम या सोमलता कहलाता है। इसके अतिरिक्त **पेरीप्लोका एफ़ाइला** (*Periploca aphylla*) भी सोम नाम से जाना जाता है जो मदार कुल (Asclepiadaceae) का ही पौधा है। यह पंजाब के मैदानों से लेकर झेलम नदी के पश्चिम की ओर हिमालय पर्वत के निचले मैदानी भागों, अफ़गानिस्तान और बलोचिस्तान तक पाया जाता है। इसके बहुत से उपयोग हैं। इसके दूध को सूजन और फोड़े पर लगाते हैं, यह क्षुधावर्धक है तथा कुछ प्रकार के ज्वरों में भी उपयोगी है। इसके फूल खाने के काम आते हैं और इसके तने से रस्सी बनायी जाती है। इसी कुल का एक

और पौधा **सिरोपिजिया ट्यूबरोसा** (*Ceropegia tuberosa*) है जिसे पंजाब में गैलोट कहते हैं और जो केरल में सोम के नाम से पहचाना जाता है। डॉ० उस्मान अली तथा नारायण स्वामी ने इसी पौधे को सोम सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इसकी जड़ फूली हुई होती है। यह स्वाद में कटु होती है किन्तु स्वास्थ्यवर्धक है और पाचक के रूप में भी प्रयुक्त होती है।

डॉ० वीरेश्वर गुप्त 1952 में, उस समय तक सोम पर प्राप्त साहित्य का अच्छी तरह अध्ययन करने के बाद इस नतीजे पर पहुँचे कि सोम, **एफ़िड्रा** (*Ephedra*) नामक जिम्नोस्पर्म है जो नीटेसी (Gnetaceae) कुल का पौधा है। लगभग इसी प्रकार का मत पेशावर विश्वविद्यालय के वनस्पतिविज्ञानी श्री एन० ए० काज़िल्वास ने भी व्यक्त किया है। उन्होंने **एफ़िड्रा पैकिक्लाडा** (*Ephedra pakiclada*) और इसकी एक अन्य जाति को सोम सिद्ध किया है। इसमें भी पत्तियाँ नहीं होतीं और यह हिन्दूकुश पर्वत, सफ़ेदकोह तथा सुलेमान रेंज में उगता हुआ पाया जाता है। इसके रस में अनेक प्रकार के ओषधीय गुण विद्यमान हैं। हरे पौधे के रस को शहद (मधु) के साथ् दूध में मिलाकर पीने से थकावट दूर होती है। यह यौन-दौर्बल्य भी दूर करता है। पारे के साथ बनी इसकी औषधि से शरीर का 'कायाकल्प' तक सम्भव है। अफ़गानिस्तान में इस पौधे से प्राप्त ओषधि काफी प्रचलित है।

एफ़िड्रा की एक दूसरी जाति, **एफ़िड्रा वल्गैरिस** (*Ephedra vulgaris*) चीन में दवा के काम आती है। पौधे का काढ़ा (काली मिर्च के साथ) खाँसी, सर्दी, चर्म-रोग और श्रमहर के रूप में उपयोगी है। चीन में **एफ़िड्रा** पिछले 5000 वर्षों से दवा के रूप में प्रयुक्त होती आयी है।

एफ़िड्रा की कुछ जातियाँ हिमालय से लेकर नेपाल तक फैली पायी जाती हैं। **एफ़िड्रा जेरार्डियाना** (*Ephedra gerardiana*) चकराता से ऊपर देववन में मिलता है।

डॉ० मायर्स ने भी एफ़िड्रा को वेदों का सोम माना है। एफ़िड्रा से प्राप्त अलकलॉयड 'एल एफ़ेड्रीन' तथा 'स्यूडो एफ़ेड्रीन' का साँस के रोग, खाँसी, हृदय-रोग में उपयोग करते हैं। दमे के लिए तो 'एफ़ेड्रीन' 'रामबाण' का काम करती है।

भारत के एक दूसरे चिकित्साशास्त्री डॉ० आर० एन० चोपड़ा ने दो पौधों को सोम माना है। एक तो सोमिदा या गिलोय (Giloe) जिसका वास्तविक नाम **टिनोस्पोरा कॉर्डिफ़ोलिया** (*Tinospora cordifolia*) है जो मेनिस्पर्मेसी (Menispermaceae) कुल का पौधा है और दूसरा पिस्मैरम या **रूटा ग्रैवियोलेन्स** (*Ruta graviolens*) जो रूटेसी (Rutaceae) कुल का पौधा है।

इसके अतिरिक्त कुछ और भी वनस्पतियाँ हैं जिन्हें सोम, सोमराज, सोमराजा, सोमराजी, सोमिदा, सोमम्, सोम्यू, सोमादनम् और सोम्बू नाम से जाना जाता है। दाल वाले कुल या लेगूमिनेसी (Leguminoeceae) कुल के पौधे **सोरेलिया कैरीलिफोलिया** (*Psoralea carylifolia*) को संस्कृत में 'सोम' कहते हैं। कम्पोज़िटी या एस्टेरेसी (Compositae या Asteraceae) कुल के पौधे **वेर्नोनिया एन्थेल्मिंटिका** (*Vernonia anthelmintica*) को संस्कृत और बंगला में 'सोमराज' कहते हैं। मीलिएसी कुल (Meliaceae) के पौधे **स्वायमिडा फ़ेब्रीफ़्यूगा** (*Soymida febrifuga*) को तमिल में सोमादानम् कहते हैं।

धनिया कुल (Umbelliferae या Apiaceae) के पौधे **पिम्पीनेला एनिसम** (*Pimpinella anisum*) को तमिल में 'सोम्बू' और इसी कुल के एक दूसरे पौधे सोआ या **प्यूसीडेनम ग्रैवियोलेन्स** (*Peucedanum graveolens*) को तेलुगु में 'सोम्पा' कहते हैं।

चीन में दवा में प्रयुक्त होने वाला एक पौधा **एरैलिया जिनसेंग** (*Aralia ginseng*) या **पैनक्स शेनशुंग** (Panax) जो एरालिएसी (Araliaceae) कुल का है, में सोम जैसे गुण विद्यमान हैं। आजकल इसे रूस में भी उगाया जा रहा है। हो सकता है कि प्राचीन समय (वेद काल) में यह पौधा हिमालय पर्वत पर उगता रहा हो।

इस प्रकार लगभग 100 ऐसी वनस्पतियाँ हैं जो अपने गुण के कारण 'सोम' के लिए शोधकर्ताओं का विषय रही हैं।

इस सम्बन्ध में नवीनतम खोज की है अमेरिका के वैज्ञानिक डॉ० रिचर्ड गार्डन वासन ने। उन्होंने अपनी पुस्तक 'सोम : द डिवाइन मशरूम ऑव इम्मार्टेलिटी' में अकाट्य तथ्यों के आधार पर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि वेदों में वर्णित सोम न तो पुष्पित पौधा या एन्जियोस्पर्म (Angiosperm) है और न ही जिमनोस्पर्म (Gymnosperm) है, बल्कि एक कवक, **अमानिता मस्कारिया** (*Amanita muscaria*) है। इसे 'फ़्लाइ एगेरिक' भी कहते हैं। इसका रूप न तो लता जैसा होता है और न ही इसमें पत्तियाँ या फूल होते हैं। पर वेदों में वर्णित सोम से इसकी काफी हद तक समानता है।

डॉ० रिचर्ड गार्डन वासन के अनुसार यह कवक (Fungus) साइबेरिया और नार्वे से ईशान्य रूस तक के भागों में नम पर्वत शिखरों पर पाया जाता है। वेद में वर्णित सोम का रङ्ग हरा, लाल या काला कहा गया है। सोम को बादल पुत्र कहने का मतलब यह हो सकता है कि यह वर्षा ऋतु के बाद उत्पन्न होता रहा होगा। फ़्लाइ अगरिक (अमानिता मस्कारिया) का ऊपर का भाग छतरी जैसा होता है जिसे कैप (टोपी) कहते हैं। इसका रङ्ग गहरा लाल, नारङ्गी लाल होता है। यह चिपचिपा होता है और चमकीला होता है इस पर सफेद या पीले हल्के रङ्ग के धब्बे पाये जाते हैं। डंठल या नीचे का भाग सफेद या पीला होता है। नीचे का भाग थोड़ा फूला होता है। यह साधारणतया भूमि पर चीड़ या **पाइनस** (*Pinus*) जो नग्नबीजी है और **पाइनेसी** (Pinaceae) कुल का पादप है, के वृक्षों के नीचे उगता है।

इससे कई अलकलॉयड मिलते हैं। इसका प्रयोग मद्य (शराब) के लिए भी किया जाता है। इसमें विद्यमान मस्केरीन, एट्रोपीन, स्कोपोलेमीन, हाइयोसायमीन आदि अलकलॉयड कई प्रकार से उपयोगी हैं। श्री एन० सी० शाह ने भी इस बात की पुष्टि की है कि यह कवक अफ़गानिस्तान, उत्तरी साइबेरिया और एशिया के समशीतोष्ण, वनीय भागों में बर्च या भोजपत्र-**बेटुला यूटेलिस** (*Betula utelis*) और **चीड़** (*Pinus*) के वनों में पाया जाता है।

इसके अतिरिक्त वेदों में इस बात का भी उल्लेख है कि सोम को श्येन पक्षी हिमालय से लाते थे। एक मत के अनुसार श्येन पक्षी को ही सोम कहते हैं। इस बात की भी सम्भावना है कि इस पक्षी द्वारा लाये गये वनस्पति का नाम 'सोम' पड़ गया हो।

स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती, प्रसिद्ध रसायन विज्ञानी, संस्कृत के मूर्धन्य कृतविद्य और वेदों के अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के अधिकारी विद्वान् अमानिता मस्कारिया अथवा किसी भी पादप को सोम पादप नहीं मानते। स्वामी जी का निश्चित मत है कि सोम पादप मात्र काल्पनिक या वैचारिक है, वास्तविक नहीं।

मैं यहाँ स्वामी जी को उद्धृत करता हूँ—

वासन का विचार है कि वेदों में अत्यधिक प्रशंसित सोम पादप अमानिता मस्कारिया या फ़्लाई एगेरिक ही है फिर भी मैं वासन के मत से सहमत नहीं हूँ [6]।

'सोम' शब्द दो अर्थों वाला है। सोम चन्द्रमा के लिए भी प्रयुक्त हुआ है, जो थोड़े अन्तराल से दिखता और अन्तर्ध्यान होता रहता है और संभवतः सोम को ऐसे पादप के रूप में वर्णित किया गया है जिसमें एक-एक करके 15 तक नई पत्तियाँ निकलती हैं और फिर एक-एक करके गायब हो जाती हैं, जब तक कि पौधा पर्ण विहीन हो जाये। इस दृष्टि से सोम की समानता चन्द्रमा से है। वैदिक साहित्य में 'सोम' और 'अमृत' पूर्णरूपेण काल्पनिक शब्द हैं, जो वास्तविकता के विपरीत हैं।

काल्पनिक	वास्तविक
अमृत	विष
सोम (आनन्दकर)	सुरा (शराब)
चन्द्रकान्त मणि	सूर्यकान्त मणि
(चन्द्र किरणों को केन्द्रित करके बर्फ बनाने वाला)	(सूर्य किरणों को केन्द्रित करने वाला)

किन्तु स्वामी जी के इस विचार से मैं सहमत नहीं हूँ कि सोम काल्पनिक पादप है। मैं श्याम मनोहर मिश्र (1992) के इस विचार से भी सहमत नहीं हूँ कि 'सोमरस' मादक द्रव्य नहीं है। मेरे विचार से 'सोमरस' को मादक या नशीला पेय होना चाहिए।

किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन समय में भी सोम भारत के विभिन्न भागों में पाया जाने वाला केवल एक साधारण पौधा ही नहीं रहा होगा। यह दूसरी बात है कि धनिक वर्ग के लोगों के लिए जिस विशेष पौधे से सोमरस तैयार किया जाता रहा होगा वह आसानी से उपलब्ध नहीं रहा होगा। इसी प्रकार सोमरस-पान के सभी जन पात्र नहीं थे। यह केवल देवताओं और ऋषियों के लिए रहा होगा। धीरे-धीरे अन्य लोगों ने भी दूसरे बहुत से पौधों से पेय तैयार करके इसका नाम सोमरस रख लिया होगा। कालान्तर में उन सभी पौधों को, जिन्हें वे सोमरस के लिये उपयोग में लाते थे, 'सोम' नाम दे दिया गया।

यह सच है कि सोमपादप को ढूँढ़ने में वैज्ञानिकों को अभी भी सफलता हाथ नहीं लगी है किन्तु किसी भी सफल खोज के पीछे असफलताओं की लम्बी कड़ी होती है। मेरा विश्वास है कि यदि वनस्पति विज्ञानी, रसायन विज्ञानी और पुरातत्त्ववेत्ता मिल-जुल कर काम करें तो सफलता अवश्य मिलेगी। धीरे-धीरे हम सोम पादप की खोज के निकट पहुँच रहे हैं। सभी वैज्ञानिक खोजें पहले वैचारिक स्तर पर ही की जाती हैं और वह दिन दूर नहीं जब हम सोम पादप को ढूँढ़ लेने में सफल हो जायें।

सन्दर्भ सङ्केत :

1. चोपड़ा, आर0 टी0 (1958) : इण्डिजिनस ड्रग्स ऑव इण्डिया.
2. डथी, जे0 एफ़0 (1960) : फ्लोरा ऑव अपर गंजेटिक प्लेन.
3. गुप्त, वीरेश्वर (1952) : 'सोमलता ऑव ऋग्वेद', 'जर्नल ऑव साइंस क्लब, कलकत्ता, नं0 6, पृष्ठ 20-24.
4. कुण्डू, बी0 सी0 गुप्त, बी0 (1963) : क्लैसीफ़िकेशन ऑव ड्रग्स इन एन्शिएण्ट इण्डिया, बुलेटिन ऑव द नेशनल इंस्टीट्यूट ऑव साइंसेज ऑव इण्डिया, नं0 21, पृ0 244-250.
5. महेश्वरी, पी0 (1963) : बुलेटिन ऑव द नेशनल इंस्टीट्यूट ऑव साइंसेज ऑव इण्डिया, नं0 21.
6. मिश्र, श्याम मनोहर (1992) : सोम : ए नान-इंटॉक्सिकेटिंग सैकरेड ड्रिंक' प्रो0 के0 डी0 बाजपेयी कमोमेरेशन वाल्यूम, पृ0 246-250.
7. मोनियर-विलिएम्स (1956) : संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, ऑक्सफ़ोर्ड, पृ0 1249-1251.
8. सरस्वती, स्वामी सत्यप्रकाश (1988) : 'इज़ सोम ए मशरूम? द जर्नल ऑव द इण्टरनेशनल दयानन्द वेद-पीठ, वाल्यूम 1, नं0 1, मार्च 1977. पृ0 115-122.
9. शास्त्री, विजयेन्द्र रामकृष्ण (1963) : बुलेटिन ऑव द नेशनल इंस्टीट्यूट ऑव साइंसेज़ ऑव इण्डिया, नं0 21, पृ0 94-104.
10. विद्यालंकार, अत्रिदेव (1963) : 'भैषज्य संहिता' लखनऊ.
11. वासन, आर0 जी0 (1969) : 'सोम : डिवाइन मशरूम ऑव इम्मार्टेलिटी', न्यूयार्क एण्ड माउटन।

❒

वैदिक संहिता में चिकित्सा विज्ञान

विद्यावाचस्पति डॉ० उमारमण झा *

भारतीय संस्कृति का मूलाधार वेद है। इष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट के परिहार के लिए वेद अलौकिक उपाय है। वेद में न केवल धर्म की बात है अपितु मानव-जीवन के विभिन्न पहलुओं पर चिन्तन-मनन करके ही वेद का निर्माण हुआ है। मानव जीवन को सुव्यवस्थित रखने के लिए चिकित्सा विज्ञान पर प्राचीन काल में भी चिन्तन हुआ था। आयुर्वेदशास्त्र चिकित्सा विज्ञान का ही अपर रूप है। इसको कुछ विद्वान् ऋग्वेद का उपवेद मानते हैं और कुछ विद्वान् अथर्ववेद का उपवेद। आयुर्वेद या चिकित्सा विज्ञान के मूल चिन्तक ब्रह्मा हुए—

आयुर्वेदोनाम पुण्यतमं शास्त्रं वेदानभ्यस्य भगवान् लोकपितामहो ब्रह्मादौ निर्ममे। ब्रह्मणः सकाशात् प्रजापतिरधिजग्राह। प्रजापतेरश्विनौ, अश्विनीभ्यामिन्द्रः ततो धन्वन्तरिभरद्वाजौ, ताभ्यां सुश्रुत उरभ्र-अग्निवेश भेल प्रभृतयो महान्तः संहिताकृतः प्राञ्चः।

यह चिकित्सा विज्ञान परम उपयोगी यशवर्द्धक, आयुरक्षक तथा पौष्टिक है। चिकित्साशास्त्र का प्रमुख लक्ष्य है रोग निवारण। प्राचीन काल में रोग निवारण से अधिक ध्यान रोग न हो इस पर था। प्राचीन वैदिक संहिता में मानव जीवन के दीर्घायु के लिए लता-वन-वनस्पति-वृक्ष-नदी का भी महत्त्व प्रतिपादित है।

नमो वृक्षेभ्यः—यजु० 16.17, **वृक्षाणां पतये नमः ओषधीनां पतये नमः, अरण्यानां पतये नमः** यजु० 16.20 इत्यादि सन्दर्भों से स्पष्ट है कि पर्यावरण के संरक्षण तथा दीर्घायु की रक्षा के लिए इन वनस्पतियों को नमस्कार किया गया है।

मधुमान्नो वनस्पतिः—ऋ० 21.90.80 **सुमित्रया न आप ओषधयः सन्तु**—यजु० 36.23, **ओषधयः शान्तिः वनस्पतयः शान्तिः**—यजु० 36.96, **माध्वीर्नः सन्त्वोऽषधीः**—यजु० 13.27 इत्यादि सन्दर्भों से स्पष्ट है कि जल, वनस्पति आदि मानव जीवन के लिए उपयोगी व लाभदायक औषधियाँ हैं।

शुद्ध प्राण वायु जीवन के लिए आवश्यक है। वृक्ष एवं वनस्पति वायु को प्राणवान् एवं मधुमय बनाते हैं। प्रदूषण रहित वायु संसार के लिए दवा है। इस प्रकार की वायु को विश्वभेषज कहा गया है—

---

* प्राचार्य, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ विशालखण्ड-4, गोमतीनगर, लखनऊ, उ0 प्र0

आ वात वाहि भेषजं वि वातं वाहि यद्रपः।

त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयसे।। ऋ० 10.137-3

वैदिक काल में मन्त्र द्रष्टा ऋषियों को ज्ञात था कि भेषजवात हृदय के लिए सुखकर तथा आयुवर्धक होता है—

वात आ वातु भेषजं शंभु मयोभु नो हृदे। प्रण आयूँषि तारिषत्। ऋ० 10.186.1

यज्ञ से वायु शुद्ध होती है, वर्षा होती है और मानव स्वस्थ रहते हैं, यज्ञ मनुष्य को अमर बनाता है— **यज्ञममृतं मर्त्येषु** ऐसा पाठ ऋग्वेद में है। यज्ञ कामनापूर्ति के लिए भी होता है। पुत्र प्राप्ति जैसे कार्य के लिए भी यज्ञ का विधान है। वस्तुतः यजुर्वेद में यह एक चिकित्सा विज्ञान का ही विषय है कि कैसे यज्ञ द्वारा पुत्र की प्राप्ति हो। गीता में भी यज्ञ का महत्त्व प्रतिपादित है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।

अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।। गीता 3-10

यज्ञ में गुग्गुल-पिप्पल आदि द्रव्यों के प्रयोग से यक्ष्मा रोग का निवारण बताया गया है—

न तं यक्ष्मा अरुन्धते, नैनं शपथो अश्नुते।

यं भेषजस्य गुल्गुलोः, सुरभिर्गन्धो अश्नुते।। अथर्व० 19/38/1

यजुर्वेद में कर्मकाण्ड द्वारा चिकित्सा विज्ञान तथा स्वस्थ जीवन पर विचार है। सामवेद में दीर्घायु एवं स्वस्थ रहने के गान हैं। अथर्ववेद संहिता में पूर्ण रूप से चिकित्सा विज्ञान के सन्दर्भ मिलते हैं। शरीर-रचना एवं क्रिया-विज्ञान के साथ ही अनेक प्रकार के रोगों को दूर करने के उपायों, औषधियों, चिकित्सा पद्धतियों तथा कृमियों के विषय में विवेचन मिलता है। वैदिक काल में मनुष्य किन-किन रोगों से पीड़ित होते थे, उनका उपचार किस प्रकार होता था, इसके ज्ञान के लिए हमें अथर्ववेद के विभिन्न मन्त्रों पर ध्यान देना चाहिए, जिनमें औषधियों, रोगों, रोग कृमियों तथा तत्कालीन उपचार पद्धतियों पर विचार किया गया है।

अथर्ववेद के विभिन्न मन्त्रों में शरीर के प्रत्येक अङ्ग में होने वाले रोगों का उल्लेख है। इन रोगों को दूर करने के लिए औषधियों को सम्बोधित करके प्रार्थना की गयी है। रोग के कीटाणुओं एवं कृमियों के विषय में विस्तृत वर्णन मिलता है।

म० म० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने **'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति'** नामक ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक चिकित्सा विज्ञान पर प्रकाश डाला है।

भोजन एवं जल के साथ अनेक हानिकारक कृमि मनुष्य के आमाशय में प्रवेश कर जाते हैं और शरीर के विभिन्न अङ्गों को रोगग्रस्त कर देते हैं। यहाँ अवस्कव तथा व्यध्वर नामक दो कृमियों की चर्चा है जो आँत में जाकर रोग फैलाता है—

अन्वान्त्र्यं शीर्षण्यमथो पार्ष्टेयं क्रिमीन्।
अवस्कवं व्यध्वरं क्रिमीन् वचसा जम्भयामसि।। अथर्व० 2/31/4

रोग कृमियों के लिए अथर्ववेद में, राक्षस, पिशाच क्रव्याद, ग्राही, निर्ऋृति आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं ये सभी शब्द यमदूत के लिए प्रयोग में लाये जाते हैं। अथर्ववेद में दो प्रकार की व्याधियों की चर्चा है—शपस्य और वरुण्य। शपस्य व्याधि आहारादि निमित्त से अर्थात् कुपथ्य से होती है। वरुण्य व्याधि जन्मान्तर में किये गये पापों के फलस्वरूप होती है। स्वतः उत्पन्न होने वाली व्याधि को रोग तथा बाह्य कारणों से उत्पन्न होने वाली व्याधि को आस्राव कहा गया है। व्याधियों को लक्षण के आधार पर पहचाना जाता था। मन्त्रों, रक्षाकवचों और आन्तरिक रूप से ली जाने वाली औषधियों के अतिरिक्त जल को महान् चिकित्साकारक एवं जीवन प्रद गुणों से युक्त माना जाता था—

अप्सु अन्तरमृतमप्सु भेषजम् अथ० 1/4/4

वनस्पतियों में चिकित्साकारक गुण माना गया है। सर्पविषों के लिए मन्त्र एवं विषोपशामक वनस्पतियों का प्रचलन था। आयुवर्धन, पुंस्त्व प्राप्ति आदि के लिए मन्त्र, रक्षा, कवच, मणियों तथा विशिष्ट औषधियों की चिकित्सा भी थी। अशुभ कर्म के कारण, शत्रुओं द्वारा मान्त्रिक प्रयोग होने पर, दुष्ट प्रेतात्मा के वशीभूत होने पर या देवताओं के प्रकोप के कारण व्याधियाँ होती है, ऐसा अथर्ववेद में विवेचन है।

वेदों में प्राकृतिक पदार्थों के द्वारा चिकित्सा कार्य पर ज्यादा बल दिया जाता था। मिट्टी, पर्वत, जल, नदी, स्रोत, मेघवृष्टि, अग्नि, विद्युत, वायु, सूर्य, चन्द्रादि प्राकृतिक पदार्थों से चिकित्सा विधान है। मूत्ररोग की चिकित्सा सूर्यरश्मि, जल एवं मानसिक शक्तियों द्वारा बतायी गयी है। प्रातः काल जब मूल नक्षत्र का उदय होता है, उस समय स्नान करने से कुष्ठ आदि रोग दूर हो जाते हैं।

उपजीव्योद्भृत (बाँबी की मिट्टी) में नासूर के घाव भरने, मूर्च्छा भय और सर्प विष को दूर करने का गुण रहता है। अथर्ववेद में बाँबी की मिट्टी को आस्राव भेषज अथर्व० 2/3/4 कहा गया है।

जल द्वारा भी कुछ रोगों का निदान है। घाव भरने, निद्राक्षय, स्वप्नदोष तथा वंशानुगत रोगों को दूर करने का अनुपम गुण जल में विद्यमान है। अग्नि द्वारा शीत रोग का नाश किया जाता है। यह सर्पविषनाशक, कृमिनाशक तथा मूत्रावरोध की चिकित्सा में उपयोगी है। गर्भवती के लिए अग्नि सुखकारक है। अग्नि से अनेक रोगों के नाश की प्रार्थना की गयी है। वायु द्वारा शरीर के अन्दर का रक्त शुद्ध होता है। वायु विश्व-भेषज है।

सूर्य हृदयरोग, कामला, अपची तथा शिरोरोगों की चिकित्सा में महत्त्वपूर्ण है। सूर्य मनुष्य के लिए जीवनदाता है। सूर्य की किरणें रोगों के विष को बाहर खींच लेती हैं। कृमि रोग, बाल रोग, पुरुष रोग (नपुंसकता निवारण), विषचिकित्सा, हृदयरोग, पाण्डु, कमला, मूत्रावरोध आदि में सूर्य की किरणें विशेष लाभप्रद हैं। सूर्योपासना, सूर्य नमस्कार तथा सूर्य स्नान का रोग निवारण के लिए महत्त्व बतलाया गया है। अथर्ववेद में रोगों के निवारणार्थ भिन्न-भिन्न चिकित्सा पद्धतियाँ हैं। आश्वासन चिकित्सा पद्धति भी अथर्ववेद

में वर्णित है। मन्त्र द्वारा ज्वर के निवारण का विधान अथर्ववेद में प्राप्त है। अथर्ववेद में उपचार-चिकित्सा पर काफी चर्चा है। रोगमुक्ति के लिए आत्मीय जन ही उपचार करें। अथर्ववेद में मणि बन्धनादियुक्त उपचार का भी विधान है। मणि, औषधि, वनस्पतियों से युक्त रोग स्तम्भन गुटिका का विधान है। लगभग 22 मणियों का उल्लेख है जिनका प्रयोग व्याधि निवारणार्थ किया जाता था।

अथर्ववेद में शल्य चिकित्सा की विशेष चर्चा है परन्तु उसका प्रयोग कम होता था। मूत्र निःसारण, योनि भेदन, व्रण उपचार, रक्तस्राव आदि में शल्य चिकित्सा का विधान है। विष निवारण के लिए भी शल्य चिकित्सा का निर्देश है। अथर्ववेद में चेतना प्रदान करने वाली औषधियों का भी वर्णन है।

वैदिक काल में वैद्यों द्वारा औषधि चिकित्सा कर्म प्रारम्भ हो गया था। प्राकृतिक खनिज, समुद्रज तथा उद्भिज द्रव्यों का औषधियों के रूप में प्रयोग होता था। औषधियाँ जीवनदायिनी एवं अङ्ग-अङ्ग से रोग का नाश करने वाली कही गयी हैं। इस प्रकार ऋग्वेद से लेकर अथर्ववेद संहिता तक सभी संहिताओं में चिकित्सा विज्ञान की चर्चा है।

❐

वैदिक वनस्पतिशास्त्र और मेधाजनन

डॉ. हरिशङ्कर त्रिपाठी *

वैदिक ऋषि वनस्पतियों को सप्राण, सजीव मानता है, उनमें चेतनता का दर्शन करता है। इसीलिए, वह इन्हें चैतन्ययुक्त मानवसदृश स्वीकारता है, इससे भी आगे बढ़ कर उनमें देवत्व का आधान करता है, देवरूप मानता है, उन्हें चेतनवत् सम्बोधन करता है, उनकी स्तुति करता है, पूजन करता है। उनकी उपासना में अनेकशः मन्त्र समर्पित करता है। **वनस्पते शतवल्शः** आदि कथनों में औषधियाँ सम्बोधित हैं। इन औषधियों को चिकित्सक घूम-घूम कर सङ्ग्रहीत करता था। सृ > चर् का अर्थ 'घूमना' है। चरक का अर्थ है 'घूम-घूम कर औषधियों का सङ्ग्रह और उपचार करने वाला'। चर का आँग्ल रूप Cure है, Secure भी इसी से सम्बद्ध है। आ॰ फा॰ में चारः चारा `remedy' का वाचक है। बेचारा, लाचार इसी से बने पद हैं। संस्कृत में अभिचार, उपचार भी एतद्धातुज पद हैं। चित् कित् संज्ञाने से चिकित्सक 'जानने की इच्छा वाला रोगादिविज्ञ तदुपचारकृत्' पद् प्राप्त है। विद् से वैद्य पद तथा 'कव् दूरगामी होना, शोधकृत् होना' से कविराज पद इसी अर्थ में प्राप्त है। अभिषक् = अवेस्ता अइबिश्हक् 'चारों ओर घूमने वाला' से 'अ' लोपी रूप भिषक् हुआ है। भिषक् 'घूम घूम कर औषध-संधानकृत् भैषज्यकृत्' है। भिषक् का कर्म 'भैषज्यम्' है। भिषज्यति का अर्थ 'उपचार करना' है। भैषज्यकर्मोपयोगी वनस्पतियाँ, भेषज- अवे॰ बएषज़ हैं। भेषज का अर्थ 'ओषधि' है। 'उष् दाहे' से ओषः पाकः 'परिपक्वता' की निष्पत्ति है। ओष 'परिपाकयुक्त' वनस्पतियों को ओषधि कहा गया है। ओषधियों का उपचारकर्म में प्रयोग होने पर इन्हें औषध कहा जाता है। अवेस्ता में अओषो = 'ओषः' 'जलने, जल कर मरने, पुनः मरने' का वाचक है। अनओष का अर्थ 'अमरता, अनश्वरता, मृत्युञ्जयिता' है। अनोषदारु से नौसादर पद बना है। अनओष > नोश का अर्थ 'पान' हो गया है। नोश-नोश 'छक कर पीने' का वाचक है।

वृध् वृद्धौ = अवे॰ वरॅध् से उरुथत् से सं॰ तरु > tree पद का विकास हुआ है। वृध्॰ वरॅध् से धात्वन्त्य का 'स्' हो कर वरॅस > वृक्ष पद निर्गत है। वन् सम्भक्तौ `> win' से अवे॰ वना॰ सं॰ वनस्, वनस् का पुनः वनस्पति पद निष्पन्न हुआ है। वनस् से वंश पद विकसित है। वंश bamboo के करील के अतिशयित उद्भव और झटिति विकास के मनोविज्ञान के कारण 'कुल' को भी वंश कहा गया। वृत् वर्तने = अवे॰ वरॅत् > 'लिपटना, लौटना' से व्रतति, लता, लतिका, लिबुजा पद निष्पन्न हैं। वृक्ष का वाचक दारु, द्रु > wood, द्रुम वृक्षवाचक

* अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, उ0प्र0 (अवकाश प्राप्त)

हैं। दारु से दाख > दाव = 'वन' का विकास है। द्रव-दारु से दवा और दारु पद प्राप्त होते हैं। भ्रमवश द्रव से 'दवा' सामान्य औषध और दारु 'शराब' का वाचक हो गया है। चिकित्साशास्त्र और तन्त्र में वृक्षों के पञ्चाङ्ग का प्रयोग होता है। पञ्चाङ्ग में पर्ण, पुष्प, मूल, फल एव वल्क का उपयोग विहित है। पर्ण पर्णस् - 'पृ पूरणे' से निष्पन्न है। पर्ण, पर्णस् का आँग्ल रुपान्तर leaf है। पर्णवन्त् से पल्लव, उत्पर्ण से उत्पल तथा पर्णश से पलाश पद बने हैं। पर्ण का पर्यायरूप पत्र है। जो गिरने के कारण पत्-धातुज है। वृ आवरणे से वल्क = अवे० वरॅक > आँग्ल bark पद निष्पन्न है। हिन्दी वोकला, खाल, छाल इसी का विकार है। 'पुष्' धातु से पुष्प शब्द बना है। 'सु प्रसवे' से सु-म, सु-मनस्, कु-सु-म, प्रसून पद पुष्प के पर्याय पद हैं। स्फुर्, स्फुल् से फुल्ल > flower तथा फलम् > fruit पद निष्पन्न हैं। पुष्प-राग का संक्षिप्त होकर पराग पद बना है। 'स्मृ > Smell' > महकना, महमहाना' से परिमल तथा मकरन्द पद उद्भूत हैं, स्मृ का स्वृ होकर सुरभि हुआ है। यद्वा, सु 'अच्छा' पूर्वक। रभ् 'स्पर्श करना' से सुरभि पद 'महक' का वाचक है। गंध् 'महकना' से गंध = अवे० गइन्ति पद इसी अर्थ में प्रयुक्त है। अवेस्ता में, बुध् धातुज बओइधि > आ० फा० बू 'गंध', 'खुशबू' 'बदबू' पद बने हैं। मधुमक्षिकाओं के द्वारा पुष्प-पराग संग्रह से मधु > mead का निर्माण होता है। पुष्प तथा मधु दोनों का औषधीय उपयोग है। 'मिह् सेचने' से 'मूलम्' पद बना है। स्रस्व् = अवे० सरॅस्क् से > रसना, रिसना' से रस पद बना है। पञ्चाङ्गों को कूट कर रस निकालने का कार्य किया जाता था।

इन वनस्पतियों के नामकरण का आधार गुण है। ध्वृ > glow, glitter से 'घुर्ण् > गुण० अवे० गओन> आ० फा० गून् पद निष्पन्न है। गुण मूलतः 'वर्ण' का वाचक है। ध्वृ का क्वृ होकर आँग्ल Colour पद प्राप्त होता है। इसी से आँग्ल 'quality' `property' पद भी है। ये वर्ण श्वेत, रक्त, कृष्ण, नील, पील, हरित हैं। ऋज् का अर्थ 'श्वेत होना' है। ऋज् > अर्ज् से अर्जुन तथा 'ज्' लोपी रूप अरुण है। ध्वृ से गुण तथा फारसी गुल 'रक्त' गुलाब, गुड़हल 'रक्तपुष्प' पद निर्गत है। मञ्ज् 'रक्त होना' मङ्गल 'रक्त अतएव शुभ', 'मञ्जु, मञ्जुल, मङ्गु > मूँगा पद प्राप्त होते हैं। श्वित् > be white से श्वेत = अवे० स्पएत, शिति, श्विति = अवे० स्पिति > सफेद पद बने हैं। इसी से कुन्द पद भी निर्गत है। श्वित् = स्पित् से पाण्डु, पाण्डुर, पाण्डुर, पाटल, पीत, पित्तम्, पित्तलम्, कपिश, पुण्ड्र, पिंग, पिशङ्ग, पिङ्गल, पिञ्जर आदि ईषदर्थभेदयुक्त पद हैं।

ऋज् रज् 'चमकना' से रङ्ग 'वर्ण' पुनः लाल पद बना है। बाद में रङ्ग राग वर्णसामान्य का वाचक हो गया। कृष् का अर्थ 'काला होना' है। कृष्ण का अर्थ 'काला' है। 'कृष्ण से black पद विकसित हैं। कृष्ण का विकार नील है। black का विकार blue है। ध्वृ का हिर्, ध्वृ का ही ज्वल् हुआ है। हिर् से हिरण्य 'जरन्य > gold, हरित = जइरित पद बने हैं। 'स्वृ कान्तौ' से स्वर्ण 'कान्त, पीतकान्त' पद निर्गत है। वनस्पति के नाम इन विविध वर्णों रगों के आधार पर हुए हैं। नीलोत्पल > आ० फा० नीलोफर नाम वर्ण के कारण है। अर्जुन, गुडहल, गुलाब, पाटल, पुण्ड्र, कुन्द वर्णज नाम हैं। कृष्णापराजिता या विष्णुक्रान्ता श्वेतापराजिता या शिवाक्रान्ता भी वर्णज नाम है।

नामकरण का द्वितीय आधार आकृति अथवा आकार रूप है। पुष्परूप के आधार पर उत्पर्ण > उत्पल नाम प्राप्त है। गो के कर्ण से समानता के कारण एक औषध गोकर्णी है। अवेस्तीय गओकरॅन 'श्वेत सोम' >

गाँजा नाम भी रूप पर आधारित है।

सामर्थ्य गुण `property' के आधार पर नागफणी, कण्टकारि, अमृता, ब्राह्मी, विजया, लज्जावती 'छुई मुई', जीवत् - पुत्रिका, रुद्रवन्ती 'सोनागाछी', त्रिधारा नाम प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार, पर्णश > पलाश, हरीककी, मधूक, लक्ष्मणा, ब्राह्मी, वचा आदि नाम भी गुणज नाम हैं।

प्रस्तुत लेख में केवल 'मेधाजनन' को ग्रहण किया जा रहा है। 'मन् विचारणे' से मनस् 'चिन्तन, 'चिन्तनशक्ति' पद बना है। मनह् धा से अवेस्तीय-'मज़्दाह्' पद विकसित है। मज़्दाह् का विकास मेधा है। मेधा से मेधिर-'मेधायुक्त' पद बना है। प्राचीन काल में पर्याप्त लेखन कला का अभाव था। 'स्मृति' के आधार पर अध्ययन अध्यापन कार्य सम्पादित था। सुन कर किसी विषय को कण्ठस्थ कर लेना पड़ता था। क्योंकि आलेख सामग्री का अभाव था। विषय की यथोचित सुरक्षा कठिन कार्य था। किसी विषय को एक ही बार में सुन कर पुनः कहने वाला 'श्रुतनिगादी' कहा जाता था। यह गुण 'श्रुतनिगादित्व' गुण है। इसीलिए, समग्र वेद को 'श्रुति' तथा परवर्ती एक विशेष प्रकार के विधि-साहित्य को 'स्मृति' कहा गया है। स्मरण शक्ति या श्रुतनिगादित्व उस युग का समादरणीय गुण था। राजा लोग श्रुतनिगादित्व का परीक्षण तथा तद्गुणविशिष्ट को पुरस्कृत करते थे। स्मरणशक्तिसंवर्धन या श्रुतनिगादित्व के परवर्ती वैदिक साहित्य तन्त्र और वैद्यक शास्त्र में अनेकशः विधान विहित हैं। जन्म के समय बालकों की जिह्वा पर मध्वाज्य यद्वा गोरोचन रस से स्वर्णशलाका द्वारा बीज मन्त्रों के लिखने के अनेकानेक विधान हैं।

श्रुतस्य धारणम् और धृतस्य अनिराकरणम्—श्रुत का धारण और धृत का स्मरण–दोनों सुसम्बद्ध बुद्धिधर्म हैं। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। एतदर्थ अनेकशः मन्त्र भी सम्प्रवृत्त हैं—

(i) यश्च्छन्दसां वृषभो विश्वरूपः
छन्दोऽभ्योऽध्यमृतात् सम्बभूव।
स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु
श्रुतस्य देव धारणो भूयासम्।।

(ii) शरीरं मे विचक्षणं जिह्वा मे मधुमत्तमा।
कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवं ब्रह्मणः कोशोऽस्ति मेधया पिहितः ।।
श्रुतं मे गोपाय।।

(iii) ॐ ऐं नमो ब्रह्मणे धारणं मे ऽस्त्वनिराकरणं मेऽस्वत्वनिराकरणं धारयित्वा भूयासम्, क्लीं कर्णयोः श्रुतं मा च्वोढ्वम् ममो३म् सौः ओ३म्।।

पौराणिक साहित्य ने औषधगुणीय वनस्पतियों को धर्म का अंग मान लिया। पारदतत्त्वयुक्त तुलसी को विष्णुरूप = शालिग्राम पर चढ़ाने और प्रसादरूप ग्रहण करने का विधान है। एवमेव स्वर्णांशमय बिल्वपत्र को शिवार्पण करने का विधान बना। आमलक और बिल्व को साक्षात् लक्ष्मीरूप कहा गया। निम्ब को शीतला का विग्रह कहा गया।

सोम वैदिक ऋषि का प्रियतम पेय है। 'सु अभिषवे' = अवे० 'हु' से सोम = अवे० हओम पद निष्पन्न है। वर्तमान भङ्ग = अवे० बङ्ग ही सोम है। सोम की भङ्गरूपता की दृष्टि से मेरा लेख **'सोम की पहचान'** पठनीय है। भङ्ग मेधिरताप्रद है। विद्याव्यसनी ब्राह्मणों में भङ्गपान परम्परा प्राप्त है। सोम यद्वा भङ्गपान गोदुग्ध के साथ विहित है। यह अमरताप्रद है—**अपाम सोमममृता अभूम अगन्म देवान् अविदाम ज्योतींषि**—सोमसावी सोमपायी का उद्घोष है। अविस्तीय हओम मेधिरताप्रद, सद्विचारप्रद भैषज्यगुणीय है। एतदर्थ मेरा 'अवेस्ता हओमयस्त' ग्रन्थ द्रष्टव्य है। सोम के साथ कुछ मेघाजननात्मक औषधियों का प्रयोग होता रहा है। अवेस्ता में गओकरॅन 'श्वेत सोम' का उल्लेख है। गओकरॅन आधुनिक गाँजा है। गाँजा और भाँग साधुओं का प्रिय पेय है। सोम का सम्बन्ध शिव से है। आगे कुछ मेधिरतादायक औषधियों के प्रयोगों का वर्णन किया जायेगा। यद्यपि इन मेधिरताप्रद औषधियों का प्रयोग अमन्त्रक भी संभव है। क्योंकि इनमें मेधिरता-गुण अपना स्वकीय है। वैशिष्ट्य के लिए प्रयोगों में मन्त्र का भी विधान है। यहाँ समन्त्रक एवं अमन्त्रक उभयविध विधान गृहीत हैं।

कुछ वैदिक वनस्पतियों का मेधाजननार्थ और श्रुतिनिगादित्व हेतु उपयोग एवंविध है—

ब्राह्मी-

'वृध्' का अर्थ 'बढ़ना' है। * वृधत् से bigh तथा great पद विकसित हैं। बृहन्त् = अवे० बॅरेज़न्त् से आ० फा० बुलन्द बना है। बृह् का आ० फा० बालीदन् बुर्ज़ीतन् हुआ है। ब्रहम का अर्थ 'व्यापक, प्रवृद्ध, विभु > ईश्वर' है। ब्रह्म मेधिरता का भी पर्याय है, ब्राह्मण उसी का रूप है। ब्राह्मी ब्रह्म ब्राह्मणत्वगुण वर्धिका है।

(क) आठ रात बिना अन्न ग्रहण किए भूखा रहे। पुनः, ब्राह्मी को उखाड़ कर **प्रजापतेर्हृदयेन** [आ० गा०, 5. 8. 243 स्तोम] को सहस्र बार गाकर अभिमन्त्रित कर ब्राह्मी रस पिये, तो श्रुतिनिगादित्व प्राप्त होता है।

(ख) 1. ब्राह्मी के पुष्प को वर्ष भर तक **यण्वेन** [आ० गा०, 3 .4. 72.1] का गायन करते हुए सेवन करे, श्रुतिनिगादित्व प्राप्त होता है।

2. भारद्वाज पक्षी की जिह्वा काटकर शुष्क चूर्ण कर मधुसर्पिष् से संयुक्त कर बालक को **इन्द्रमिद् गाथिनो बृहद्** [ग्रा० गा०, 55. 198.1] से खिलाने का भी विधान है।

3. एक अन्य विधान भी है। कुमार के कर्णद्वय में स्वर्ण रख कर—"**मेधां ते देवः सविता मेधां देवी सरस्वती मेधां ते अश्विनौ धत्तां पुष्करस्रजौ**" मन्त्र जप करना चाहिए।

4. माघ कृष्ण त्रयोदशी को सायं ब्राह्मी का पूजन कर "**ओ३म् कुमारजन्यै नमः**" मन्त्र इक्कीस बार पढ़ कर कामनानिर्देश करे। चतुर्दशी को प्रातः चार बजे मौन रह कर "**ओ३म् ऐं बुद्धिवर्धिन्यै नमः**" मन्त्र इक्कीस बार पढ़ कर उत्पाटित कर ले आए। पुनः गंगातट पर बैठ कर "**ओ३म् ऐं वाग्वादिनि सरस्वति मम जिह्वाग्रे वस मह्यं सर्वविद्यां देहि स्वाहा**" मन्त्र से उलूखल में कूटता हुआ नाभिपर्यन्त जल में खड़े होकर रसपान करे।

वचा–

वच् > उच् का अर्थ 'बोलना' है। वच् से वचस् अवे० वचह् पद बना है। वाक् = अवे० वाक्ष् भी एतद्धातुज है। वाक् का आँग्ल रूप Voice है। वाक् प्रेरकतारूप गुण से युक्त होने के कारण, वचा को वाक्, वाच् > वचा कहा गया है। इसके कुछ मेधाजनन प्रयोग एवंविध हैं—

(i) आधा तोला पीसी गई वचा को "पूर्वं वाचो व्रतम् हुवे वाचाम्" [आ० गा०, 4. 1. 16 स्तोम] को गाते हुए जल पीए, श्रुतिनिगादित्व की प्राप्ति होगी।

(ii) वचा की त्रिवृत मणि बना कर अग्नि के पास रख दे। पुनः, "वाचो व्रतेन उत्तरेण हुवाइ वाचाम्" [आ० गा०, 4. 1. 168, स्तोम; ग्रा० गा०, 10. 121. 1] मन्त्र से अग्नि में एकादशशत बार हवन कर मणि को सिर पर धारण करे।

(iii) वचा और मधु दोनों मुँह में रख कर "अपां फेनेन" [आ० गा०, 10. 121. 1] का मन ही मन उच्चारण करते हुए निगल जाए। पुनः, "राजन्वानहमराजस्त्वमि" कह कर वादी से विवाद करे, विजय होगी।

(iv) दस सहस्र सारस्वत मन्त्र से वचा को अभिमन्त्रित कर बालक को कण्ठ में बाँध दे, एक वर्ष बालक को खिला दे, बालक को कवित्वशक्ति प्राप्त होगी–

"संजयन्मन्त्रमयुतं वचां बालस्य कण्ठतः।
वत्सरे प्राप्ते भक्षिता सा कवित्वकृत्।।" ताराभक्तिसुधार्णव

(v) दुग्ध अथवा घृत के साथ एक मास वचा का सेवन करे, मेधा की प्राप्ति और श्रुतिनिगादित्व प्राप्त होगा—

"अद्भिर्वा पयसाज्येन मासमेकं तु सेविता।
वचो कुर्यान्नरं प्राज्ञं श्रुतिधारणसंयुतम्।।" गरुड पु०, 92. 37

(vi) चन्द्रग्रहण अथवा सूर्यग्रहण में एक पल वचा दुग्ध के साथ पिये, व्यक्ति महाप्राज्ञ हो जाएगा—

"चन्द्रसूर्यग्रहे पीतं पलमेकं पयोऽन्वितम्।
वचायास्तत्क्षणं कुर्यान् महाप्राज्ञयुतं नरम्।।" गरुण पु०, 92. 38

(vii) आमलक फल के रस में भावित वचाचूर्ण को दिन में घृत के साथ निष्कमात्र चाटे, वाक्शुद्धि स्मृति और बुद्धि बढ़ेगी—

"धात्री रसफलैर्भाव्यं वचाचूर्णं दिनावधि।
घृतेन लेहयेन्निष्कं वाक्शुद्धिस्मृतिबुद्धिकृत्।।" कामरत्न

शंखपुष्पी–

शंख के आकार के तद्वर्ण पुष्पों वाली वनस्पति शंखपुष्पी है। यह शीत गुण वाली प्रायः गीष्मर्तु में दृष्टिगत होती है। इसका प्रयोग मेधाजनन में विहित है—

(i) मत्सत्याक्षक शंखपुष्पी और घृत की एकादश शत आहुतियाँ "बार्हद् गिरेण" [ग्रा० गा, 11.7. 411. 5-7] से देकर उसी का भक्षण करे, श्रुतिनिगादित्व की प्राप्ति होगी।

ज्योतिष्मती–

"ज्योतिष्मतीभवं तैलं कर्षमात्रं सुमन्त्रितम्।
उपरागे जलस्थो योऽश्नीयात् वाचस्पतिर्भवेत्।।" ताराभक्तिसुधार्णव

मिश्रित प्रयोग–

आगे कई मेधिरताजनक औषधियों के प्रयोग को ग्रहण किया जा रहा है।

(i) शुण्डी और शर्करा क्षौद्रमधु में मिला कर मुण्डिकामात्र 'थोड़ा सा भक्षण करने पर व्यक्ति कोकिलकण्ठ हो जाता है—

"शुण्डी च शर्करा चैव तथा क्षौद्रेण संयुता।
कोकिलस्वर एव स्याद् मुण्डिकाभुक्तिमात्रतः।।"

(ii) अदरख, भद्रक, हल्दी, वच, वाकुचि, ब्राहमी—इनका चूर्ण सद्यः घृत में मिलाकर पिए; व्यक्ति कोकिलकण्ठ हो जाता है—

"अद्रकभद्रकपीतरसं वचवाकुचिब्राह्मी सद्यःघृतम्।
यदीच्छसि कोकिलगानकृतं पिब कृष्ण चतुर्दशमाघदिनम्।।"

(iii) अपामार्ग, गुडूची, कुष्ठ, शतावरी, वचा, शंखपुष्पी, विडंग बराबर-बराबर तीन दिन तक आज्य के साथ चूर्ण को मिला कर पिए, एक सौ आठ ग्रन्थ कण्ठस्थ करने की सामर्थ्य हो जाएगी—

"अपामार्गः सगुडूची कुष्ठं शतावरी वचा।
शंखपुष्प्यभवा साज्यं विडंगं भक्षितं समम्।
त्रिभिर्दिनैर्नरं कुर्याद् ग्रन्थाष्टशतधारिणम्।" गरुण, 192.36

(iv) अग्निमंथ, वचा, वासा, पिप्पली, मधु, सैन्धव नमक का सात रात्रि तक प्रयोग करने पर किन्नरसदृशमधुर कण्ठ वाला हो जाता है—

"अग्निमंथो वचा वासा पिप्पली मधुसैन्धवम्।
सप्तरात्रप्रयोगेण किन्नरैरिव गीयते।।" गरुड, 192. 35

(v) पलाण्डु, जीरक, कुष्ठ, असगंध, वचा, त्रिकटुक तथा लवण का चूर्ण ब्राहमी रस से भावित कर सर्पिष् और मधु में मिला कर मोदक बना कर एक सप्ताह भक्षण करे, निर्मल बुद्धि की प्राप्ति होगी—.

"पलाण्डुजीरके कुष्ठमश्वगंधाजमुत्तमम्
वचा त्रिकटुकं चैव लवणं चूर्णमुत्तमम्
ब्राह्मीरसभावितं सपिर्ध्रत समन्वितम्
सप्ताहभक्षितं कुर्यान्निर्मलां च मतिं पराम्।।" ग०, 192. 1-2

(vi) "शंखपुष्पी तु पयसा ब्राह्मीपुष्पाणि सर्पिषा।
शतावरीं तु पयसा वचामद्भिर्धृतेन वा।।" ऋग्विधान, 4.73

(vii) ब्राह्मी रस अथवा ब्राह्मी धृत का प्रयोग भी प्रचलित था। शंखपुष्पी, वचा, सोमा = भंग, ब्रह्म सुवर्चला, अभया, गुडूची, एक प्रस्थ कण्टकारि, एक प्रस्थ क्षीर रस का रूस, वागुची इन सबको अक्ष के बराबर धृत में पकावे और सेवन करे—

"शंखपुष्पी वचा सोमा ब्राह्मी ब्रह्मसुवर्चला
अभया च गुडूची चा आटुरुषकवागुची
एतैरक्षसमैर्भागैर्घृतप्रस्थं विपाचयेत्
कण्टकार्यारसप्रस्थं क्षीरप्रस्थसमन्वितम्
एतद्ब्राह्मीरसं नाम श्रुतिमेधाकरं परम्।।" गरुड, 192. 32- 34

इस प्रकार, वैदिक औषधियों का मेधाजनन में उपयोग का उल्लेख किया गया। इसके अतिरिक्त, अनेकानेक औषधियों का विविध रोगादि में संमन्त्रक उपयोग प्राप्त है। इन सब प्रयोगों की परीक्षा वैज्ञानिक दृष्टि से अपेक्षित है।

❐

ऋग्वेद में शल्यचिकित्सा का अत्युन्नत उदाहरण

डॉ० प्रकाश पाण्डेय *

जब कोई प्राचीन सभ्यता किन्हीं कारणों से अपने स्वयं के विकास की मौलिक धारा से कुछ शताब्दियों के लिए कट जाती है, तब उसकी चिरकाल की तपस्या से अर्जित उपलब्धियों का अग्रिम विकास रुक ही नहीं जाता अपितु उसकी क्रमबद्ध प्रस्तुति भी संदिग्ध हो जाती है। आज के विश्व में भारत इसका सुन्दर एवं एकमात्र उदाहरण है।

ऐसे भी उदाहरण हैं जहाँ एकजुट राष्ट्रीय जिजीविषा कुछ अंशों में मूल से जोड़कर अपने स्वरूप को प्रकट करने लगती है। इसराइल 1900 वर्ष बाद भी भूली हुई हिब्रू भाषा को प्रायोगिक भाषा बना चुका है। चीन शासन तन्त्र बदलने के बाद भी बौद्धों से प्राप्त आयुर्वेदिक चिकित्सा प्रणाली को ही प्रधान चिकित्सा विधि के रूप में स्वीकार करता है। किन्तु भारत अभी तक उस राष्ट्रीय जिजीविषा को पुनर्जीवित करने में सफल नहीं हो पाया है, जिससे प्रेरित होकर वह वराहमिहिर, भास्कराचार्य, चक्रपाणि गंगाधर कविराज आदि के अनुसन्धानों को आगे बढ़ा सके।

प्रस्तुत लेख का उद्देश्य अपनी प्राचीन उपलब्धियों की महानता की प्रशंसा करना अथवा आज के तपस्वी वैज्ञानिकों के आविष्कारों को वेदों या प्राचीन साहित्य में खोजना एवं स्वयं को सान्त्वना देना नहीं है। अपितु शल्यकर्म के एक ऐसे अद्भुत एवं आश्चर्यजनक उदाहरण की ओर आधुनिक जीवविज्ञानियों का ध्यान आकर्षित करते हुए शरीर संरचना विज्ञान एवं मानव जैविकी के एक अन्य आयाम की ओर संकेत करना है जहाँ तक आज का उन्नत जीवविज्ञान एवं शल्यचिकित्सा विज्ञान नहीं पहुँच पाया है। वह उदाहरण है मानव में मानवेतर जीव के सिर का शल्यकर्म द्वारा अस्थाई प्रत्यारोपण; पूर्व सिर को सुरक्षित रखना; कुछ समय पश्चात् पुनः उस व्यक्ति के पूर्व सिर को प्रत्यारोपित करना।

ऋग्वेद 1-116-12 का विवरण है–

तद्वां नरा सनये दंस उग्रमाविष्कृणोमि तन्यतुर्न वृष्टिम्।
दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा प्र यादीमुवाच।।

---

* सहायक निदेशक, शोध एवं प्रकाशन, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली

इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है–

हे नरयुगल अश्विन्! मैं आपके उस अत्यन्त कठिन शल्यकर्म का आविष्कार (या उसकी तकनीक को) समझने की चेष्टा उसी प्रकार कर रहा हूँ जिस प्रकार कोई (मौसम विज्ञानी) मेघ के शब्द को सुन कर वर्षा के परिमाण को जानने का प्रयत्न करता है। जिस क्रिया से आथर्वण दध्यङ् अश्व के सिर से आपके प्रति मधु-विद्या बोला था। उस कौशल का अनुसन्धान मैं ऐश्वर्य के लिए, धन कमाने के लिए कर रहा हूँ।।

प्रकरण इस प्रकार है कि कभी इन्द्र ने अथर्वा के पुत्र दधीचि को प्रवर्ग्य एवं मधु विद्या का रहस्य बताया था। इन्द्र ने यह भी कहा था कि यदि इस विद्या को तुम किसी अन्य को बताओगे तो तुम्हारा सिर काट दूँगा। अश्विनौ ने उस मधु विद्या को जानने एवं दधीचि की प्राण रक्षा के लिए एक अद्भुत शल्य क्रिया की। उन्होंने दधीचि के सिर को काट कर सुरक्षित कर लिया, उसके स्थान पर अश्व का सिर प्रत्यारोपित करके विद्या सीख ली। मधुविद्या अश्विनौ को पढ़ाने के समाचार को सुनकर इन्द्र ने उस अश्व सिर को काट दिया। अश्विनौ ने पुनः तुरन्त पूर्व सुरक्षित मानव सिर का प्रत्यारोपण कर दिया।

मन्त्र से ही स्पष्ट है कि अश्विनी कुमारों का यह शल्यकर्म ऋग्वेद के इस अद्भुत मन्त्र के दर्शन के समय में भी प्राचीन एवं कठिन हो चुका था। इसके द्रष्टा कक्षीवान् कठिन वैज्ञानिक अनुसंधान की पूर्ण योग्यता रखते थे। उनके पिता दीर्घतमस् स्वयं अपने समय के महान् वैज्ञानिक थे। खगोलशस्त्र, ध्वनि-विज्ञान आदि विज्ञान की अनेक शाखाओं के विशेषज्ञ थे। उनका परिचय ऋग्वेद के सर्वाधिक रहस्यात्मक सूक्तों में से एक **अस्यवामीय सूक्त** (1-164) के माध्यम से जाना जा सकता है। उनके चाचा भरद्वाज चिकित्सा विज्ञान के अध्यापक थे। कक्षीवान् अंगराज की राजमहिषी की उशिक नाम्नी दासी के गर्भ से उत्पन्न थे। अतः धन एवं प्रतिष्ठा के लिए इस अद्वितीय वैज्ञानिक अनुसन्धान करने का उनका प्रयास अत्यन्त स्वाभाविक था। कक्षीवान् ने इस सूक्त में अश्विनौ के अनेक वैज्ञानिक चमत्कारों का वर्णन किया है जैसे अग्नि के लिए भूगर्भ जल को बहिर्गामी करना, विश्पला को लोहे की जाँघ लगाना एवं उसमें धनयुद्ध में विजयी होने लायक गति पैदा करना या मृत्यु को उसकी सेना के साथ ३ दिनों में समुद्र के पार पहुँचाने वाले तीव्रगामी (अन्तरिक्षप्रुद्) जलपोत प्रदान करना आदि। किन्तु उनके अन्य किसी भी तकनीक के विषय में कक्षीवान् ने यह नहीं कहा कि मैं इस कर्म-विशेष का आविष्कार करने जा रहा हूँ। उन्हें सिर के प्रत्यारोपण की विद्या ही श्रेष्ठ समझ में आयी थी। अन्य क्रियाएँ उस समय सामान्य हो चुकी रही होंगी। अतः इस वैदिक विवरण को मिथक या कल्पना आदि की दृष्टि से देखना भूल होगी।

प्रश्न है कि क्या सिर का प्रत्यारोपण जीव विज्ञान की दृष्टि से सम्भव है। अश्विनौ की इस शल्य क्रिया में विशेष ध्यान देने योग्य कुछ तथ्य इस प्रकार हैं,

क. मूल मानवसिर को शरीर से अलग करके इस प्रकार सुरक्षित रखा गया कि उसका पुनः प्रत्यारोपण हो सके।

ख. मनुष्येतर प्राणी का सिर प्रत्यारोपित करने पर भी मूल दधीचि का व्यक्तित्व एव स्मृति सुरक्षित रखा गया।

ग. मानवेतर प्राणी के सिर का प्रत्यारोपण अस्थाई था।

घ. पूर्व सिर का प्रत्यारोपण उस दशा में किया गया जब कि प्रत्यारोपित अश्व सिर को किसी चिकित्सक ने काटा था। इन्द्र चिकित्सा विज्ञान के प्रवर्तक हैं।

आधुनिक जीवविज्ञान के अनुसन्धानों के अनुसार मस्तिष्क शरीर के सम्पूर्ण ऐन्द्रिक क्रिया कलाप का केन्द्र है। यदि सिर अलग कर दिया जाय तो जीवन समाप्त हो जायेगा तथा यदि किसी प्रकार सिर का प्रत्यारोपण सम्भव भी बनाया जाय तो मनुष्य का पूर्व व्यक्तित्व बदल जायेगा। क्योंकि अस्मिता, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा आदि मानसिक क्रियाएँ एवं दर्शन आदि ऐन्द्रिय क्रियाएँ मस्तिष्क के अङ्गों से होती हैं। अतः दूसरा सिर लगाने पर मनुष्य भी वह व्यक्ति हो जाएगा जिसका सिर प्रत्यारोपित होगा। मैंने सिर के प्रत्यारोपण के विषय में कई जीवविज्ञानियों एवं शल्य चिकित्सकों से बात की है सभी का कथन कुछ इसी प्रकार का था। यहाँ मुझे आधुनिक एलोपैथी चिकित्सा शास्त्र द्वारा प्रस्तावित शरीर संरचना विज्ञान के विषय में अधिक चर्चा नहीं करनी चाहिये। अपितु इस अद्भुत प्रत्यारोपण की सम्भावना पर भारतीय जीववैज्ञानिकों की दृष्टि तक ही विचार को सीमित रखना चाहिए।

चरक का कथन है कि मानव शरीर में दस स्थल ऐसे हैं जहाँ प्राणतत्त्व की स्थिति है।

दशैवायतनान्याहुः प्राणा येषु प्रतिष्ठिताः।
शंखौ मर्मत्रयं कण्ठो रक्तं शुक्रौजसी गुदम्।।

चरकसंहिता, दशप्राणायतनीय, श्लोक 1

इसमें से किसी एक की भी अतिशय क्षति जीवन समाप्त कर सकती है। इनमें भी प्रधान जीवन केन्द्र के विषय में चरक कथन है–

षडङ्गमङ्गं विज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपञ्चकम्।
आत्मा च सगुणश्चेतश्चित्तं च हृदि संस्थितम्।।

अर्थे दशमहामूलीयाध्याय

इस प्रकार व्यक्त रूप से जिन कार्यों के अंग मस्तिष्क में व्यवस्थित हैं। वे सभी कार्य भारतीय शरीर संरचना विज्ञान की दृष्टि से मूलतः हृदय से सम्बद्ध हैं। प्राचीन चिकित्सा-विज्ञान की दृष्टि से हृत् शब्द का अर्थ केवल छाती में धड़कने वाले अंग विशेष ही नहीं अपितु मनस् एवं वह अंग विशेष दोनों से था। चरक ने सभी हृद्य औषधियों को मानसिक बल देने वाला भी कहा है।

कण्ठ प्राणायतन है किन्तु ग्रीवा प्राणायतन नहीं है। सुश्रुत का कथन है–

ग्रीवायामुभयतश्चतस्त्रः सिरामातृकाः तत्र सद्योमरणम्
शिरोग्रीवयोः सन्धाने कृकाटिके नाम तत्र चलमूर्धता।।

कण्ठनाडीमुभयतश्चतस्रो धमन्यो द्वे नीले द्वे च मन्ये व्यत्यासेन, तत्र मूकता स्वरवैकृतमरसग्राहिता च। ग्रीवायामुभयतश्चतस्रः सिरामातृकाः तत्र सद्योमरणम्। शिरोग्रीवयोः सन्धाने कृकाटिके नाम तत्र चलभूर्धता।। सु०शा० अध्याय 6, सूत्र 36

यदि सिर एवं ग्रीवा की सन्धि में स्थित कृकाटिका नाड़ी ग्रीवा के दोनों पार्श्वों में स्थित चार सिरा मर्मों एवं कण्ठनाडी के **मन्या** एवं नीला को उनके मूल उद्‌गम के साथ पहचाना जा सके तो सिर को ग्रीवा से सुरक्षित रीति से अलग करने की तकनीक विकसित की जा सकती है। किन्तु मानव शरीर को मिलीमीटरों में काट कर अध्ययनार्थ इन्टरनेट पर उपलब्ध कराने के बाद भी इन नाडियों की वास्तविक पहचान जीवविज्ञान कर पाया है ऐसी जानकारी मुझे नहीं है।

वस्तुतः भारतीय शल्य चिकित्सा एवं जीव विज्ञान मर्मों के अनुसन्धान के आधार पर आगे बढ़ा था। यहाँ तक कि कुछ अन्य जीवों के भी मर्मस्थलों का अन्वेषण किया गया। इसी आधार पर शूकर को शिरोमर्मा एवं कंकपक्षी को हृन्यमर्मा भी कहा जाता है। सुश्रुत ने 107 मर्मों को खोजा था। इस मर्मानुसन्धान की विद्या ने दक्षिण भारत में **अगस्त्य सिद्धान्त** एवं **परशुराम सिद्धान्त** के रूप में मर्माभिघात एवं मर्मचिकित्सा के क्षेत्र में कभी विस्तार भी पाया था। भारतीय जीव वैज्ञानिकों का मानना था कि यदि मर्मों को सुरक्षित रखते हुए शरीर में शल्य कर्म किया जाय तो अधिक सफलता एवं सरलता से किसी भी अंग की शल्यक्रिया की जा सकती है क्येंकि जीवन का केन्द्र मर्म होते हैं।

चरक ने शिर एवं हृदय को महामर्म कहा है। सुश्रुत ने इन अंगों में मर्मों का जाल खोजा जो सद्योप्राणहर हैं। अतः शिर के प्रत्यारोपण को जितना कठिन कक्षीवान् उस अज्ञात भूतकाल में मानते थे, आज भी वह उतना ही कठिन है। इन दोनों महामर्मों के मूल एवं उसके प्रभावों को खोजना ही एकमात्र उपाय है।

पिछले वर्ष यह समाचार मिला कि रसायन विज्ञान में नोबेल पुरस्कार पाने वाले एक विद्वान् ने मस्तिष्क एवं मनस् के रहस्यों एवं उसके विकारों के कारणों के रूप में जो जैवरासायनिक प्रक्रियाएँ होती हैं उसकी पहचान कर ली है। यदि इस वैज्ञानिक उपलब्धि में चरक के हृदय के स्वरूप विषयक अनुसंधान एवं मर्मविद्या को जोड़ कर अनुसंधान किये जाएँ तो सम्भवतः मानव जैविकी में नया अध्याय जुड़ सकता है। चरक का यह कथन कि मस्तिष्क में जो भी कार्य होते हैं उनका मूल वस्तुतः हृदय है। अभी हृदय की सभी धमनियों, शिराओं एवं नाड़ियों के वास्तविक कार्य एवं सिर से उनके सम्बन्धों का अध्ययन आधुनिक जीव विज्ञान ने सम्भवतः पूरा नहीं किया है। भारत में बिना व्यक्तित्व बदले सिर का प्रत्यारोप कभी हुआ था तो इसका कारण हृदय के उस स्वरूप का ज्ञान ही रहा होगा जो जीवविज्ञानियों की परम्परा से चरक को प्राप्त हुआ था। यदि इन्द्रिय, विज्ञान, स्मृति आदि को हृदय में सुरक्षित रखते हुए सिर को अलग करने एवं अन्य सिर प्रत्यारोपित करने की कला विकसित करना है तो भारतीय शरीर संरचना विज्ञान को जहाँ सुश्रुत के अनुसंधान ने विराम पाया था वहाँ से आगे उसी शैली में बढ़ना होगा। तब अन्य सिर को प्रत्यारोपित कर उसे हृदय से इस प्रकार जोड़ा जाना संभव हो सकता है कि **व्यक्तित्व वही रहे जिसका हृदय हो, न कि उसका जिसका सिर हो।** मन्या एवं नीला नाड़ियों का सही संयोजन वाणी को हृदयानुकूल स्फुटित कर सकती है। क्योंकि ग्रीवा एवं सिर का संधि स्थल कण्ठ के ऊपर स्वरतन्त्रियों के भी बाद है।

अश्विनौ ने कृकाटिका नाड़ियों एवं रक्तवाहिनियों तथा चेतना वाहिनी नाड़ियों (जो कि 72 कही गई हैं) को सुरक्षित रखते हुए शिर काटा होगा। इन्द्रिय, स्मृति आदि को हृदय से जोड़ कर मधुविद्या ग्रहण की। इन्द्र के वार से अस्थाई प्रत्यारोपित सिर अपने सन्धि स्थल से अलग हुआ तथा पूर्व सुरक्षित सिर का स्थाई प्रत्यारोपण किया जा सका। निश्चित ही यह कार्य आज के भारतीय वैज्ञानिकों के लिए अति कठिन है किन्तु यदि ऐसा किया जा सके तो उसकी सफलता मानव चिकित्सा की सीमा कही जाएगी।

कक्षीवान् की सफलताओं का इतिहास हम खो चुके हैं किन्तु नया इतिहास रचने का अवसर तो सुरक्षित है। इस प्रकार के अनुसन्धान जीवन एवं मृत्यु की परिभाषा बदल सकते हैं तथा आत्मा के अभौतिक अस्तित्व को प्रमाणित भी कर सकते हैं।

❐

अथर्ववेद और चिकित्सा विज्ञान

डॉ० किरण टण्डन *

वेद भारत की अमूल्य तथा मौलिक निधि है। इनमें ज्ञान का विशद भण्डार है। इसीलिए केवल भारतवासी ही नहीं, अपितु विदेशी भी वेद के सम्मुख श्रद्धा से नत होते हुए दिखाई देते हैं। इस सम्बन्ध में अथर्ववेद का परिशीलन करने से ज्ञात होता है कि इसमें प्राप्त होने वाले मन्त्रों का जनजीवन से सीधा सम्बन्ध है। इसमें किया गया विशिष्ट औषधियों का वर्णन रोगों को दूर करने में वर्तमान समाज के लिए अतीव उपयोगी है और अथर्ववेद को चिकित्सा विज्ञान एवं वनस्पति विज्ञान का स्रोत सिद्ध करने में समर्थ है। अब इन औषधियों का परिचय प्रस्तुत है—

प्रश्निपर्णी–

इस औषधि का उल्लेख रोगकारी कृमि के नाश के सम्बन्ध में किया गया है। विशेष तौर से जिन कृमियों द्वारा शरीर की शक्ति नष्ट होती है, शरीर में रक्त की कमी देखी जाती है, जो शरीर को निर्बल बनाते हैं तथा गर्भ का नाश करते हैं—उनको नष्ट करने के लिए यह औषधि अतीव सहायक सिद्ध होती है। जिस प्रकार अग्नि समीपस्थ वस्तुओं को जलाकर नष्ट कर देती है, उसी प्रकार यह औषधि भी कृमियों को नष्ट करती है।[1]

भावप्रकाश में इस औषधि के लिए पृश्निपर्णी, पृथन्पर्णी, चित्रपर्णी, अहिपर्णी, क्रोष्टुविन्ना, सिंहपुच्छी, कलशी, पावनि, गुहा आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। इस औषधि का प्रयोग त्रिदोष दूर करने में, वृष्य, उष्णवीर्य, मधुररसयुक्त, दस्तावर और दाह, ज्वर, तूवास, रक्तातिसार, तृष्णा तथा वमन को दूर करने के लिए किया जाता है[2]।

पृश्निपर्णी को हिन्दी में पिठवन, पिठौनी और पितवन कहा जाता है। यह औषधि नेपाल, अल्मोड़ा, बंगाल, ब्रह्मा, पंजाब तथा गरम प्रदेशों में पाई जाती है। पिठवन क्षुप जाति की वनौषधि है, जिसकी ऊंचाई करीब एक हाथ के बराबर होती है। इसके पत्ते बेलपत्र के समान होते हैं, जो विषमवर्णी सीकों पर लगते हैं।

* रीडर, संस्कृत विभाग, कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल, उत्तरांचल

इसके पत्तों का आकार समान न होकर पुनर्नवा के पत्तों के समान छोटा-बड़ा होता है। वसन्त ऋतु में इस औषधि के पेड़ की डण्ठलों के अन्त में जटा निकलती है। इसका रङ्ग हरा होता है। क्रमशः बढ़ने पर नीले रङ्ग के छोटे-छोटे फूल खिलते हैं। ग्रीष्म ऋतु में यह औषधि तैयार होती है, उस समय जटाएं पक जाती हैं तथा सफेद रङ्ग के छोटे-छोटे बीज भूमि पर गिरते हैं[3]।

अपामार्ग-

अथर्ववेद में इस औषधि को वनस्पतियों में मुख्य तथा रेचकगुण से युक्त माना गया है। इस औषधि में कई रोगों को दूर करने की सामर्थ्य है। इस औषधि द्वारा कृषि, पशु तथा मनुष्य तीनों में होने वाले रोग दूर किये जाते हैं। क्षेत्रीय रोग, भस्मरोग, बवासीर, चिड़चिड़ापन, भूख-प्यास की अतिशयता, वन्ध्यापन, नवजात बालक को होने वाले रोग तथा इन्द्रियों से सम्बन्धित रोगों का यह औषधि नाश करती है। रोगी का आक्रोश दूर करने तथा उसकी सहनशक्ति बढ़ाने में यह औषधि सहायक सिद्ध हुई है। इसके प्रयोग द्वारा अकारण रोगी का चिल्लाना दूर होता है। दाँत तथा नाखून सम्बन्धी बीमारियाँ दूर होती हैं। इतना ही नहीं रोगी की मूर्च्छा भी इस औषधि के प्रयोग द्वारा दूर होने का उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है। इसके द्वारा रोगी के शरीर में आयी हुई रक्त की कमी दूर होती है तथा रोगकारी कृमियों का नाश सम्भव है। इसके द्वारा रोगों का पूर्ण नाश होता है। औषधि प्रयोग के पश्चात् रोग का भय शेष नहीं रहता है[4]।

भावप्रकाश में इस औषधि के अपामार्ग, शिखरी, अद्यःशल्य, मयूरक, मर्कटी, दुर्ग्राहा, किणिही, खरमंजरी आदि नाम वर्णित हैं। इसके गुण हैं तिक्त तथा कटु रसयुक्त सारक, तीक्ष्ण, अग्निदीपक, पावक, रेचक तथा वमन, कफ, मेदा, वायु, हृदय रोग, अफ़ारा, अर्श, कण्डू, शूल तथा उदर रोग दूर करना माना गया है[5]।

इस औषधि को हिन्दी में लटजीरा, चिचिरी, चिरविरा, आँधीझाड़ा कहते हैं तथा अंग्रेजी में प्रीक्ली-चाफ़-फ़्लावर कहा जाता है। यह भी क्षुप जाति की वनस्पति है, जो कि शहरों, गाँवों तथा जंगलों में बिना बोये ही उग जाती है। यह वनस्पति भारतवर्ष के सभी प्रान्तों में पायी जाती है। इसके पत्ते चौलाई के पत्तों के समान गोल तथा नुकीले होते हैं, पत्तों के दूसरी ओर डंडी में सूक्ष्म सफेद रोम होते हैं। पत्तों के पास से ही लगभग एक फुट लम्बी सींक निकलती है, जिसमें कुछ लाल गुलाबी, पीलापन लिए हुए फूल निकलते हैं। इसी डंडी में काँटेदार छोटे-छोटे बीज लगते हैं, जो उल्टे रहते हैं। जब बीज पक जाते हैं, उनके अन्दर से चावल निकलते हैं, यही अपामार्ग है। यह अपामार्ग लाल रङ्ग का भी होता है[6]।

कुष्ठ (कूठ)-

अथर्ववेद के कई स्थलों में एक कुष्ठ नामक औषधि का भी वर्णन प्राप्त होता है। यह औषधि मनुष्य को रोगमुक्त करती है। इसके सेवन द्वारा बल बढ़ता है। इसके द्वारा क्षय रोग दूर होता है। सिर और आँख

सम्बन्धी तथा समस्त शारीरिक रोगों को दूर करने में यह औषधि विशेष सहायक सिद्ध होती है। प्राण वायु तथा व्यान वायु के लिए इसे सुखकारी माना गया है। इसकी उत्पत्ति अथर्ववेद में हिमालय पर्वत की ऊँची-ऊँची चोटियों में बताई गई है। इसकी उपयोगिता इससे सिद्ध होती है कि वहाँ वर्णित है कि तत्कालीन समाज में लोग अत्यधिक धन खर्च करके इसको प्राप्त करने हेतु हिमालय जाते थे[7]।

भाव प्रकाश में इस औषधि के लिए कुष्ठ, रोगाह्वय, वाप्य, पारिभाव्य तथा उत्पल नाम प्रयुक्त हुआ है। यह औषधि उष्णवीर्य, कटु तथा तिक्त रस से युक्त होती है। यह वातरस, वीसर्प, कास, कुष्ठ, वायु तथा कफ आदि रोगों को दूर करती है[8]।

इस औषधि को हिन्दी में कूठ, कूट तथा अंग्रेजी में कोस्ट्स रूट कहा जाता है। यह औषधि सिन्धु नदी के किनारे तथा कश्मीर आदि जगहों में उत्पन्न होती है। यह पहाड़ की चोटी पर भी मिलती है।

इसका क्षुप बहुत दृढ़ होता है। डंठल 6-7 फीट तक ऊँचा होता है तथा जड़ की ओर छोटी अङ्गुलिके बराबर मोटा होता है। इस वनस्पति के पत्ते 2-3 फीट तक लम्बे होते हैं, जिनका विस्तार अनियमित होता है और वे कंगूरेदार होते हैं। इसकी जड़ सुगन्धित होती है। भारतवर्ष में कूट औषधि के रूप में प्रयुक्त होती है जबकि चीन आदि देशों में रेशमी कपड़े रंगने के भी काम में लायी जाती है[9]।

अञ्जन–

अञ्जन औषधि से सम्बन्धित विस्तृत जानकारी अथर्ववेद में उपलब्ध होती है। यह औषधि पर्वतों पर उगने वाली वनस्पतियों द्वारा बनायी जाती है। यह औषधि बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसके लिए अथर्ववेद में त्रैकाकुद तथा यामुन शब्द प्रयुक्त हुए हैं। अञ्जन आँखों के लिए हितकारी है। इसके द्वारा नेत्र सम्बन्धी समस्त रोग दूर होते हैं। ज्वर, पीलिया, क्षय, कफ विकार, उदारवर्तनामक पेट का रोग अथवा सर्प का विष दूर करने में यह औषधि सहायक सिद्ध होती है। इस औषधि के प्रयोग द्वारा अवयवों तथा सन्धि सम्बन्धी कई रोग दूर होते हैं। अथर्ववेद में माना गया है कि इस औषधि के प्रभाव से दुष्ट भाषण, शाप, हिंसा के कर्म तथा अन्य पीड़ाओं का असर नहीं होता, इतना ही नहीं, इसके द्वारा व्यक्ति के हृदय में बुरे विचार नहीं आते, वह दुष्ट कर्म एवं दुष्ट स्वप्न दोषों से दूर रहता है। यह केवल मनुष्यों के लिए ही लाभप्रद नहीं है, अपितु जानवरों के लिए भी हितकारी है[10]।

भावप्रकाश में अञ्जन का विस्तृत वर्णन किया गया है। वहाँ उसके प्रकार, प्रयोग तथा निर्माण विधि पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। तीन प्रकार के अञ्जनों का उल्लेख भावप्रकाश में मिलता है—रसरूप, वर्तिरूप और चूर्ण रूप। रस रूप अञ्जन सबसे बलशाली है। इनमें से प्रत्येक के लेखन, रोपण तथा स्नेहन तीन-तीन भेद होते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर नौ प्रकार के अञ्जन उपलब्ध होते हैं। लेखन अञ्जन खारा, तीक्ष्ण तथा खट्टेरस वाला होता है। यह नेत्रों, पलकों, शिराओं, कान तथा कपाल के अस्थिगत दोषों को मुख, नाक तथा नेत्रों के माध्यम से बाहर निकालता है। रोपण अञ्जन कषाय और कटु रसयुक्त होता है। यह

स्नेह, स्निग्ध तथा शीतल होता है। यह वर्ण को उत्तम करता है तथा दृष्टि के बल को बढ़ाता है। स्नेहन अञ्जन मधुर रस वाला तथा स्नेहयुक्त होता है। इसके द्वारा भी दृष्टि दोष दूर होते हैं। किस अञ्जन का परिमाण कितना हो तथा किन-किन वस्तुओं द्वारा इनका निर्माण किया जाता है और किस प्रकार, कितना तथा किस समय अञ्जन का प्रयोग करना चाहिए, इत्यादि से सम्बन्धित समस्त जानकारी भावप्रकाश में उपलब्ध होती है[11]।

लाक्षा–

इस औषधि के लिए अथर्ववेद में सिलाची, स्परणी, निष्कृति तथा लाक्षा नाम प्रयुक्त हुए हैं। इस औषधि का प्रयोग व्रण के उपचार हेतु नीरोगता तथा दीर्घायुष्य की प्राप्ति के लिए किया जाता है। इस औषधि के रस का पान करने का भी विधान है। इस औषधि का रङ्ग सुवर्ण के समान पीला होता है। इसकी उत्पत्ति भद्र, पाकर, पीपल, खैर, बड़ तथा पलाश वृक्षों में मानी जाती है। जिन वृक्षों के पत्तों को बकरियाँ खाती हैं, उनमें भी यह औषधि पायी जाती है। सूर्य की किरणों द्वारा तप्त होकर यह औषधि बाहर आती हैं[12]।

भावप्रकाश में इस औषधि के पर्यायवाची शब्द पलंगषा, अलक्त याव, वृक्षामय तथा जतु हैं। यह औषधि शरीर के वर्ण को उज्ज्वल करने वाली, शीतल, बल प्रदान करने वाली, स्निग्ध, कषायरसयुक्त, लघु तथा अनुष्ण होती है। कफ़, रक्त पित्त, हिचकी, कास, ज्वर, व्रण, उरःक्षत, वीसर्प, कृमि तथा कुष्ठ रोग को भी यही औषधि दूर करती है। इसके द्वारा व्यंग रोग (झाँई) भी दूर होता है[13]।

इस सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि हिन्दी में लाक्षा औषधि को लाख, लाही तथा लाई और अंग्रेज़ी में लाक या शेल लाक कहते हैं। यह औषधि पुराने वृक्षों तथा बेर, पाकड़, पीपल आदि वृक्षों पर कीड़ों द्वारा उत्पन्न होती है। इनमें से पीपल वृक्ष की लाही सर्वोत्तम मानी जाती है। इस औषधि को वैशाख तथा अश्विन के महीनों में वृक्षों से छुड़ाकर सुखाया जाता है। इस प्रक्रिया में लाक्षा से असंख्य लाल रङ्ग के कीड़े निकलते हैं। जब रस सूख जाता है, उससे लाह बनाया जाता है[14]।

शमी औषधि–

अथर्ववेद में शमी औषधि को बालों के लिए उपयोगी माना गया है। इस औषधि का रस प्रयोग में लाया जाता है। इस वनस्पति की सैकड़ों शाखायें होती हैं तथा पत्ते बहुत बड़े-बड़े होते हैं[15]।

भाव प्रकाश में इस औषधि के शक्तुफला, तुंगा, केशहन्त्री, शिवाफला, मंगल्या तथा लक्ष्मी—ये अन्य नाम भी वर्णित हैं। यह औषधि तिक्त, कटु तथा कषाय रसयुक्त होती है तथा शीतल एवं रेचक गुण वाली है। कफ़, कास, भ्रम रोग, पूर्वास, कुष्ठरोग तथा कृमियाँ इस औषधि से दूर होती हैं[16]।

इस औषधि को हिन्दी में छोंकर, शमी, सफेद कीकर, छिकुर और छोकरा कहते हैं। यह औषधि पंजाब, सिन्ध, राजपूताना, गुजरात, बुन्देलखण्ड तथा दक्षिण में अधिक पायी जाती है। इसका वृक्ष छोटा तथा

शाखायें पतली होती हैं। इसके पत्ते बर्बूर के पत्तों की भाँति होते हैं, पर उनसे जरा छोटे होते हैं। इसकी कलियाँ लम्बी होती हैं[17]।

पिप्पली–

अथर्ववेद में पिप्पली औषधि का बड़ा महत्त्व स्वीकारा गया है। वहाँ वर्णित है कि जिस व्यक्ति को यह औषधि खिलाई जाती है, वह मरता नहीं है। इस औषधि के प्रयोग द्वारा महाव्याधियाँ, वात सम्बन्धी रोग तथा उन्माद आदि रोग दूर होते हैं। इस औषधि से सम्बन्धित एक रोचक बात सामने आयी है और वह यह है कि इसका पता पहले असुरों को तत्पश्चात् देवताओं को हुआ[18]।

इस औषधि के मागधी, कृष्णा, वैदेही, चपला, कणा, उपकुल्या, ऊषणा, शौण्डी, कोला, तीक्ष्ण, तण्डुला आदि अनेक नाम हैं। यह औषधि अग्निदीपक, वृष्य, पाक में मधुर रस युक्त, रसायन, अनुष्णा, कटु रस युक्त तथा स्निग्ध होती है। वात तथा कफ़ का नाश करने वाली है। रेचक गुण से युक्त तथा लघु पाकी है। इसके द्वारा श्वास, कास, उदर रोग, ज्वर, कोढ़, प्रमेह, गुल्म, बवासीर, प्लीहा तथा शूल आदि रोग दूर होते हैं। इस औषधि को कच्चे एवं सूखे दोनों रूपों में प्रयोग में लाया जाता है। शहद तथा गुड़ के साथ उपयोग में लाने का विधान भी पाया जाता है, जिस पर भावप्रकाश में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है[19]।

पिप्पली औषधि को हिन्दी में पीपर, पीपल तथा अंग्रेज़ी में लांग पीपर कहा जाता है। यह औषधि नेपाल, असम, खासिया पहाड़ों में, बंगाल, बम्बई आदि में पाई जाती है। इस औषधि की वनस्पति लता रूप में होती है। अन्य लताओं की भाँति अति विस्तार तक न फैलकर थोड़ी ही दूरी तक इसकी लताएं फैलती हैं, जो कुछ मोटी और खड़ी सी होती हैं। उसमें से शाखायें निकलकर भूमि पर गिरती है। इसके पत्ते पान के पत्ते के समान दो या तीन इंच के घेरे में गोलाकार तथा अत्यधिक कोमल होते हैं। इसकी कलियाँ एक इंच या डेढ़ इंच लम्बी और गोल होती हैं।

एक अन्य प्रकार का भी पीपल होता है, उसे पहाड़ी पीपल कहते हैं। यह असम और बंगाल में अधिक पैदा होता है। इसकी लता कई फ़ीट तक बढ़ती है तथा सूखने पर आपस में सिमटती हुई प्रतीत होती है। इसके पत्ते उपर्युक्त पीपल के पत्तों से कुछ बड़े होते हैं। इस प्रकार के पीपल का फल डेढ़ इंच लम्बाई लिए हुए होता है। इस प्रकार छोटी व बड़ी दो प्रकार की पीपल की फलियाँ होती हैं, जिनमें से छोटी वाली अधिक गुणकारी मानी जाती है[20]।

रोहिणी–

इस औषधि का नाम अरुन्धती भी है। यह औषधि विशेष तौर पर शरीर में चोट लगने, पीसे जाने तथा शरीर के जलने में उपयोगी सिद्ध होती है। इसके प्रयोग द्वारा शरीर में माँस, मज्जा तथा रुधिर की मात्रा बढ़ती है। यदि शरीर का कोई अवयव टूट जाता है तो उसको जोड़ने में यह औषधि उपयोगी होती है। इस औषधि

के विषय में प्राप्त वर्णन से निस्सन्देह कहा जा सकता है कि तत्कालीन समाज में इसका प्रयोग टॉनिक के रूप में किया जाता था। अथर्ववेद में अरुन्धती को पशु और पक्षियों के लिए भी उपयोगी माना जाता है। यदि गाय को इस औषधि का सेवन कराया जाय तो वह निश्चित ही अधिक दूध देती है, ऐसा उल्लेख यहाँ मिलता है। इस औषधि का प्रयोग अन्य औषधियों के साथ मिलाकर अथवा स्वतन्त्र रूप से किया जाता है[21]।

अथर्ववेद में पीपल, दर्भ, सोम, अन्न, जल, चावल तथा जौ—इन सबको दिव्य औषधियाँ कहा गया है। इनके सेवन द्वारा व्यक्ति को दीर्घायुष्य की प्राप्ति होती है। इसके अलावा कुछ औषधियों की जानकारी पशु-पक्षियों द्वारा भी प्राप्त होती है, जिनकी ओर अथर्ववेद में पर्याप्त सङ्केत उपलब्ध हैं[22]।

जंगिडमणि–

यह मणि मनुष्यों तथा जानवरों दोनों के लिए उपयोगी है। इसके प्रयोग द्वारा प्राणी आरोग्य प्राप्त करते हैं। यह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण औषधि है—इस विषय में अथर्ववेद में लिखा है कि यह औषधि पुरानी तथा नई दोनों औषधियों में श्रेष्ठ है। इस औषधि द्वारा खाँसी, पीठ की बीमारी, शरद् ऋतु में होने वाले ज्वर तथा भस्मक रोग दूर होते हैं। यदि आँखों में अकारण आँसू आते हैं, शरीर में क्षीणता बढ़ती है, अधिक जमुहाई आती है, शरीर में टूटन होती है—यह मणि इन सब दोषों को दूर करने की तथा बल बढ़ाने की सामर्थ्य रखती है।

इसके द्वारा रोगकारी कृमियों का भी नाश सम्भव है। अथर्ववेद में इसके विशेष महत्त्व को स्वीकारा गया है। इसके प्रयोग द्वारा बुद्धिहीनता के नाश के स्पष्ट सङ्केत मिलते हैं। इस औषधि द्वारा शत्रु विनाश भी सम्भव है। अथर्ववेद में इस औषधि के लिए अङ्गिरा शब्द का प्रयोग भी मिलता है। देवताओं तथा ऋषियों के सौजन्य से इस औषधि की प्राप्ति का वर्णन वहाँ मिलता है। इस औषधि को शरीर में धारण किये जाने का विधान है, लेकिन शरीर के किस अवयव विशेष में धारण किया जाय, इस ओर कोई स्पष्ट सङ्केत अथर्ववेद में नहीं दिये गये हैं। यह औषधि भूमिगत है किन्तु वन में प्रायः प्राप्त होती है[23]।

शंखमणि–

शंखविषयक विस्तृत जानकारी अथर्ववेद में प्राप्त होती है। यह शंख समुद्र तथा बड़ी नदियों के उद्गम स्थान में पाया जाता है। शंख के भीतर जीव होता है। इसका रङ्ग सामान्यतः सफेद हुआ करता है। इसमें वायु विद्युत, सूर्य तथा सुवर्ण के गुणों का समावेश रहता है। यह मणि अनेक प्रकार के रोगों को दूर करने की सामर्थ्य रखती है। कई सामान्य बीमारियाँ दूर करती हैं। इसके प्रयोग द्वारा बुद्धिगत दोष दूर होते हैं। रोगकारी कृमियों का नाश भी शंखमणि औषधि द्वारा सम्भव है। शरीरजन्य अन्य कई पीड़ाओं को हर कर व्यक्ति को दीर्घायु प्रदान करती है। इस प्रकार यह औषधि अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

तत्कालीन समाज में इस मणि को शूरवीरों के रथों तथा बाणों की तूणीर पर रखे जाने का उल्लेख भी अथर्ववेद में मिलता है, लेकिन औषधि के रूप में इसका प्रयोग किस प्रकार किया जाय, इस सम्बन्ध में कोई

सङ्केत नहीं मिलते हैं[24]।

सुश्रुतसंहिता में इस मणि को शीत, स्निग्ध तथा वायु को दूर करने वाला, पित्त आदि विकारों में लाभदायक तथा तेज को बढ़ाने की सामर्थ्य से युक्त माना गया है[25]।

शतवारमणि–

इस मणि में भी सैकड़ों रोगों को दूर करने की सामर्थ्य है। मुख्य रूप से यह दुष्ट नाम वाले बवासीर आदि रोगों को दूर करती है। यह मणि प्रजनन में सहायक है। रोगकारी कृमियों का नाश करती है। गन्धर्वों तथा अप्सरस् नामक सैकड़ों रोगों को दूर करने के सन्दर्भ में भी इस मणि का उल्लेख अथर्ववेद में किया गया है। ये दोनों कौन से रोग हैं, पर्याप्त ज्ञान के अभाव में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। कुत्तों में होने वाली अनेक बीमारियाँ इस मणि के प्रयोग द्वारा दूर हो जाती हैं।

इस मणि को शरीर में धारण किया जाता है। अथर्ववेद में शतवार मणि के सींग होने का उल्लेख मिलता है। जिसके द्वारा यह राक्षसों को दूर करती है। इन सींगों का बलयुक्त होना माना गया है। ये सींग सोने के होते हैं। प्रश्न उठता है कि क्या वास्तव में इस मणि का सींग के आकार में उभरा हुआ कोई भाग होता है अथवा केवल कल्पना की गई है तो इस विषय में पर्याप्त ज्ञान के अभाव में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। यह विशुद्ध रूप से चिकित्सा से सम्बन्धित है, अतएव वैद्य इस पर विचार करके समाज को लाभान्वित कर सकते हैं[26]।

तेज, बल तथा दीर्घायु की प्राप्ति के सन्दर्भ में अथर्ववेद में अस्तृत तथा दर्भ मणियों का भी वर्णन मिलता है। सामान्यतः इन दोनों मणियों का प्रयोग युद्ध काल में किये जाने का वर्णन मिलता है। शत्रु पर विजय प्राप्त करने में भी इनके विशेष महत्त्व को स्वीकारा गया है[27]।

इन मणियों के सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि ये वानस्पतेय मणियाँ हैं। यही कारण है कि इन्हें औषधि के रूप में स्वीकारा गया है। प्रतीत होता है कि ये मणियाँ वनस्पति विशेष से निर्मित की जाती रही होंगी और इनको तत्कालीन लोग ताबीज़ आदि की भाँति धारण भी करते रहे होंगे।

सन्दर्भ सङ्केत :

1. अथर्ववेद, 7/13/1-2
2. भावप्रकाश, प्रथम भाग, गुड्ध्यादिवर्ग, 34-35
3. भाव प्रकाश, प्रथम भाग, टीकाकार श्री ब्रह्म शंकर शास्त्री, पृ0 सं0 262-263
4. अथर्ववेद (क) 4/17/1-3, 5-8 (ख) 4/18/5, 7 (ग) 4/19/2-3, 5
5. भावप्रकाश, प्रथम भाग, गुड्ध्या दिवर्ग, 219-220
6. भावप्रकाश, प्रथम भाग, टीकाकार श्री ब्रह्मशङ्कर शास्त्री, पृ0 सं0 305-306
7. अथर्ववेद, 5/4/1-2, 6-10

8. भावप्रकाश, प्रथम भाग, हरीतक्यादिवर्ग, 173
9. भावप्रकाश, प्रथम भाग, टीकाकार श्री ब्रह्मशंकर शास्त्री, पृ0 207
10. अथर्ववेद, 4/9/1-6, 8-10
11. भावप्रकाश, प्रथम भाग, धूम्रपानादिविधि प्रकरण, 197-236
12. अथर्ववेद, 5/5/2-7
13. भावप्रकाश, प्रथम भाग, हरीतक्यादिवर्ग, 195
14. भावप्रकाश, टीकाकार श्री ब्रह्मशङ्कर शास्त्री, पृ0215-216
15. अथर्ववेद, 6/30/2-3
16. भावप्रकाश, प्रथम भाग, पटादिवर्ग, 72-73
17. भावप्रकाश, टीकाकार श्री ब्रह्मशंकर शास्त्री, पृ0 36।
18. अथर्ववेद, 6/109/1-3
19. भावप्रकाश, प्रथम भाग, हरीतक्यादिवर्ग, 53-58
20. भावप्रकाश, टीकाकार श्री ब्रह्मशंकर शास्त्री, पृ0 177-178
21. अथर्ववेद, (क) 4/12/1-7, (ख) 6/59/1-3
22. भावप्रकाश, 8/7/19-20, 22-26
23. भावप्रकाश, (क) 2/4/1-5, (ख) 19/34/1, 3-8, 10 (ग) 19/35/1-2
24. अथर्ववेद, 4/10/1-7
25. सुश्रुत संहिता, सू0 46
26. अथर्ववेद, 19/36/1-6
27. अथर्ववेद, (क) 19/28/1, (ख) 19/46/1-6

अथर्ववेद में वर्णित पशुचिकित्सा

प्रो० चन्द्रकान्त शुक्ल *

पश्वायुर्वेद के नाम से प्रसिद्ध पशु-चिकित्सा की भारतीय परम्परा अति प्राचीन है। ऐसा प्रतीत होता है कि जब से मानवों की चिकित्सा का प्रारम्भ हुआ होगा तभी से पशुओं की चिकित्सा का भी आरम्भ हुआ होगा। वेदों में विभिन्न देवों के अतिरिक्त अश्विनी कुमारों को पशुओं का भी चिकित्सक बताया गया है। आगे चल कर पश्वायुर्वेद की प्रमुख तीन शाखाएं हुईं—गजायुर्वेद, अश्वायुर्वेद और गवायुर्वेद। आचार्य पालकाप्य न केवल गजायुर्वेद के अपितु पूर्ण पश्वायुर्वेद के जनक आचार्य माने जाते हैं। इनके दो ग्रन्थ हस्त्यायुर्वेद और गजशास्त्र प्रकाशित भी हैं। बृहस्पति कृत गजलक्षण, नीलकण्ठ रचित मातंगलीला और हेमाद्रि द्वारा उल्लिखित गजदर्पण आदि गजायुर्वेद की उल्लेख्य रचनाएं हैं। इसी तरह शालिहोत्र संहिता अश्वायुर्वेद की प्रमुख कृति है तथा अश्ववैद्यक, अश्वशास्त्र तथा हयलीलावती आदि भी उल्लेखनीय हैं। पाण्डव सहदेव गवायुर्वेद के ज्ञाता माने जाते हैं, किन्तु उनका कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता है। सोमेश्वर कृत मानसोल्लास में पशु-पक्षियों की चिकित्सा की चर्चा मिलती है।

पश्वायुर्वेद के रूप में अभिवर्णित पशु-चिकित्सा का भी सैद्धान्तिक विवेचन वेदों में और विशेषकर अथर्ववेद में बड़े ही व्यवस्थित रूप में प्राप्त होता है जिसे हम बाद की परम्परा का मूल मान सकते हैं। अथर्ववेद में प्राप्त होने वाले चिकित्सा-विषयक सूक्तों में मानवों की चिकित्सा के साथ ही साथ पशुओं की भी चिकित्सा का कुछ उल्लेख प्राप्त हो जाता है, किन्तु इसके अतिरिक्त कुछ स्वतन्त्र सूक्त भी मिलते हैं जिनके मन्त्रों में केवल पशु-चिकित्सा से सम्बद्ध विषय ही विवेचित हैं।

अथर्ववेद में पशु-रोगों और उनकी चिकित्सा से सम्बन्धित जो तथ्य प्राप्त होते हैं, वे निम्नलिखित हैं—

(क) पशुओं का संरक्षण—अथर्ववेद में पशुओं के संरक्षण से सम्बन्धित कुछ तथ्यों का उल्लेख अथवा सङ्केत प्राप्त होता है—

1. जब पशु रोगी हो जाएँ तो उन्हें शीघ्र ही चिकित्सकों के पास ले जाना चाहिए—**उतैनां ब्रह्मणे दद्यात्**।[1] यद्यपि आचार्य सायण ने इस अंश की व्याख्या करते हुए कहा है कि उस गाय अथवा पशु को

---

* प्रतिकुलपति, कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा, बिहार

ब्राह्मणों को दान में दे देना चाहिए, किन्तु यदि ब्राह्मण शब्द का अर्थ चिकित्सक किया जाए तो वह भी अनुचित नहीं होगा, क्योंकि यजुर्वेद के एक मन्त्र में स्पष्ट रूप से चिकित्सक को विप्र कहा गया है—**विप्रः स उच्यते भिषक्।**[2]

2. पशुओं के चिकित्सकों के लिए अथर्ववेद में कहा गया है कि वे 'सुहार्द' अर्थात् शोभन हृदय वाले हों और 'सुकृत' अर्थात् अपने कार्य को सम्यक् रीति से करने वाले हों—**यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति।**[3] इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य सायण ने लिखा है—**यत्र यस्मिंश्च लोके सुहार्दः शोभनहृदयाः सुकृतः शोभनकर्माणः पुरुषाः मदन्ति हृष्यन्ति।**[4]

3. अथर्ववेद के उपर्युक्त मन्त्रांश में 'यत्रा' शब्द पशु-चिकित्सालय के अभिप्राय को ध्वनित करता है। आगे के मन्त्र में भी इसी भाव को अभिव्यक्त करते हुए कहा गया है कि उस लोक अर्थात् चिकित्सालय में अग्निहोत्र आदि के द्वारा सदा स्वच्छता रखी जाती है—**अग्निहोत्र हुतां यत्र लोकः।**[5] पशु-चिकित्सालय की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि वहाँ जाकर पशु निरोग हो जाएँ—**विहाय रोगं तन्वः स्वायाः।**[6]

4. मंत्र में ऐसा भी उल्लेख प्राप्त होता है कि निरोग हो गये पशु अथवा चिकित्सालय ऐसे हों जो दूसरे पशुओं और वहाँ स्थित व्यक्तियों को प्रभावित न करें अर्थात् एक पशु के रोग दूसरों को नहीं लग सके—**नो मा हिंसीत् पुरुषान् पशूंश्च।**[7]

(ख) पशु रोग के कारण—अथर्ववेद के कुछ मन्त्रों में पशुओं के अन्दर होने वाले रोगों के कारणों का भी सङ्केत प्राप्त होता है, जो निम्नलिखित है—

1. यमिनी—अथर्ववेद में पशु-रोग के प्रमुख कारण के रूप में माना गया है कि जब गाय आदि जुड़वे बच्चे को जन्म देती हैं तो अस्वस्थ हो जाती हैं—**यत्र विजायते यमिन्यपर्तुः सा।**[8] आचार्य सायण ने यमिनी का अभिप्राय **यमलवत्सोपेता**[9] माना है। इस तरह जुड़वा बच्चे को जन्म देने पर भी गाय का स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। पद्मश्री डॉ० कपिलदेव द्विवेदी ने यमिनी होने के अभिप्राय को वैद्यकीय सिद्धान्त के अनुसार व्याख्यायित करते हुए कहा है—"गाय जिस समय प्रसूत होती है, उसके बाद गर्भस्थान से कुछ भाग गिरते हैं। यदि वह गाय उक्त भाग को खा जाती है तो वह रोगी हो जाती है। योनि आदि स्थान में जुड़वे बच्चे होने से कुछ व्रण आदि हो जाते हैं और वहाँ प्रसूति-स्थान का विष लगने से गाय रोगी हो जाती है। इस प्रकार प्रसूति समय में गाय के रोगी होने की बहुत संभावना रहती है। अतः गोपति को पूर्ण सावधानी रखनी चाहिए। ये रोग बहुत घातक होते हैं। मन्त्र का कथन है कि यदि उस समय सावधानी न बरती गई तो यह रोग संसर्ग में आने वाले अन्य पशुओं को भी लग जाते हैं।"[10]

2. अपर्तुः—अथर्ववेद के उपर्युक्त उद्धरण में 'अपर्तुः सा' कहा गया है। अपर्तुः (अप+ऋतुः) यानी ऋतु के विरुद्ध आचरण करने से गाय आदि अस्वस्थ हो जाती हैं। ऋतु-विरुद्ध भोजन आदि करने से भी गाय आदि को बीमारी लग सकती है। आचार्य सायण ने 'अपर्तुः' का अर्थ 'अपकृष्टार्तवबीजोपेता'[11] किया है। "ऋतौ भवम् अण्"[12] इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'आर्तव' शब्द का अभिप्राय 'ऋतु में होने वाला' स्वीकार्य है। कुछ रोग ऐसे भी होते हैं जो ऋतु-परिवर्तन के कारण हो जाते हैं, उनकी परिगणना भी इस अंश में की जा

सकती है।

3. क्रव्याद् भूत्वा—गाय यद्यपि शाकाहारी जीव है, फिर भी यदि वह मांसाहारी हो जाए तो अस्वस्थ हो जाती है। 'क्रव्याद् भूत्वा' अंश की व्याख्या करते हुए आचार्य सायण ने लिखा है—"क्रव्यं मांसम् अत्तीति क्रव्यात्।......मांसादनशीला भूत्वा।"[13]

4. व्यद्वरी—अथर्ववेद के उपर्युक्त मंत्र में ही गाय के रोगी होने के कारणों में 'व्यद्वरी' पद का भी प्रयोग हुआ है। यदि कोई गाय भूख से अधिक खा ले तब भी वह 'अफ़रा' आदि रोगों से ग्रस्त हो जाती है। ऐसा रोग अजीर्णता के कारण होता है।

3. पशु-चिकित्सा—अथर्ववेद में पशुओं के संरक्षण की आवश्यकता और उनमें होने वाले रोगों के अतिरिक्त उनकी चिकित्सा के सम्बन्ध में भी कुछ सङ्केत प्राप्त होते हैं जिन्हें हम ओषधीय-चिकित्सा और शल्य-चिकित्सा के रूप में विभक्त करके देख सकते हैं—

(i) ओषधीय-चिकित्सा—अथर्ववेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि अरुन्धती नामक वनस्पति गाय आदि पशुओं को नीरोग रखती है, गाय आदि के दूध को बढ़ाती है और जो दूध देने वाली नहीं होती हैं उनमें दुग्ध का संचार करती है—

अनडुद्भ्यस्त्वं प्रथमं धेनुभ्यस्त्वमरुन्धति।
अधेनवे वयसे शर्म यच्छ चतुष्पदे।।[14]

अरुन्धती को अथर्ववेद में भी सहदेवी का पर्यायवाची माना गया है—**शर्म यच्छत्वोषधिः सहदेवीररुन्धती।**[15] अगले मंत्र में इसे विश्वरूपा, सुभगा और जीवला भी कहा गया है—**विश्वरूपां सुभगामच्छावदामि जीवलाम्।**[16] आचार्य सायण ने विश्वरूपा, सुभगा और जीवला शब्दों को सहदेवी का विशेषण माना है—**विश्वरूपां नानारूपां विश्वस्य कृत्स्नस्य फलस्य निरूपयित्रीं वा सुभगां सौभाग्यवतीं जीवलां जीवो जीवनं प्राणधारणं तद्धेतुत्वेन तद्धतीम्।.......जीवं जीवनं लाति ददातीति जीवला।.....ईदृशीं सहदेव्याख्याम् ओषधिम्।**[17]

अथर्ववेद में आञ्जन-मणि का स्थान-स्थान पर उल्लेख है जिसमें से एक मन्त्र में स्पष्ट रूप से उसे मानवों के अतिरिक्त गायों, अश्वों और वडवा का परित्राण-कर्ता बताया गया है—

परिपाणं पुरुषाणं परिपाणां गवामसि।
अश्वानामर्वतां परिपाणाय तस्थिषे।।[18]

इसी तरह एक मन्त्र में कहा गया है कि औदुम्बर मणि पशुओं के लिए पुष्टिकारक है और उन्हें सन्तति प्रदान कर उनका दूध बढ़ाती है—

औदुम्बरेण मणिना पुष्टिकामाय वेधसा।
पशूनां सर्वेषां स्फातिं गोष्ठे मे सविता करत्।।[19]

उपर्युक्त दो उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि आञ्जन मणि और औदुम्बर अर्थात् गूलर से निर्मित मणि के बाँधने से पशु स्वस्थ रहते हैं।

अथर्ववेद में अनेक औषधियों तथा वनस्पतियों का उल्लेख है जिन्हें मनुष्यों के लिए उपकारी माना गया है। निश्चित रूप से इनमें से अनेक पशुओं के लिए भी उपकारी होंगी।

(ii) शल्य-चिकित्सा—अथर्ववेद में औषधियों के अतिरिक्त पशुओं के लिए कुछ शल्य-चिकित्सा का भी उल्लेख है। एक मन्त्र में कहा गया है कि यदि गाय के दोनों कानों को गर्म लोहे से छेद किया जाए तो वह गाय अधिक बच्चे देती है—

लोहितेन स्वधितिना मिथुनं कर्णयोः कृधि।
अकर्तामश्विना लक्ष्म तदस्तु प्रजया बहु।।[20]

उक्त मन्त्र से पहले वाले मन्त्र में वायु देव को गायों का रक्षिता कहा गया है। वहीं यह बताया गया है कि त्वष्टा उनके पोषक हैं, इन्द्र उनके अधिपति हैं और रुद्र पशुओं के पीडाकर देव हैं। आचार्य सायण ने कहा है कि रुद्र पीडाकारक देवता होते हुए उन्हें बहुत सी सन्ततियाँ हों, इसके लिए उनकी चिकित्सा करें—**रुद्रः पशूनाम् अभिमन्ता पीडाकरो देवः भूम्ने बहुत्वाय चिकित्सतु। पादास्ययादिरोगपरिहारेण बह्वीः करोतु इत्यर्थः।**[21]

अथर्ववेद में पशुओं को क्लीव करने की विधि का भी वर्णन हुआ है। एक सूक्त के अनेक मन्त्रों में इसके सम्बन्ध में विवेचन प्राप्त होता है। एक मन्त्र के अनुसार वृषण के ऊपर जो शुक्र-वाहिनी नाड़ियाँ होती हैं, उनको शम्या अर्थात् किसी तेज हथियार से छेदन अथवा भेदन करके क्लीब बनाया जाता है—

ये ते नाड्यौ देवकृते ययोस्तिष्ठति वृष्ण्यम्।
ते ते भिनद्मि शम्ययामुष्या अधि मुष्कयोः।।[22]

इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में बताया गया है कि इन्द्र पत्थरों के द्वारा वीर्य के आश्रयभूता दोनों आण्ड्यों को भेद देते हैं—

अथास्येन्द्रो ग्रावाभ्यामुभे भिनत्वाण्ड्यौ।।[23]

इस प्रकार हम देखते हैं कि अथर्ववेद में कहीं-कहीं पशुओं की चिकित्सा उनके संरक्षण और उनके रोगों तथा रोग-कारणों आदि का भी विवेचन मिलता है जिन्हें हम बाद के पशवायुर्वेद-शास्त्र के लिए प्रेरणा-स्रोत मान सकते हैं।

सन्दर्भ सङ्केत :

1. अथर्ववेद (सायण भाष्य सहित) 3.28.2, कृष्णादास अकादमी, वाराणसी 1989
2. यजुर्वेद 12.80, दयानन्द संस्थान, 1597, हरध्यान सिंह मार्ग, नई दिल्ली 5

3. अथर्ववेद-3.28.5
4. वही 3.28.5 पर सायण
5. वही 3.28.6
6. वही 3.28.5
7. वही 3.28.5
8. वही 3.28.1
9. वही 3.28.1 पर सायण
10. वेदों में आयुर्वेद-पृ0 196, विश्व भारती अनुसंधान परिषद्, ज्ञानपुर (वाराणसी) 1993.
11. अथर्ववेद 3.28.1 पर सायण
12. शब्दस्तोम महानिधि, श्री तारानाथ भट्टाचार्य, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1967.
13. अथर्ववेद 3.28.2 पर सायण
14. वही 6.59.1.
15. वही 6.59.2
16. वही 6.59.3
16. वही 6.59.3 पर सायण
18. वही 4.9.2
19. वही 19.31.1
20. वही 6.141.2
21. वही 6.141.1 पर सायण
22. वही 6.138.4
23. वही 6.138.2

अग्निहोत्र में चिकित्सा-विज्ञान

डॉ० सुभाष चन्द्र सचदेवा 'हर्ष' *

भारतीय मनीषियों के प्रातिभ अनुभूतियों के परिप्रेक्ष्य में वैदिक वाङ्मय का मूर्धन्य स्थान है। यदि यह कहा जाए कि इस वाङ्मय में आधुनिक विज्ञान से भी उदात्ततर वैज्ञानिक सिद्धान्तों का पल्लवन हुआ है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। वैदिक वाङ्मय के प्रति उपेक्षा भाव ने ही इस जीवन्त तथ्य को धूमिल-सा कर दिया है।

वैदिक-वाङ्मय में 'अग्निहोत्र' संज्ञक यज्ञ को पूर्णतः वैज्ञानिक सिद्ध करके उसके अनेक पक्षों को उजागर किया गया है। अपने व्यापक अर्थों में यज्ञ समस्त भुवनों की, समूचे ब्रह्माण्ड की, समस्त सत्ता की एवं समस्त जगत् की नाभि (केन्द्र बिन्दु) है—अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः (यजुर्वेद 23/62)। नाभि शरीर के ठीक बीच में होती है, पूरा शरीर इस पर निर्भर करता है। नाभि ठीक रहेगी तो शरीर ठीक रहेगा। नाभि के डगमगाते ही शरीर भी अस्वस्थ हो जायेगा। जन्म से पूर्व बच्चा नाभि के माध्यम से माता के शरीर से जुड़कर रस को प्राप्त करता है, नाभि के माध्यम से ही वह जीवित रहता है।

जन्म लेने के पश्चात् भी शरीर नाभि पर ही आधारित है। जो कुछ भी खाद्य अथवा पेय पदार्थ हम मुख में डालते हैं, वह नाभि (उदर) में ही जाकर जमा होता है और शनैः-शनैः (रस, रक्त आदि) विभिन्न धातुओं में रूपान्तरित हो जाता है। रूपान्तरण की इस प्रक्रिया में भी एक निश्चित क्रम है। सर्वप्रथम स्थूल रूप से खाया-पिया गया पदार्थ नाभि (उदर) में प्रविष्ट होकर सूक्ष्म रूप धारण करके पचना प्रारम्भ होता है, तदनन्तर उसका सारतत्त्व रस, रक्त, मेद, मज्जा, अस्थि एवं शुक्र (वीर्य) आदि के रूप में परिणत हो जाता है, अवशिष्ट मल आदि शरीर से बाहर फेंक दिया जाता है।

अखिल ब्रह्माण्ड के नाभि-स्थानीय यज्ञ (अग्निहोत्र) की प्रक्रिया भी इसी न्याय का ही अनुवर्तन करती है। अग्निहोत्र संज्ञक यज्ञ में भी जो हवि (आहुति) घृत-सामग्री आदि के रूप में डाली जाती है, वह नष्ट नहीं होती अपितु सूक्ष्म रूप धारण करके वायुमण्डल में चहुँ ओर प्रसारित हो जाती है। यह प्रक्रिया आधुनिक वैज्ञानिकों को भी स्वीकृत है। अग्निहोत्र द्वारा की जाने वाली चिकित्सा के मूल में भी यही वैज्ञानिक तथ्य ही पूर्ण रूप से साकार होता है।[1]

---

* वरिष्ठ प्रवक्ता, हिन्दू कन्या महाविद्यालय, सोनीपत, हरियाणा

अग्नि होत्र की सामग्री में नानाविध रोगों के निवारण की जो शक्ति निहित रहती है, अग्नि में डालते ही वह शक्ति सूक्ष्म रूप धारण करके अपेक्षाकृत अधिक प्रभावशालिनी बन जाती है और उससे समूचे विश्व का अनायास ही हित होता है। निस्सन्देह यज्ञ में घृत आदि की आहुति देना एक महनीय कर्म है, परन्तु इसे केवल कर्मकाण्ड तक सीमित मानना सर्वथा अनुचित है। यज्ञ में समर्पित की गई आहुति से अग्निचिकित्सा, यज्ञ चिकित्सा, वायु चिकित्सा, विद्युत चिकित्सा, सूर्य चिकित्सा, जल चिकित्सा एवं नाद चिकित्सा आदि की एक साथ सिद्धि हो जाती है।[2]

वैदिक वाङ्मय के सन्दर्भ में, हम प्रस्तुत शोध पत्र में अग्निहोत्र द्वारा विधीयमान चिकित्सा के कतिपय पक्षों को उजागर करने का प्रयास कर रहे हैं—

(क) अग्निहोत्र एवं वायु चिकित्सा

वैदिक युग के वैज्ञानिक इस तथ्य से पूर्णतः भिज्ञ थे कि शुद्ध वायु (भेषज वात) हृदय के लिए शान्तिदायक एवं सुखकर होती है और आयु को बढ़ाती है। इसलिए ऋग्वेद के मन्त्र में ऋषि ने प्रार्थना की है कि 'वायु हमारे हृदय के लिए भेषज रूप में शान्तिदायक एवं सुखकारक होकर बहे और वह हमारी आयु को बढ़ाए।[3] अब प्रश्न उपस्थित होता है कि वैदिक वाङ्मय में वायु अथवा पर्यावरण की शुद्धि का उपाय क्या बतलाया गया है? इस विषय में मार्गदर्शन करते हुए वैदिक वाङ्मय में स्पष्ट रूप से घोषणा की गई है कि विधिवत् किया जाने वाला अग्निहोत्र वायु की संशुद्धि करके जहाँ एक ओर संजीवनी शक्ति को विस्तारित करता है[4], वहाँ दूसरी ओर वायु को तपा कर उसके अनावश्यक तत्त्वों को नष्ट कर देता है।[5] ध्यातव्य है कि यज्ञाग्नि में जिन द्रव्यों की आहुति डाली जाती है उनमें प्रधान रूप से सुगन्धित (कस्तूरी, केशर, अगर, श्वेत चन्दन, इलायची, जायफल, गुग्गल एवं जावित्री आदि) तथा पुष्टि कारक (घृत, दूध, फल, चावल, गेहूँ एवं उड़द आदि) औषधियों का प्रयोग किया जाता है। अथर्ववेद में स्पष्ट रूप से इस तथ्य की उद्भावना हुई है कि यज्ञ में घृत आदि की आहुति देने से वायुमण्डल सुवासित हो जाता है, परिणामतः देवों, मंनुष्यों एवं याजक आदि को शुद्ध एवं पुष्टिकारक प्राण वायु की उपलब्धि होती है।[6] मैत्रायणी-संहिता में कहा गया है कि देवदारु, गुग्गल आदि तथा 'सुगन्धि तेजन' नामक औषधि की आहुति देने से समूचा पर्यावरण पवित्र एवं सुगन्धित हो जाता है।[7] यजुर्वेद के अनुसार अग्नि में छोड़ी गई आहुतियाँ जल, वायु एवं औषधियों के साथ मिल कर सबको आनन्दित करती हैं।[8]

घृत, दूध एवं फल आदि तथा गुग्गल, जायफल एवं जावित्री प्रभृति द्रव्यों से सम्पन्न किये जाने वाले अग्निहोत्र के धुएँ पर जो शोध कार्य हुआ है, तदनुसार चार प्रकार की ऐसी गैसों की जानकारी मिली है, जिनकी आज के दूषित पर्यावरण का परिष्कार करने हेतु एक विशिष्ट भूमिका है। वे चार प्रकार की गैसें हैं— 1. एथिलीन आक्साइड 2. प्रॉपिलीन ऑक्साइड, 3. फ़ार्मेल्डिहाइड, 4. वीटा प्रापियो लेक्टोन। आहुति दिये जाने से गाय का घी एसिटिलीन में रूपान्तरित हो जाता है। हवन-सामग्री में उपलब्ध होने वाला सुगन्धित द्रव्य (एरोमैटिक इसेन्शियल ऑयल) यज्ञीय पदार्थों को शीघ्र ज्वलनशील बनाता है और वाष्पीय रूप से अधिक

विस्तार पाता है। यज्ञ की इस उपादेयता को दृष्टिगत रखते हुए अमेरिका से प्रकाशित पत्रिका 'नेशनल हॉर्टीकल्चर सोसायटी' के सम्पादक डॉ० एन० मेक्केलिप्स ने यह निष्कर्ष उपस्थित किया है कि यूरोपीय देशों में विद्यमान एसिड रेन से बचने का एकमात्र उपाय अग्निहोत्र ही है।[9]

यज्ञाग्नि का धुआँ केवल वायुमण्डल को ही परिमार्जित एवं सुवासित नहीं करता अपितु अग्नि में आहुत आहुतियाँ वायु के अश्वों पर आरूढ़ होकर सूर्यमण्डल में पहुँचती हैं।[10] वहाँ सूर्य की किरणों से खींची हुई समुद्र की खारी जल राशि को मधुर, शुद्ध एवं स्वादिष्ट बना कर पृथिवी पर वृष्टि के रूप में बरसा देती हैं। 'शतपथ ब्राह्मण' में कहा गया है कि अग्निहोत्र का धुआँ आहुत द्रव्यों के रस को अपने साथ भाप बना कर ले जाता है। ये तत्त्व वायु के प्रकोप से ऊपर उठते हैं। उनमें जो पृथिवी तत्त्व के कण हैं वे वायुमण्डल में फैल जाते हैं। उन्हीं पर बादल जमते हैं और ठंड पाकर बरस पड़ते हैं।"[11] यही कारण है कि यजुर्वेद ने यज्ञ को (वृष्टि का स्रोत होने के कारण) पृथिवी का महान् संशोधक एवं उपकारक अभिहित किया है।[12] एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि यज्ञों के अनुष्ठान से उत्तम वृष्टि होकर पुष्कल धन उपजता है जिसे ग्रहण करके मनुष्य आनन्दित होते हैं। ऐसी भूमि ही मनुष्य को उत्तम प्राण और पूर्ण आयुष्य प्रदान करने वाली होती है।[13]

यज्ञ अनावृष्टि के समय भी वर्षा लाता है। जब यज्ञ में घी की आहुतियाँ डाली जाती हैं, तो घी के परमाणु आकाश में चढ़ कर बादलों के तले में पहुँचते हैं। तब वहाँ की ठंड के कारण जम जाते हैं। पानी और घी दो ऐसे पदार्थ हैं जो सर्दी से जम जाते हैं और गर्मी से पिघल जाते हैं। घी के जमने के कारण उनके साथ सम्पर्क में आने वाले बादलों के वाष्पकरण भी घी के ठण्डे परमाणुओं के कारण भाप की जगह पानी बन जाते हैं और बरस पड़ते हैं। वाष्प के ठण्डा होने का अर्थ है—पानी का बरस पड़ना। अतः वेद की यह धारणा सर्वथा युक्ति-संगत है कि यज्ञ ही वर्षा का हेतु है।[14]

(ख) अग्निहोत्र एवं रोग-चिकित्सा

यज्ञ पर्यावरण की शुद्धि का मुख्य उपाय होने के साथ-साथ अनेक शारीरिक, मानसिक एवं कृषि सम्बन्धी रोगों की एक अचूक रामबाण औषधि भी है। प्रायः यह देखा जाता है कि एक निश्चित औषधि से एक निश्चित रोग का ही उपचार किया जाता है, परन्तु यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है कि 'अग्निहोत्र' ऐसी दिव्य एवं अनुपम औषधि है जो अकेले ही असंख्य रोगों का उन्मूलन करने में सक्षम है। वैदिक वाङ्मय के साक्ष्य के आधार पर यहाँ इस शाश्वत सत्य (अग्निहोत्र द्वारा अनेक रोगों का पूर्णतः निवारण) को रूपायित किया जा रहा है—

(i) अग्निहोत्र द्वारा ऋतु परिवर्तन से उत्पन्न होने वाले रोगों का उपचार—

वेद में दैनिक यज्ञ[15] के साथ-साथ दर्शपौर्णमास एवं ऋतु परिवर्तन के अवसर पर किये जाने वाले यज्ञों का भी विधान है जिससे कि ऋतु सन्धि काल (ऋतु परिवर्तन) में होने वाले प्रदूषण एवं रोग प्रसारण अथवा 'वायरस इन्फैक्शन' को दूर किया जा सके।

अथर्ववेद[16] एवं यजुर्वेद[17] में पुनः-पुनः इस तथ्य की उद्भावना की गई है कि ऋतु परिवर्तन एवं ऋतु के अनुसार अग्निहोत्र करने से कई असाध्य रोगों से मुक्ति प्राप्त होती है। यह प्रत्यक्ष रूप से देखा जा सकता है कि ऋतु-परिवर्तन पर रोगियों की संख्या अधिक होने से डॉक्टरों के पास भीड़ बढ़ जाती है। महामनीषी वैदिक ऋषियों ने इस तथ्य को हृदयंगम करके ही ऋतुओं के सन्धि काल (ऋतु-परिवर्तन) में नानाविध यज्ञों को करने का विधान किया है।

गोपथ-ब्राह्मण में ऋतु-परिवर्तन पर सम्पाद्यमान तथा अगणित रोगों के उन्मूलक इन 'चातुर्मास्य' आदि यज्ञों को 'भैषज्ययज्ञ' कहा गया है।[18] इन यज्ञों के अनुष्ठान से सहज ही अनेक मौसमी रोगों से छुटकारा प्राप्त किया जा सकता है।

(ii) अग्नि होत्र से त्वचा-चिकित्सा—

वैदिक वाङ्मय में अग्निहोत्र द्वारा त्वचा सम्बन्धी रोगों के उपचार का भी स्पष्ट सङ्केत उपलब्ध होता है। अथर्ववेद के एक मन्त्र के अनुसार 'सूर्योदय के समय अग्निहोत्र करने वाले याजक को सिरदर्द एवं त्वचा सम्बन्धी रोगों से मुक्ति प्राप्त होती है।'[19]

(iii) अग्नि होत्र से राजयक्ष्मा का निदान—

राजयक्ष्मा एक संक्रमण रोग है। अथर्ववेद में इस रोग को यज्ञाग्नि द्वारा निर्वीर्य किये जाने[20] का उल्लेख करने के साथ-साथ इस तथ्य को भी आलोकित किया गया है कि गुग्गुल द्वारा क्रियमाण सुगन्धि युक्त अग्निहोत्र यक्ष्मा (राजयक्ष्मा) के रोगाणुओं को नष्ट कर डालता है।[21]

(iv) अग्निहोत्र से असंख्य संसर्गजन्य रोगों का नाश—

यज्ञाग्नि से संसर्गजन्य रोगों का भी उपचार किया जा सकता है। कई रोग एक दूसरे के संसर्ग से उत्पन्न होते हैं। मलिन लोगों के साथ सोने अथवा उनके संसर्ग में रहने से भी रोग उत्पन्न होते हैं। संसर्ग स्थलों पर अग्निहोत्र करने से संसर्गजन्य रोगों के जीवाणुओं का नाश होता है और पर्यावरण निर्मल हो जाता है।[22] विकृत दाँतों वाले, बुरे नाखूनों वाले, विरूप और गन्दे लोगों के साथ उठने-बैठने, खाने-पीने से संक्रामक रोग हो जाते हैं।[23] उत्सवों, माङ्गलिक अवसरों, जन संकुलित स्थानों एवं विवाहादि समारोहों पर कौन-सा व्यक्ति किस रोग से पीड़ित है और किस संक्रामक रोग के जीवाणुओं का वाहक है, यह जानना बहुत कठिन होता है। इसीलिए प्राचीन काल से ही माङ्गलिक अवसर आदि पर यज्ञ-अनुष्ठान करने की परम्परा विद्यमान रही है। अथर्ववेद का स्पष्ट कथन है कि इन विशिष्ट अवसरों पर किये जाने वाले अग्निहोत्र संक्रामक रोग के जीवाणुओं को दूर ले जाते हैं।[24]

कुछ रोग ऐसे होते हैं जिनका निदान हो जाता है, कुछ रोग ऐसे भी होते हैं जो ठीक से नहीं पहचाने जाते। कुछ रोगों के निदान में मतभेद रहता है। ऐसे ज्ञात और अज्ञात रोग अग्नि में उपयुक्त औषधियों के होम से नष्ट हो जाते हैं।[25]

(v) अग्निहोत्र से नानाविध कृमियों का विनाश—

मानव-शरीर में रोग-कृमियों का प्रवेश कच्चे, आधे पके, पूर्ण पके एवं अधिक पके अन्न से होता है।[26] इसके साथ-साथ दूध, दही एवं पानी आदि के माध्यम से भी अनेक कृमियों का शरीर में अनायास संचरण होता रहता है।[27] अथर्ववेद में इन कृमियों के नाश के उपाय की चर्चा करते हुए कहा गया है कि यज्ञाग्नि से इन पिशाचजम्भनी अर्थात् रक्त को सुखाने वाले कृमियों का नाश होता है क्योंकि याज्ञिक समिधाओं का यह गुण है।[28] मानव-शक्ति को क्षीण करने वाले ये कृमि अग्नि को परास्त नहीं कर सकते। यज्ञाग्नि से इनके मूल कारण का ही पूर्णतः नाश हो जाता है।[29]

तैत्तिरीय ब्राह्मण में 'करीर' को 'सौम्य औषधि' नामक संज्ञा से अभिहित किया गया है।[30] करीर वृक्ष की जड़ों और शाखाओं से अग्निहोत्र करने पर अनेक रोगोत्पादक कृमियों का नाश होता है। अथर्ववेद में गुग्गुल, (गुल्गुलू), पीला, नलदी, औक्षगन्धी और प्रमन्दनी—इन पाँच सुगन्धित औषधियों द्वारा विधीयमान अग्निहोत्र को कृमिनाशक बतलाया गया है।[31] अथर्ववेद में 'तृष्टार्ध'[32] नामक औषधि का भी उल्लेख है। डॉ० वेदवती वैदिक की मान्यता है कि तृष्टार्ध वस्तुतः सरसों की डंडी की बनी हुई समिधाएँ हैं जो कृमि नाशन के लिए अग्नि होत्र में प्रयुक्त की जाती हैं।[33]

वैदिक वाङ्मय के सौजन्य से ऐसे अगणित उद्धरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जो स्पष्टतः इस मान्यता को पुष्ट करते हैं कि पूर्व वर्णित औषधियों के द्वारा किये जाने वाले अग्निहोत्र द्वारा अनेक प्रकार के कृमियों का नाश सम्भव है। शतपथ ब्राह्मण का वचन है कि यज्ञाग्नि मनुष्य के रक्त को चूसने वाले 'राक्षस' नामक कृमियों को नष्ट कर डालती है।[34] ऋग्वेद में भी इस तथ्य का उल्लेख किया गया है।[35] अथर्ववेद में तो यहाँ तक कह दिया है कि अग्नि मुख से सभी प्रकार के कृमियों को जलाया जा सकता है।[36] यज्ञाग्नि रोग कृमियों को नष्ट कर वातावरण को शुद्ध करती है। जिस घर में प्रतिदिन नियमपूर्वक यज्ञ की अग्नि प्रज्वलित की जाती है वहाँ रोग के कृमि स्वयमेव नष्ट हो जाते हैं।[37]

(ग) अग्निहोत्र और कृषि-चिकित्सा

खेत में अग्निहोत्र करने से उत्कृष्ट कोटि का उत्पादन होता है। जो धान्य बोया जाता है उसका भी हवन करना चाहिए। अथर्ववेद की मान्यता है कि विधि पूर्वक अग्नि होत्र करने से खेत के आस-पास का जलवायु शुद्ध होता है और शुद्ध कृषि से शुद्ध धान्य होता है जो आरोग्यवर्धक एवं पुष्टिकारक होता है।[38]

निष्कर्षतः अग्नि होत्र एक ऐसी अनुपम महौषधि है जिसके पुण्य प्रसाद से न केवल पर्यावरण को ही सुवासित एवं प्रदूषण मुक्त बनाया जा सकता है अपितु अनेक असाध्य रोगों का उपचार भी यज्ञाग्नि द्वारा सम्भव है। वैदिक वाङ्मय में पौनःपुन्येन अग्निहोत्र के इन सर्वातिशायी एवं लोकोत्तर गुणों को आलोकित किया गया है। अग्निहोत्र की इस अतुलनीय उपयोगिता को हृदयङ्गम करके ही मन्त्र द्रष्टा ऋषि ने एक मन्त्र में स्पष्ट कहा है—घृतेन द्यावापृथिवी पूर्वेथाम्[39] अर्थात् घी से द्युलोक एवं पृथिवी लोक को भर दो, और यह

पुनीत कर्म एकमात्र अग्नि होत्र द्वारा ही सम्भव है।

सन्दर्भ सङ्केत :

1. (क) फ्रांसीसी वैज्ञानिक ट्रिलवर्ड ने परीक्षणों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि अग्नि होत्र में शक्कर डालने से क्षय, चेचक तथा हैज़ा आदि बीमारियाँ तुरन्त नष्ट हो जाती है क्योंकि शक्कर अथवा खाँड के जलने से 'फ़ॉरमैल-डी-हाइड' गैस उत्पन्न होती है जिसमें कृमियों को नष्ट करने की अद्‌भुत शक्ति होती है। (देखें :–'सरस्वती' पत्रिका, अक्टूबर 1919 के अंक में प्रकाशित)
(ख) डॉ0 कुन्दन लाल अग्निहोत्री ने 'टी0 बी0 सैनिटोरियम, जबलपुर में यज्ञ के धुएँ का क्षयरोगियों पर परीक्षण किया था, जिससे 80% रोगियों को लाभ हुआ।(देखें–'पर्यावरण एवं यज्ञ, पृ0 6)
(ग) सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक एम0 ट्रेल्ट ने मुनक्का एवं किशमिश आदि द्रव्यों को अग्नि में जलाने का परीक्षण करके यह तथ्य प्रस्तुत किया कि उक्त द्रव्यों के होम से जो धुआँ निकलता है, उससे टायफ़ायड ज्वर के कीटाणु आधे घण्टे में तथा अन्य बीमारियों के कीटाणु एक दो घण्टे में मर जाते हैं। ('भारत-सुदशा-प्रवर्तक', अंक, जून 1903)
(घ) डॉक्टर हैफ़लिन की मान्यता है कि घी के धुएँ में न केवल चेचक अपितु चर्मरोग, रक्त विकार, शुष्कता, दाह एवं आंत्र रोगादि के कीटाणु नष्ट करने की भी अद्‌भुत क्षमता है। डॉ0 टाइलिट की मान्यता है कि किशमिश का हवन करने से निमोनिया रोग से मुक्ति मिलती है। ('यज्ञ और पर्यावरण', डॉ0 प्रेमचन्द श्रीधर, पृ0 34-35)
(ङ) केम्बीयर तथा ब्राचेट ने अपने परीक्षणों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि हवन सामग्री के जलने से उत्पन्न हुई 'फ़ॉरमैल-डी-हाइड' नामक गैस द्वारा घर के पूरे परिवेश के सभी रोगकारक कीटाणु नष्ट होजाते हैं। ल्यू तथा फिशर की भी यही मान्यता है। (देखें 'Agnihotra', by Dr. Satya Prakash, D.S.C. p. 153)
2. "Offering oblations into fire is no doubt, a vedic ritual of prime importance; but out of it, both directly and indirectly, a mode of treatment is evolving. It is 'Agni, cikitsa' (अग्नि चिकित्सा) Fire therapy, or 'Yajna cikitsa' (यज्ञ चिकित्सा). Five different therapies known as Air therapy—'Vayu cikitsa' (वायु चिकित्सा), Electro therapy—'Vidyut cikitsa' (विद्युत् चिकित्सा), Solar therapy—'Surya cikitsa' (सूर्य चिकित्सा), Water therapy—'Jala-cikitsa' (जल-चिकित्सा) and sound therapy—'Nada cikitsa (नाद चिकित्सा), appear to have emerged out of home therapy." ('Agnihotra', by Alias Babu rao Parkhe, p. 74-75)
3. वातऽआ वातु भेषजं शम्भुमयोभुनोहृदये। प्रण आयूँषि तारिषत्।। (ऋग्वेद 10/186/1)
4. वसो पवित्रमसि सहस्रधारम्। (यजुर्वेद 1/3)
5. वसो पवित्रमसि मातरिश्वानो धर्मोसि। (यजुर्वेद 1/2)
6. यस्मिन् देवाः अमृजत यस्मिन् मनुष्या उत्। तस्मिन् घृतस्तावोमुष्ट्वा त्वमग्ने दिवं रुह।। (अथर्ववेद 12/2/17)
7. यामोषधीषु तां सुगन्धि तेजने। (मैत्रायणी संहिता, 3/8/5)
8. मध्यं चान्तश्च पशर्द्धश्चैता मेऽअग्नऽइष्टका धेनवः सन्त्वमुत्रामुष्मिंलोके।। (यजुर्वेद 17/2 पर महर्षि दयानन्द कृत भाष्य)
9. यज्ञ और पर्यावरण, डॉ0 प्रेमचन्द श्रीधर, पृ0 33।
10. अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। (मनुस्मृति, 2/76)
11. अग्निर्वै धूमो जायते धूमाद भ्रम भ्राद् वृष्टिरग्नेर्वा एता जायन्ते तस्मादाह तपोजा इति। (शतपथ ब्राह्मण, 5/3)
12. आ नो यज्ञं भारती तूर्यमेति। (यजुर्वेद 5/12)
13. भूम्या देवेभ्यो ददाति यज्ञं हत्यमरंकृतम्।। भूम्या मनुष्या जीवन्ति स्वधयानन्नेन मर्त्याः।। सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु जरदष्टिं मा पृथिवी कृणोतु।। (यजुर्वेद, 12/1, 21/22)

14. 'संस्कार-चन्द्रिका', सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, पृ0 15
15. सुदिनं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। (यजुर्वेद, 18/6)
16. देवानां पाथ ऋतुथा हवींषि। (अथर्ववेद, 5/12/10)
17. ऋतवस्ते यज्ञं वितन्वन्तु। (यजुर्वेद, 16/4) वयं देवा नो यज्ञमृतुथा नयन्तु। (यजुर्वेद 26/19)
18. भैषज्ययज्ञा वा एते यच्चातुर्मास्यानि। तस्मादृतुसंधिषु प्रयुज्यन्ते। ऋतुसंधिषु वै व्याधिर्जायते।। (गोपथ ब्राह्मण, 2/1/19)
19. उद्यन्नादित्य रश्मिभिः शीर्ष्णो रोगमनीनशोऽङ्गभेदमशीशमः। (अथर्ववेद, 9/8/22)
20. विद्या वै ते जायान्य जानं यतो जायान्य जायसे। कथं ह तत्र त्वं हनो यस्य कृण्मो हविर्गृहे। (अथर्ववेद, 7/7/6/5)
21. न तं यक्ष्मा अरुन्धते नैनं शपथो अश्नुते। यं भेषजस्य गुल्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्नुते।। (वही, 19/38/1-3)
22. दिवा मा नक्तं यतमो ददम्भ क्रत्याधातूनां शयने शयनम्। तदात्मना प्रजया पिशाचा वियातयन्तामगदो यमस्तु।। (वही 5/29/9)
23. श्यावदता कुनरिवना बण्डेन यत्सहासिम अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदपमृज्महे। (वही, 7/65/3)
24. ये वध्वश्चन्द्रं वहतु यक्ष्मा यन्ति जना अनु। पुनस्तान् यज्ञिया देवाः।। (अथर्ववेद, 14/2/10)
25. अज्ञातयक्ष्मात् उत राजयक्ष्मात् त्वा मुञ्चामि। (वही, 3/11/1)
26. आमे सुपक्वे शबले विपक्वेभ्यो मा पिशाच अशने ददम्भा। तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदोयऽमस्तु। (वही, 5/2/9/7)
27. ये अन्नेषु विविध्यन्ति पात्रेषु पिबतो जनान्। (यजुर्वेद, 16/62)
28. एतास्ते अग्ने समिधः पिशाचजम्भनीः। तास्तवं जुषस्व प्रति चैनां गृहाण जातवेद।। (अथर्ववेद 5/29/23)
29. वही।
30. सौम्यानि वै करीराणि। (तैत्तिरीय ब्राह्मण, 2/4/9/2)
31. गुल्गुलूः पीला नालाघौक्षगन्धिः प्रमन्दनी। तत्परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन।। (अथर्ववेद 4/37/3)
32. तार्ष्टाधीरग्ने समिधः प्रति ग्रहणाद्धर्चिषा। जहातु क्रव्याद्रूपं योऽस्य माँसं जिहीर्षति।। (वही, 5/29/15)
33. यज्ञ और पर्यावरण (अथर्ववेद के सन्दर्भ में), डॉ0 वेदवती वैदिक, पृ0 99।
34. अग्निर्वै ज्योतीरक्षोहा। (शतपथ ब्राह्मण, 7/4/1/34)
35. अदाभ्येन शोचिषेऽग्ने रक्षस्त्वं दह। (ऋग्वेद, 10/11/87)
36. सर्वेषां च क्रिमीणां सर्वासां च क्रिमीणाम्। भिनद्भ्ययशक्रमना शिरो दहाम्यग्निना मुखम्।। (अथर्ववेद 5/24/13)
37. आराद रक्षांसि प्रति दह त्वमग्ने न नो गृहाणामुपतीतपासि।
रुद्रो वो ग्रीवा अशरैत् पिशाचाः पृष्टीर्वोपि शृणातु यातु धानाः।। (वही, 673/2/1-2)
38. शुनासीरा स्म मे जुषेथाम्। यद्दिवि चक्र थुः पयस्तेनेमामुप सिञ्चतम्।। (अथर्ववेद, 3/1/7)
39. यजुर्वेद, 5/28।

❒

सन्तति विज्ञान और उपनिषद्

डॉ० वेदवती वैदिक *

आध्यात्मिक ज्ञान की अन्यतम शेवधि उपनिषद् वाङ्मय में अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनों का अद्भुत समन्वय मिलता है। ऋषि प्रज्ञा के चिंतन का केन्द्र 'मानव' का सम्पूर्ण आभ्युदिक और चारित्रिक विकास रहा है। पुरुष यदि विधाता की सर्वसुन्दर, सर्वोत्तम सृष्टि है तो गर्भाधान संस्कार 'सन्तति विज्ञान' की आधारशिला है। इसीलिए समावर्त्तन संस्कार सम्पन्न करते समय गुरु अन्तेवासी शिष्य को जहाँ उसे भावी गृहस्थ जीवन को जीने की कला से अवगत कराते हैं वहाँ प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः अर्थात् वंश-परम्परा के धागे को मत तोड़ो' इसका आदेश भी दे देते हैं। प्रजातन्तु से ही वंश परम्परा के ताने-बाने को बुना जाता है।

महर्षि सुश्रुत का कथन है कि जैसे ऋतु, क्षेत्र, अम्बु और बीज इन चार के मिलने से अङ्कुर पैदा होता है वैसे ही स्त्री-पुरुष के ऋतु, क्षेत्र, अम्बु और बीज के मिलने से विधिपूर्वक संयोग से सन्तान का जन्म होता है। स्त्री को कैशोर्यावस्था में योनि द्वार से रक्तस्राव होने लगता है यही अवस्था 'जीव वैज्ञानिक अवस्था' (Biological age) होती है। स्त्री में रक्तस्राव काल ही 'ऋतुकाल' है, जो गर्भ-धारण की अवस्था का सूचक है परन्तु गर्भधारण की योग्यता ऋतुकाल के दो-तीन वर्ष बाद आती है। स्त्री-पुरुष में संयोग जीव-वैज्ञानिक के साथ-साथ सांस्कृतिक कारणों से भी होता है। अतः सन्तति विज्ञान में गर्भाधान पहला पड़ाव है और उसके लिए स्त्री में ऋतुस्राव होना अपरिहार्य है।

जैसे प्रकृति में प्रजनन के लिए ऋतु अनिवार्य है वैसे ही 'क्षेत्र' भी महत्त्वपूर्ण है। स्त्री में ऋतु का कार्य है—गर्भाशय को धोकर अशुद्धता और मलादि दोषों को दूर करके उसमें शुद्ध रक्त का सञ्चार करना। यह इसलिए आवश्यक है कि गर्भाशय पुरुष द्वारा आधान किये गये बीज को ग्रहण कर सके। ऋतुकाल ही गर्भाशय का क्षेत्रीकरण करता है। ऋतुमती स्त्री का गर्भ ठहर जाने पर वही रक्तस्राव वनस्पतियों के जल के समान वृद्धि का कारण बनता है। यही रक्त गर्भवती स्त्री के स्तनों में दुग्ध का निर्माण करता है। सन्तति प्रजनन में इन सबके साथ जो अनिवार्य वस्तु है—वह है बीज। पुरुष का बीज अण्डकोशों से उत्पन्न होता है—इसे ही 'रेतस्' या वीर्य कहते हैं। स्त्री का बीज डिम्बग्रन्थियों से उत्पन्न होता है—इसे 'रज' कहते हैं। यहाँ यह

---

* रीडर, संस्कृत विभाग, अरविन्द महाविद्यालय (सान्ध्य), दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि 'रेतस्' और 'रज' की निर्मिति 'अन्न' से होती है। अन्न से ही वीर्य की उत्पत्ति होती है—अन्नाद्वीर्यम्।[1]

शरीर का मूल अन्न है। मनुष्य जो भी अन्न खाता है, वह अन्न ही जल के द्वारा द्रवीभूत होकर जठराग्नि के द्वारा पचाये जाने पर रस रूप में परिणत होता है। वह रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से वीर्य रूप में परिणत होता है। इसी प्रकार स्त्री द्वारा भुक्त अन्न रसादि के क्रम से परिणत होकर रज बनता है। अतः उस परस्पर मिले हुए अन्न के कार्य तथा प्रतिदिन खाये हुए अन्न से परिपुष्ट हुए वीर्य और रज से अन्नमूलक देहरूप अङ्कुर निष्पन्न होता है। अतः अन्न से ही वीर्य की उत्पत्ति होती है। स्वस्थ, निरोगी और उत्तम सन्तान प्राप्त करने हेतु अन्न की शुद्धि नितान्त अनिवार्य है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव शरीर अन्नमय है। प्रजनन के लिए ऋतु, क्षेत्र, अम्बु और बीज ये अपरिहार्य तत्त्व हैं। इनमें से प्रथम तीन स्त्री से सम्बन्धित हैं और अंतिम पुरुष से सम्बन्धित है। इसीलिये तैत्तिरीयोपनिषद् में प्रजा सम्बन्धी महासंहिता का विवेचन करते हुए कहा गया है कि इस महासंहिता में 'माता' पूर्वरूप है, 'पिता' उत्तररूप है, 'प्रजा' सन्धि है, तथा 'प्रजनन' सन्धान है।[2]

गर्भाधान के समय जब पुरुष अपनी भार्या के पास समागम हेतु जाता है तो वह इस मन्त्र का जाप करते हुए मैथुन-कर्म द्वारा स्त्री में गर्भ का आधान करता है—हे वीर्य! तुम मेरे प्रत्येक अङ्ग में प्रकट होते हो, विशेष रूप से हृदयस्थ नाड़ी के द्वारा तुम्हारा प्रादुर्भाव होता है। तुम मेरे अङ्गों का रस हो। जैसे विष लगाये हुए बाण से घायल हुई हिरणी मूर्छित हो जाती है वैसे ही तुम मेरी पत्नी को मेरे प्रति उन्मत्त बना दो।[3] इसके बाद वह पुनः कहे कि, मैं इन्द्रियरूप वीर्य के द्वारा तुझमें रेतस् का आधान करता हूँ। फलस्वरूप स्त्री गर्भवती हो जाती है।[4]

आर्ष परम्परा में गर्भाधान का एक संस्कार के रूप में अनुष्ठान किया जाता है। संस्कार का शाब्दिक अर्थ है—शुद्धि, परिष्कार, शौच, स्वभाव का शोधन, पूर्वजन्म की वासना। महर्षि चरक के अनुसार, 'संस्कार पहले से विद्यमान दुर्गुणों को हटाकर, उनके स्थान पर सद्गुणों के आधान करने का नाम है—संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते।' अतः बालक का जब जन्म होता है तब वह दो प्रकार के संस्कारों से युक्त होता है, प्रथमतः तो वह जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों से सम्पन्न होता है। द्वितीयतः वह अपने माता-पिता के संस्कारों के रूप में, वंश-परम्परा से संस्कार प्राप्त करता है। गर्भाधान संस्कार से 'बैजिकम्' अर्थात् बीज सम्बन्धी दुष्ट संस्कार दूर हो जाते हैं। अतः 'बैजिकम्' शब्द का अर्थ है—परम्परागत पैतृक-मातृक अंशों से उत्पन्न होने वाले और 'गार्भिकम्' शब्द का अर्थ है—गर्भकाल में माता-पिता से प्राप्त होने वाले बुरे आचरण के संस्कारजन्य दोष एवं शारीरिक अशुद्धियाँ, गर्भाधान संस्कार के अनुष्ठान से 'बैजिकम्' और 'गार्भिकम्' कुसंस्कारों का परिमार्जन हो जाता है। शुद्ध, श्रेष्ठ संस्कारों का निर्माण हो जाता है।[5] अतः संस्कारों द्वारा गर्भस्थ शिशु के लिए ऐसा पर्यावरण तैयार कर दिया जाता है जिससे कुसंस्कार और दोष चाहे वे पूर्व जन्म के हों, चाहे माता-पिता से प्राप्त हुए हों, चाहे जन्मोपरान्त वातावरण से प्राप्त हुए हों, उन्हें निर्बीज कर दिया जाता है।

बृहदारण्यकोपनिषद् के पुत्रमन्थ-कर्म के अन्तर्गत विभिन्न गुणों से सम्पन्न पुत्रों को प्राप्त करने का

विधान मिलता है। यहाँ यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि यह संस्कार गर्भधारण करने से पूर्व करने का आदेश है जिसे गर्भाधान संस्कार की संज्ञा दी गई है। प्रायः समाज में पुंसवन संस्कार द्वारा ही पुत्र प्राप्त करने की मान्यता प्रचलित है परन्तु यह आर्षदृष्टि और वैज्ञानिक दृष्टि से ठीक नहीं है। क्योंकि गर्भस्थ शिशु का लिङ्ग निर्धारण तो गर्भाधान के समय ही हो जाता है। अतः पुंसवन संस्कार का अर्थ है कि सन्तान पौरुषयुक्त, हृष्ट-पुष्ट हो, भले ही वह पुत्र हो या पुत्री। यह संस्कार तभी संपन्न किया जाता है जब तक गर्भ-स्थिति का निश्चय न हो जाये। अतः गर्भाधान संस्कार द्वारा विभिन्न गुणों से सम्पन्न पुत्र और पुत्री की प्राप्ति कैसे सम्भव है, इसका विधान भी उपनिषदों में उपलब्ध होता है।

शुक्लवर्ण पुत्र

जो पुरुष यह कामना करता है कि 'मेरा पुत्र शुक्ल वर्ण का हो, वह केवल एक वेद का अध्ययन करे और शतायु हो तो वे दोनों पति-पत्नी 'क्षीरौदन' अर्थात् दूध और चावल की खीर बनाकर उसमें घी मिश्रित करके खायें। फलस्वरूप वे ऐसे पुत्र को जन्म देने में समर्थ होते हैं।[6]

कपिल या पिङ्गलवर्ण पुत्र

जो पुरुष यह चाहता है कि, 'मेरा पुत्र कपिल या पिङ्गल वर्ण (ललाई लिये हुए भूरे रङ्ग वाला) का हो, दो वेदों का अध्ययन करे और पूरे सौ वर्ष तक जीवित रहे तो वह और उसकी पत्नी दध्योदन-दही के साथ भात पकाकर उसमें घी मिलाकर खायें। तदनन्तर वे मनचाहे पुत्र को जन्म देने में समर्थ होते हैं।[7]

श्याम वर्ण लोहिताक्ष पुत्र

जो पुरुष यह अभिलाषा करता है कि मेरा पुत्र श्याम वर्ण हो परन्तु लोहिताक्ष अर्थात् अरुण नयनों वाला हो, वह तीन वेदों का स्वाध्याय करे तथा पूर्ण आयु को प्राप्त करे तो वह और उसकी पत्नी 'उदौदन' अर्थात् जल में चावल पकाकर भात तैयार कर लें और उसमें घी मिश्रित करके खायें। फलस्वरूप वे उपर्युक्त योग्यता वाले पुत्र को जन्म देने में समर्थ होते हैं।[8]

दुहिता पण्डिता

केवल बृहदारण्यकोपनिषद् में ही 'दुहिता पण्डिता' प्राप्त करने के लिए यह संस्कार वर्णित है। आर्षवाङ्मय में भी अन्यत्र यह कहीं उपलब्ध नहीं होता है। अतः उपनिषद् युगीन समाज में ही पुरुष 'दुहिता पण्डिता' की भी कामना करते थे और गर्भाधान से पूर्व संस्कार का अनुष्ठान करते थे। सौ वर्ष तक जीने वाली दुहिता पण्डिता की कामना करने वाले पुरुष को यह आदेश था कि वह और उसकी पत्नी 'तिलौदन' अर्थात्

तिल और चावल की खिचड़ी पकाकर उसमें घी मिलाकर खायें। तत्पश्चात् वे उक्त योग्यतावाली कन्या को जन्म देने में समर्थ होते हैं।[9]

पण्डित पुत्र

जो पुरुष यह कामना करता है कि मेरा पुत्र प्रख्यात पण्डित हो, विद्वानों की सभा में निर्भय प्रवेश करने वाला, सुनने में प्रिय, रमणीक और सार्थक वाणी का वक्ता हो, सम्पूर्ण वेदों का स्वाध्याय करे और पूरे सौ वर्ष तक जीवित रहे, वह पुरुष और उसकी पत्नी मांसौदन अर्थात् औषधियों के गूदे को चावल के साथ पकाकर उसमें मिलाकर खायें। इससे वे उपर्युक्त योग्यता वाले पुत्र को जन्म देने में समर्थ होते हैं। 'उक्षा' अथवा 'ऋषभ' नामक औषधि के गूदे के साथ खाने का विधान है। उपर्युक्त सन्दर्भ में 'मांसौदन' 'उक्षा' और 'ऋषभ' तीनों शब्द व्याख्यासापेक्ष हैं।

मांसौदन किसे कहते हैं? शंकराचार्य के अनुसार 'मांसमिश्रमोदनं मांसौदनम्' अर्थात् मांसमिश्रित ओदन ही मांसौदन है। मांस से यहाँ क्या तात्पर्य है? मांस शब्द के अनेक अर्थ हैं—(1) शरीर में हड्डियों और चमड़ी के बीच का मुलायम और लचीला पदार्थ मांस होता है और (2) फल के गूदे को मांस कहते हैं। मांसौदन के सन्दर्भ में भी फल या औषधि का गूदा ही अभिप्रेत है जिसे चावल के साथ पकाये जाने पर भात तैयार किया जाता था।

पुरुष के रेतस् की निर्मिति भी तो औषधियों अर्थात् अन्न से ही होती है। अतः गर्भाधान संस्कार के प्रसंग में 'मांसौदन' में मांस का तात्पर्य औषधियों के गूदे से ही है। चावल को दूध, दही, जल, तिल और औषधियों के गूदे में मिलाकर पचाने से उसमें गुणात्मक और रसात्मक परिवर्तन हो जाता था। इससे यह भी ज्ञात हो जाता है कि क्षीरौदन, दध्योदन, उदौदन, तिलौदन और माँसौदन, विभिन्न प्रकार के गुणों से युक्त पुत्रों और पण्डिता दुहिता को प्राप्त करने हेतु गर्भाधान से पूर्व ही खाये जाते थे। क्योंकि यथेच्छ सन्तान की प्राप्ति हेतु निर्दिष्ट औदन को ग्रहण करने के उपरान्त ही पति-पत्नी के साथ शयन करता था और प्रार्थना करता था कि, 'प्रजापति मुझमें अभिन्न भाव से स्थित हो तुझमें वीर्य का आधान करें अर्थात् प्रजापति गर्भ को सींचे। धाता गर्भ को धारण करें। तुम गर्भ को धारण करो।[10] कमलों की माला को धारण करने वाले देव अश्विनीकुमार तुझमें गर्भ का आधान करें। सुवर्ण की भाँति देदीप्यमान पुरुष तथा स्त्री मानो दो अरणि हैं। अरणियों के मन्थन से जैसे अग्नि प्रज्वलित होती है वैसे ही सम्भोग से पति-पत्नी में सन्तान रूपी अग्नि उत्पन्न होती है।[11]

गर्भाधान के समय मांसौदन के सन्दर्भ में यहाँ एक बात और विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि कौन-सी औषधियों के गूदे को चावल के साथ पकाकर खाना चाहिए। 'उक्षा' औषधि के साथ भात पकाना चाहिए। उक्षा क्या है? लोक भाषा में गर्भाधान में समर्थ सांड को 'उक्षा' कहते हैं। उसी के समान शक्ति सम्पन्न होने से औषधि विशेष का नाम 'उक्षा' है। उक्षन् शब्द उक्ष् धातु में कनिन् प्रत्यय जोड़ने पर निष्पन्न होता है।

कोशग्रन्थ वाचस्पत्यम् में इसे अष्टावर्गान्त ऋषभ नामक ओषधि का पर्याय माना गया है—ऋषभ औषधौ-च। सर मोनियर विलियम्स ने अंग्रेजी कोश में इसे सोम नामक पौधे का पर्याय बताया गया है।

सुश्रुतसंहिता में 'ऋषभ' का सैंतीस द्रव्यगणों के अन्तर्गत उल्लेख मिलता है। आयुर्वेद के 'भावप्रकाश' नामक ग्रन्थ में वर्णित है कि 'जीवक' और 'ऋषभक' (ऋषभ) नाम की औषधियाँ हिमालय के शिखर पर उत्पन्न होती हैं। इनमें से ऋषभ बैल के सींग की आकृति का होता है। इसके दूसरे नाम हैं—ऋषभ, वीर, विषाणी और ब्राह्म। ऋषभ अष्टवर्ग नामक औषधियों में वर्गीकृत है।[12] अतः उक्षा अथवा ऋषभ औषधियों के गूदे के साथ ही चावल पकाकर गर्भाधान के पूर्व खाने का निर्देश है।

स्त्री के जैसे अपने अङ्ग होते हैं वैसे ही वीर्य स्त्री के आत्मभाव अर्थात् तादात्म्यता को प्राप्त हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि गर्भाधान से पूर्व जैसे वीर्य पुरुष का आत्मभाव होता है, गर्भाधान के बाद वह स्त्री का आत्मभाव हो जाता है। गर्भ गर्भिणी स्त्री को कष्ट नहीं देता है। गर्भिणी स्त्री अपने पति की आत्मा को अपने उदर में प्रविष्ट हुआ मानकर इसका पोषण करती है।[13] गर्भिणी स्त्री उस गर्भ को अपने उदर में धारण कर पोषण करती है—तं स्त्री गर्भं बिभर्ति[14]। गर्भ के रूप में वह मानो पुरुष का ही पालन करती है।

जैसे पृथिवी के गर्भ में अग्नि है, जैसे धुएँ के गर्भ में इन्द्र हैं, जैसे दिशाओं के गर्भ में वायु है, वैसे ही स्त्री में गर्भ दशम मास तक रहता है। गर्भ धारण कर गर्भिणी स्त्री दशम मास में सन्तान उत्पन्न करती है।[15] इसका तात्पर्य यह है कि दसवें मास में 'प्रसव' होता है। जैसे वायु पोखर के जल को सब ओर से चञ्चल कर, चलायमान कर देती है वैसे ही दसवें मास स्त्री का गर्भ अपने स्थान से चलकर जरायु के साथ बाहर निकलता है। प्रसूति वायु के लिये ही योनिमार्ग निर्मित हुआ है। दस मास तक इस मार्ग में जरायु अर्थात् गर्भवेष्टन की गर्भ अर्गला बना रहता है। प्रसव वायु उस मार्ग में पहुँचकर गर्भ एवं अवरा अर्थात् बन्धकनाल के साथ शिशु सहित बाहर निकलता है।[16] प्रसवकाल में सुखपूर्वक प्रसूति के लिये प्रार्थना भी की जाती थी।

सन्तान के जन्म के बाद पुरुष उसकी रक्षा करता है, उसकी भावना करता है। यह रक्षा, यह भावना मानो पुरुष की अपनी ही रक्षा और अपनी ही भावना है। सन्तति का वर्द्धन कर मानो पुरुष स्वयं का वर्द्धन करता है। पिता ही अपने को पुत्र रूप से उत्पन्न करता है। क्यों? लोक में वंश-परम्परा का विस्तार करने के लिये ही सन्तति विज्ञान की आवश्यकता अनुभव की गई। पुत्रोत्पादनादि कर्मों का विच्छेद न होने के कारण ही ये लोक वृद्धि को प्राप्त होकर प्रवाहरूप से वर्तमान रहते हैं। अतः पुत्रजन्म पुरुष का अपना ही जन्म है। रेतोरूप जन्म अर्थात् वीर्यदान पुरुष का प्रथम जन्म है, कुमार रूप में उत्पन्न होना पुरुष का दूसरा जन्म है। पिता का वह यह पुत्ररूप आत्मा पुण्यकर्मों के अनुष्ठान के लिए घर में पिता के स्थान पर प्रतिनिधि रूप से स्थापित किया जाता है। पिता वृद्धावस्था में पहुँचकर कृतकृत्य हो मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। इस लोक से गमन करने के बाद ही वह अपने शुभाशुभ कर्मों का भोग करने के लिए पुनः जन्म लेता है। यही पुरुष का तीसरा जन्म है। इस प्रकार उपनिषद् वाङ्मय में सन्तति निर्माण की प्रक्रिया बालक के गर्भ में आने से पूर्व गर्भाधान संस्कार के अनुष्ठान से ही आरम्भ हो जाती है, जो सन्तति विज्ञान की पूर्वपीठिका है।

सन्दर्भ सङ्केत :

1. प्रश्न उप0 6.4
2. अथाधिप्रजम्। माता पूर्वरूपम्। पितोत्तररूपम्।
   प्रजा संधिः। प्रजननं संधानम्। इत्यधिप्रजम्। तै0 उप0 1.3.5
3. अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे। स त्वमङ्ग कषायोऽसि दिग्धविद्धामिव मादयेमाममूं मयीति। वही 6.4.9
4. इन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदधामीति गर्भिण्येव भवति। वही 6.4.11
5. गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौलमौञ्जीनिबन्धनैः।
   बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते। मनुस्मृति 2.27
6. स य इच्छेत् पुत्रो मे शुक्लो जायेत वेदमनुब्रवीत सर्वमायुरियादिति क्षीरौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै।
   बृह0 उप0 6.4.14
7. वही, 6.4.15
8. वही 6.4.16
9. वही 6.4.17
10. आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते। गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि पृथुष्टुके। गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ।
    वही0 6.4.21
11. हिरणमयी अरणी याभ्यां निर्मन्थतामश्विनौ।...वही 6.4.22
12. सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थान, प्रथमखण्ड 38वाँ अध्याय।
13. तत्स्त्रिया आत्मभूतं गच्छति। यथा स्वमङ्ग तथा। तस्मादेनां न हिनस्ति सास्यैतमात्मानत्रगतं भावयति। ऐत0 उप0 2.12
14. वही 2.1.3
15. हिरण्यमयी अरणी याभ्यां निर्मन्थतामश्विनौ।
    तं ते गर्भ हवामहे दशमे मासि सूतये।
    यथाग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी।
    वायुर्दिशां यथा गर्भ एव गर्भं दधामि तेऽसाविति। बृह0 उप0 6.4.22
16. सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति। यथा वायुः पुष्करिणीं समिङ्गयति सर्वतः। एवा ते गर्भ एजतु सहावैतु जरायुणा। इन्द्रस्यायं व्रजः कृतः सार्गलः सपरिश्रयः। तमिन्द्र निर्जहि गर्भेण सावराँ सहेति। वही 6.4.23

❑

अथर्ववेद में कृषि उपकरण

डॉ० शशि तिवारी *

भारत प्रारम्भ से ही कृषि प्रधानदेश है। द्रष्टव्य है कि आज भी साधारण कृषक कृषि के लिए जिन उपकरणों का प्रयोग करता है, प्रायः वही वैदिक काल में भी प्रयुक्त होते थे। ऋक्संहिता में क्षेत्रपति के स्तवन में वामदेव ऋषि ने कृषि में प्रयुक्त वस्तुओं और व्यक्तियों का उल्लेख किया है—जैसे, लाङ्गल (हल), वाह (बैल), अष्ट्रा (प्रतोद), फाल (भूमिविदारक उपकरण) इत्यादि।[1] अथर्ववेदसंहिता द्वारा खेती के लिए उपयोगी जिन उपकरणों का मुख्यतया ज्ञान होता है। वे इस प्रकार हैं—

(अ) सीर—वैदिक संहिताओं में प्रायः हल को 'सीर' (सि+रक्)[2] और लाङ्गल (लङ्ग.....कलच्)[3] कहा गया है। कृषकों के पास एक से अधिक सम्भवतया छः तक हल होते थे।[4] एक मन्त्र में कहा गया है कि विद्वान् मनुष्य हलों को कर्षणार्थ जोतते हैं और बैलों के कन्धों पर पृथक्-पृथक् जुओं (युगा) को रखते हैं।5 हल में एक लम्बा बाँस बाँधा जाता था, जिस पर जुआ रखा जाता था, जिसमें रस्सियों (वरत्राः) से बैल का गला बाँधा जाता था।[6] 'हल को वज्र के समान कठोर (पवीरवत्), कर्षक को चलाने में सुखकर (सुशीमम्) और सायण के अनुसार व्रीह्यादिसम्पादन द्वारा सोमयागनिष्पादक अथवा सातवलेकर के अनुसार लकड़ी के मूठवाला[7] अथवा ह्विटने के अनुसार चिकनी मूठ से युक्त (With well smoothed handle)[8] (सोमसत्सरु) विशेषण दिये गये हैं; जो सब ही उसके स्वरूप के उद्भावक हैं।[9] ऋषि की कामना है कि हल सुख से कृषि करें।[10]

कृषि के युगल देवता के रूप में मन्त्रों में 'शुनासीरा' का आवाहन है।[11] इनसे हवियों द्वारा सन्तुष्ट होकर व्रीहि-यवादि को सुस्वादु बनाने की प्रार्थना की गई है।[12] यास्क ने 'शुनः' को वायु और 'सीरः' को आदित्य से समीकृत किया है।[13] सायणाचार्य ने भी इस युग्म देवता को 'वाय्वादित्यौ' का वाचक माना है, किन्तु विकल्प से उन्होंने 'शुनः' को 'सुखकरो देवः' और 'सीरः' को 'लाङ्गलाभिमानी देवः' के अर्थ में भी ग्रहण किया है।[14] निश्चय ही हल आर्यों का पूज्य उपकरण था।

हल चलाने से खेत में मिट्टी खुदने से जो रेखा बन जाती है, उसे 'सीता' (-सि+त) कहते हैं।[15] आचार्य सायण ने इसे 'लाङ्गल-पद्धति' कहा है।[16] सीता की स्तुति करते हुए एक मन्त्र में कहा गया है—'हे

* रीडर, संस्कृत विभाग, मैत्रेयी कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सीते! हम तुम्हारी वन्दना करते हैं। हे सुभाग्ये! हमारे अभिमुख हो, हमारे लिए प्रसन्नचित्त हो जाओ और हमारे लिए सुफला हो जाओ।'[17] उससे प्रार्थना है कि वह उपासकों को चारों ओर से जल या दूध से युक्त कर दें।[18]

(आ) फाल—हल के अग्रभाग को 'फाल' कहा गया है। सायण ने इसे 'लाङ्गलमुख' बताया है।[19] 'हल सुखपूर्वक भूमि को तभी खोद सकते हैं, जब वे सुन्दर फलों से युक्त हों।[20] हल को 'पवीरवत्' अर्थात् वज्र के समान कठोर कहने से उसके अग्र भाग के कठोर और नुकीले होने का अनुमान किया जा सकता है। यह स्पष्ट नहीं है कि फाल किस वस्तु का बनाया जाता था। बृहस्पति द्वारा फाल की खदिरोत्पन्ना मणि को ओजस् की प्राप्ति के लिए बाँधने का उल्लेख भी इस विषय में कोई विशेष प्रकाश नहीं डालता है।[21] यद्यपि यह कहा गया है कि उस मणि के द्वारा अश्विन् कुमार कृषि की रक्षा करते हैं।[22] अतएव फालमणि का कृषि से सम्बन्ध माना गया है। फाल द्वारा जुती भूमि पर ही बीज अङ्कुरित होता है।[23] यह निश्चित मान्यता है। अतः फाल स्वरूपतः हल का तीक्ष्ण और कठोर अग्र भाग ही है जिसे जुताई में अतिशय रूप से आवश्यक उपकरण माना गया है।

ब्लूमफील्ड का मत है कि हल की नोक धातु की बनी होती थी।[24] ह्विटने ने हल को ही नुकीला माना है।[25] सातवलेकर के विचार में हल में लोहे का कठिन फाल लगाया जाता था और पकड़ने के लिए लकड़ी की मूठ।[26] ऋग्वैदिक आर्यों के धातु ज्ञान के सम्बन्ध में राहुल सांकृत्यायन का प्रतिपादन है कि उस समय लोहा अज्ञात था, ताँबे का फाल भी लग सकता था, लेकिन ताँबा अभी महार्घ धातु थी। इसलिए फाल भी लकड़ी का रहा होगा, अपेक्षाकृत कड़ी लकड़ी का।[27] डॉ० राजछत्र मिश्र की सम्भावना है कि अथर्ववैदिक हल की नोक खदिर की लकड़ी की बनती थी।[28] वास्तव में, सुनिश्चित प्रमाणों के अभाव में इस विषय में कुछ भी निर्णय कर पाना कठिन ही है।

(इ) अष्ट्रा—'अष्ट्रा' शब्द का प्रयोग अथर्वसंहिता में केवल एक बार हुआ है; जहाँ कहा गया है कि अष्ट्रा (सायण—'प्रतोदः') मृदुभाव से बैलों को चलने के लिए प्रेरित करे।[29] इससे प्रतीत होता है कि यह चाबुक है, जिसे हलवाला बैलों को हाँकने के लिए धारण करता था। कौशिक सूत्र में विधान है कि वैश्य अपने हाथों में अष्ट्रा ग्रहण करें।[30]

कृषि-साधन हल के प्रयोग के लिए अत्यावश्यक पशु 'बैल' को मन्त्रों में 'वाह' कहा गया है। यह खेत की जुताई में सहायक होने के अतिरिक्त गाड़ी खींचने में भी उपयोगी था। हल सुख से कृषि करे—इसके लिए सर्वप्रथम हल वहन करने वाले बैलों के सुख की कामना की गई है।[31] ये अपने स्कन्धों पर हलदण्डों को धारण करते हैं।[32] हल द्वारा जुताई करते समय किसान बैलों के पीछे चलता है।[33] खेती में 'बैल' की अतिशय महत्ता को स्वीकार करने के कारण ही अथर्ववैदिक ऋषि ने 'अनड्वान्' सूक्त (4/11) में विश्व के धारक परमेश्वर का विशद वर्णन अनड्वान् के रूप में किया है, जो विश्वमय शकट को वहन करने वाला है।

साधारणतः हल में दो बैल ही जोते जाते थे, किन्तु प्रतीत होता है कि कभी-कभी छः और आठ तक भी बैल जोते जाते थे। एक मन्त्र में वर्णन है कि कृषकों ने इस भैषज्यरूप यव को आठ और छः बैलों की जोड़ी से खेत को जोतकर उपजाया है।[34] तैत्तिरीय संहिता में बारह तक बैलों को जोतने का उल्लेख है।[35] ऋक्संहिता में बैलों द्वारा जौ के (खेत) जोतने का वर्णन प्राप्त है।[36]

खाद

पशुओं की प्रधानता होने के कारण वैदिक युग में पशुओं से प्राप्त उत्तम खाद ही सहज थी। कदाचित् पशुओं में गाय की विशेष महत्ता का एक कारण उसका 'करीषिणी:' (गोबर उत्पन्न करने वाली)[37] होना भी रहा है। इसके गोबर का उपयोग खाद के रूप में किया जाता रहा होगा, तभी उसे गोष्ठ में ही उत्पन्न करने की कामना की गई है। ह्विटने ने 'करीषिणी:' पद को 'खाद में समृद्ध' (Rich in manure) अर्थ में ही ग्रहण किया है।[38] अन्यत्र दासी द्वारा गो के मूत्र और गोबर को इधर-उधर फेंकने की निन्दा भी उसकी उपयोगिता व्यञ्जित करती है।[39] मैकडॉनल और कीथ ने लिखा है कि अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि खेतों के लिए मवेशियों की खाद का महत्त्व समझ लिया गया था।[40]

अथर्ववेदसंहिता के एक मन्त्र[41] की व्याख्या करते हुए सातवलेकर ने उत्तम मधुर रस-युक्त धान्य और फल की उपज के लिए भूमि को घी और शहद द्वारा योग्य रीति से सींचने का अर्थ ग्रहण किया है और वैदिक कृषि में खाद के रूप में घी और शहद के प्रयोग का उल्लेख स्वीकार किया है।[42]

सिंचाई

भारत वर्ष में आज भी उत्तम वर्षा उत्तम कृषि का आधार मानी जाती है। अथर्ववैदिक कृषि तो पर्जन्य प्रधान थी ही। मन्त्रों में सिंचाई के लिए प्राकृतिक वर्षा को सर्वातिशायी महत्ता दी गई है। साङ्केतिक रूप में स्वीकार किया गया है कि पृथिवी पर वृष्टि से औषधियाँ और वनस्पतियाँ बढ़ती हैं।[43]

नियमित वर्षा प्राप्ति की आवश्यकता की द्योतक है—वैदिक इन्द्र-वृत्र-युद्ध की कथा; जिसमें जल निरोधक वृत्र इन्द्र के द्वारा मारा जाता है। वृष्टि की उपयोगिता के साथ अनावृष्टि की हानियों से भी परिचित होने के कारण एक मन्त्र में कहा गया है कि 'मित्र-वरुण के द्वारा बरसाने वाला जल ब्राह्मणघाती के क्षेत्रादि पर नहीं बरसता है।[44] दुष्ट या अमित्र के लिए अवर्षण की कामना के मूल में यह तथ्य व्यञ्जित होता है कि जलप्रवाह-विमोचन खेत के लिए अति हानिकारक है।

जलप्राप्ति के कई प्राकृतिक स्रोतों का उल्लेख अथर्वसंहिता में प्राप्त है; जिनमें नदियों का विशेष स्थान है।

नदियाँ अनेक थीं, किन्तु मुख्य रूप से सप्त नदियों का उल्लेख है।[46] नदियों पर दृढ़ बांधों के अभाव में कृषि को प्राकृतिक चुनौतियों का सामना भी करना पड़ता होगा, इसीलिए एक मन्त्र में सङ्केत प्राप्त है कि वृष्टि द्वारा बरसे हुए जल को नदियाँ अति वेग से बहाकर ले जाती हैं।[47]

विविध जल और जल प्रवाहों का वर्णन करते हुए मन्त्रों में कहा गया है कि हिमवान् पर्वत से आने वाले जलप्रवाह, स्रोतों में बहने वाले जलप्रवाह, वेग से जाने वाले प्रवाह, वर्षा से आये जलप्रवाह, मरु देश में होने वाले जलप्रवाह, जलसमृद्ध देश में बहने वाले जलप्रवाह, खोदकर प्राप्त किये गये जल प्रवाह और घड़ों में भरकर रखे गये जल सुखकारक हों।[48] वर्षा के अभाव में खेत की सिंचाई और जल प्राप्ति के लिए

प्रयोग में लाये जाने वाले कुछ कृत्रिम साधनों का सङ्केत भी यहाँ प्राप्त है। 'खनित्रिमा' अर्थात् खोदकर निकाले गये (पानी) का उल्लेख उक्त मन्त्र के अतिरिक्त अथर्वसंहिता में दो बार और भी है।[49] इसे कुओं का वाचक माना जा सकता है और नहरों का भी। कीथ और मैकडॉनल ने इसे सिंचाई के लिए प्रयोग में आने वाले पानी की कृत्रिम नहरों का द्योतक माना है,[50] तो सायण ने खुदाई द्वारा उत्पन्न कूप-तडागादि स्थित जलों का।[51] निश्चय ही उस समय 'कूप' थे।[52] सम्भवतः कूप से ऊपर पानी 'कुम्भ' द्वारा ही खींचा जाता था और पानी भरकर लाने के लिए कुम्भ का ही प्रयोग किया जाता था।[53] निघण्टु (3/23/7) में 'अवतः' कूपनामों में पठित है। ऋक्संहिता (1/85/10) के समान अथर्वसंहिता में भी 'अवत' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसे प्रदत्त 'खात' अर्थात् 'खोदकर बनाये गये' विशेषण[54] से उनके निर्माण में खनन प्रक्रिया का बोध होता है।

इस प्रकार उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि वैदिक आर्य जाति के लिए कृषि उदरपोषण और व्यवसाय का सरल माध्यम थी अतः उन्होंने जीविका के प्रधान साधन के रूप में कृषि उपयोगी उपकरणों का समुचित विकास कर लिया था।

सन्दर्भ सङ्केत :

1. ऋ0 सं0 4/57
2. ऋ0 सं0 10/101/3, 4,; अथर्व0 3/17/1,2
3. ऋ0 सं0 4/57/4; अथर्व0 2/8/16
4. षडयोगं सीरमनु। 8/9/16
5. सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक्। 3/17/1 युनक्त सीरा वि युगा तनोत।3/17/2
6. शुनं वरत्रा बध्यन्ताम्।3/17/6
7. अथर्ववेद का सुबोध भाष्य, सातवलेकर, 1958, भाग 1, काण्ड 3 पृ0 75
8. Atharva veda samhita, W.D. Whitney, Motilal Banarsidass, 1962. Vol. I, p. 115.
9. लाङ्गलं पवीरवत् सुशीमं सोमसत्सरु। 3/17/3.
10. शुनं कृषतु लाङ्गलम्। 3/17/6;
11. शुनासीरेह स्म मे जुषेथाम्। 3/17/7; द्रष्टव्य-ऋ0 सं0 4/57/5, 8.
12. शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तमस्मै।3/17/5.
13. शुनो वायुः सीर आदित्यः। निरुक्त 9/40
14. सायणभाष्य 3/17/5; तुलनीय-शुनाख्यो वाय्विन्द्रयोरन्यतमः सुखकृद्देवः। ऋ0 सं0 सायणभाष्य 4/57/4; शुन इन्द्रः सीरो वायुः। ऋ0 सं0 सायणभाष्य 4/57/5
15. ऋ0 सं0 4/57/6, 7.
16. अथर्व सायणभाष्य 3/17/4
17. सीते वन्दामहे त्वार्वाची सुभगे भव। यथा नः सुमना असो यथा नः सुफला भुवः।।3/1/7/8
18. सा नः सीते पयसाभ्याववृत्स्व। 3/7/9।
19. सुफालाः शोभनानि लाङ्गलमुखानि। सायणभाष्य 3/17/5.
20. शुनं सुफाला वि तुदन्तु भूमिम्। 3/17/5.
21. यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्च्युतमुग्रं खदिरमोजसे। 10/6/6

22. तेनेमां मणिना कृषिमश्विनावभि रक्षतः। 10/6/12
23. यथा बीजमुर्वराया कृष्टे फालेन रोहति। 10/6/33
24. Hymns of the Atharva veda, Macirice Bloom field, (S.B.E. 42), Motilal Banarsidass, 1967, p. 609.
25. The Atharva-veda Samhjita, W.D. Whitney, Vol I. p. 115
26. अथर्ववेद का सुबोध भाष्य, भाग 1, काण्ड 3, पृ0 75
27. ऋग्वैदिक आर्य, राहुल सांकृत्यायन, 1057, पृ0 46
28. अथर्ववेद में सांस्कृतिक तत्त्व, डॉ0 राजछत्र मिश्र, इलाहाबाद, 1968, पृ0 142
29. शुनमष्ट्रामुदिङ्गय। 3/17/6
30. अष्ट्रामिति वैश्यस्य। को0 सू0 80/50
31. शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम्। 3/17/6
32. 3/17/1 (पूर्वोल्लिखित)
33. 3/17/5 (पूर्वोल्लिखित)
34. इमं यवमष्टायोगैः षड्योगेभिरचकृषुः। 6/9/1/1
35. तै0 सं0 1/8/7/1
36. गोभिर्यवं न चकृ षत्। ऋ0 सं0 1/23/15
37. संजग्माना अबिभ्युषीरस्मिन् गोष्ठे करीषिणीः। (3/14/3 सायण-करीषिणीः। करीषं शकृत्। भूम्नि मत्वर्थीय इनिः। चिरकालजीवनेन प्रभूतकरीषयुक्ता इत्यर्थः। तुलनीय 19/31/3.
38. Atharvaveda samhita, W.D. Whitney, 1962, vol I. p. 110.
39. यदस्याः पल्यूलनं शकृद् दासी समस्यति। ततोऽपरूपं जायते तस्यादव्येष्यदेनसः 12/4/9
40. Vedic Index of Names and subjects, A.A. Macdonell & A. B. Keith, varanasi, 1958, vol. I, p. 139, vol. II, p. 348.
41. घृतेन सीता मधुना समक्ता। 3/17/9
42. अथर्ववेद का सुबोध भाष्य, 1958, भाग 1, काण्ड 3, पृ0 76-77.
43. क. यदा प्राणो अभ्यवर्षीद्, वर्षेण पृथिवीं महीम्। ओषधयः प्र जायन्तेऽथो याः काश्च वीरुधः।।11/4/17
ख. वृष्टिरिव वर्धया तृणम्।6/45/1
44. न वर्ष मैत्रावरुणं ब्रह्मज्यमभि वर्षति। 5/19/15
45. अविच्छिन्नैर्नदीनां प्रवाहैः सस्याद्यभिवृद्धिद्वारा अभिलषितं धनं प्राप्नुयामेत्यर्थः। सायण भाष्य 1/15/3.
46. सप्त क्षरन्ति शिशवे मरुत्वते। 7/57/2
47. वृष्टे शापं नदीरिवेह स्फातिं समावहान्। 3/24/3
48. शं त आपो हैमवतीः शमु ते सन्तूऽत्स्याः।। शं ते सनिष्यदा आपः शमु ते सन्तु वर्ष्याः।।
शं त आपो धन्वन्याः शं ते सन्त्वनूप्याः। शं ते खनिमित्रा आपः शं याः कुम्भेभिराभृताः।।19/2/1-2
49. 1/6/4, 5/13/9
50. Vedic Index of Names and Subjects, Macdonell & Keith, Varanasi, 1958, vol, I. p. 214.
51. कूपोद्भवा आपः। 1/6/4, खननेन निर्वत्याः कूपटताकादिस्था आपः। 19/2/2
52. यां ते कृत्यां कूपेऽवदधुः। 5/31/8, तुलनीय ऋ0 सं0 1/105/17
53. ऊर्ध्व भरन्तमुदकं कुम्भेनेवोदहार्यम्। 10/8/14; तुलनीय 1/6/4, 3/12/8
54. तुभ्यं खाता अवता आद्रिदुग्धरः। 20/88/3

पृथिवी सूक्त में वैज्ञानिक तथ्य

प्रो० शिवगोपाल मिश्र *

अथर्ववेद के द्वादश काण्ड के अन्तर्गत पृथिवी सूक्त (मातृभूमि सूक्त) में 63 मंत्र हैं जिनमें कम से कम 32 ऐसे हैं जो आज के ज्ञात वैज्ञानिक तथ्यों के अनुकूल हैं। अंग्रेजी मोनियर विलियम्स कोश में पृथिवी यानी भूमि के तीन अंग्रेज़ी पर्याय दिये हैं—Earth, Soil, Ground। इनमें Land शब्द भी जोड़ा जा सकता है। आज के मृदा विज्ञान (Soil Science) में ये चारों शब्द मान्य हैं। इस निबन्ध में हम पृथिवी सूक्त में आए उन अनेक तथ्यों को सूचीबद्ध करेंगे जो मृदा विज्ञान द्वारा समर्थित हैं। ये तथ्य इस बात के द्योतक हैं कि हमारे ऋषियों ने कितनी गम्भीरता से पृथिवी के विषय में विचार किया।

पृथिवी सूक्त माता के रूप में पृथिवी की स्तुति मात्र नहीं है, उसमें तत्कालीन ज्ञान गाम्भीर्य मिलता है। पृथिवी सूक्त में पृथिवी को पर्वत, समुद्र, वनस्पति एवं सस्य से युक्त तो कहा ही गया है, उसके साथ ही उसके अन्तस्थ-उसके भीतर छिपी अग्नि एवं रत्नों का भी उल्लेख है।

पृथिवी सूक्त का प्रमुख मन्त्र बारहवाँ है जो मृदा वैज्ञानिकों को प्रिय है, जिसमें पृथिवी को माता कहा गया है—

माता भूमिः पुत्रो ऽहं पृथिव्याः।
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु।।

भूमि हमारी माता है, हम उस पृथिवी के पुत्र हैं। जल की वृष्टि करने वाले मेघ हमारे पिता हैं। वह हमारा निश्चय पालन करें।

जब हम पृथिवी को माता और मेघ को पिता कहते हैं तो पृथिवी के साथ मेघ का अटूट सम्बन्ध स्थापित करके पृथिवी अर्थात् भूमि पर वर्षा होने से सभी प्रकार के अन्नों के उपजने और उससे मनुष्यों के भरण पोषण की बात करते हैं। पुत्र वह है जो माता के दुःखों को दूर करे और पर्जन्य पिता रूप में सस्य सम्पत्ति से पालन करने वाला है। एक मन्त्र में कहा गया है—

जैसे माता पुत्र को दूध देती है, वैसे ही पृथिवी हम सब पुत्रों को खाने पीने की वस्तुएँ प्रदान करे—

* प्रोफेसर, रसायन विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद (भू0पू0) उत्तरप्रदेश

सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः।।10।।

इसी ऋण से उऋण होने के लिए ऋषि प्रार्थना करते हैं—

यद् वदामि मधुमत् तद् वदामि यदीक्षे तद् वनन्ति मा।
त्विषीमानस्मि जूतिमानवान्यान् हन्मि दोधतः।।58।।
शन्ति वा सुरभिः स्योना कीलालोघ्नी पयस्वती।
भूमिरधिब्रवीतु मे पृथिवी पयसा सह।।59।।

हम जो कुछ भी भाषण करेंगे वह सब हमारी मातृभूमि के लिए हितकारी होगा। जो कुछ देखेंगे वह सब भी मातृभूमि के लिए सहायक होगा। इसी प्रकार हमारे सारे कार्य मातृभूमि ही को अर्पण होंगे। हम तेजस्वी और बुद्धिमान हों, जो शत्रु हमारी मातृभूमि का दोहन करेंगे, उनका हम नाश करेंगे। शान्ति, सुख, अन्न, जल आदि देने वाली हमारी मातृभूमि हमें सब भोग के पदार्थ और ऐश्वर्य देने वाली हो, इस तरह हमारी रक्षा करती रहे।

पृथिवी की रचना

पृथिवी शिला, पर्वत, पत्थर और धूलि से बनी है। इसमें सोने की (हिरण्यवक्षसे) तथा रत्नों की खानें हैं—

शिला भूमिरश्मा पांसुः सा भूमिः संधृताधृता।
तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः।।26।।
निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे।।44।।

विस्तार

इस पृथिवी पर सागर, महासागर, नद, नदी, तालाब, कुएँ, बावली नहर, झीलें इत्यादि जल के अनेक साधन हैं जिससे सभी तरह के अन्न पैदा किये जाते हैं। इस पर खेती करने वाले उद्यमी पुरुष निवास करते हैं—

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु।।3।।

पृथिवी पहले जल के भीतर समुद्र में थी। इसका अन्तर्भाग अमृत सदृश सत्य संकल्प के बल से व्याप्त है, यह भूमि महत् आकाश में है—

यार्णवे ऽधि सलिलमग्र आसीद् यां मायाभिरन्वचरन् मनीषिणः।

यस्या हृदयं परमे व्योऽमन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः।।8।।

यह पृथिवी पहाड़, बर्फ से ढके पर्वत और वन से युक्त है। यह कृषि कर्म के उपयुक्त (कृष्णाम्), वृक्षादि को उपजाने वाली (रोहिणीम्), सब तरह का रूप धारण करने वाली (विश्वरूपाम्), स्थिर (ध्रुवम्), अतीव विस्तृत (पृथिवी), अक्षत है।

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु।

बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम्।।11।।

पृथिवी पर जीव-जन्तु/वनस्पतियाँ

पृथिवी पर जड़ तथा चेतन दो प्रकार के जीव बताये गये हैं—जिनमें दो पाँवों वाले (द्विपद), चार पाँवों वाले (चतुष्पद), चेतन हैं। इनमें साँप, बिच्छू, हिंस्र जीव, शिकारी जानवर, भेड़िये, कुत्ते भी हैं तथा वनस्पति, पेड़-पौधे और लताएँ सदा स्थिर रहती हैं (जड़) (46, 49) इतना ही नहीं, आकाशचारी हंस भी हैं—

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः।।15।।

यां द्विपादः पक्षिणः संपतन्ति हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि।।51।।

यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा।।27।।

पृथिवी पर नाना प्रकार की औषधियाँ भी पायी जाती हैं—**नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति।।2।।**

वनस्पतियों के प्रसंग में ऋषिगण धूल उड़ाती हुई वायु, या पेड़ों को उखाड़ती हुई वायु का वर्णन करना नहीं भूले। यही नहीं, दावाग्नि का भी उल्लेख है—

यस्यां वातो मातरिश्वेयते रजांसि कृण्वंश्च्यावयंश्च वृक्षान्।

वातस्य प्रवामुपवामनु वात्यर्चिः।।51।।

इस तरह पृथिवी सभी प्रकार के मधुर एवं हितकर पदार्थ देने वाली है—**मधुप्रियं दुहाम्।।7।।**

उसमें कृषि होती है, कृषि से अन्न उत्पन्न होता है। कृषि करने के लिए ऊँची नीची भूमि को हल से समतल करके बोने का भी स्पष्ट उल्लेख है। साथ ही यह भी कहा गया है पृथिवी के मर्मस्थान पर चोट नहीं पहुँचाना है—

यत ते भूमेविखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु।

मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम्।।35।।

जिन अन्नों को पृथिवी से उत्पन्न बताया गया है वे हैं चावल, गेहूँ, जौ। इनके अतिरिक्त भी अन्य अनेक पदार्थ उत्पन्न होते हैं—**यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमाः पञ्च कृष्टयः।।42।।**

पृथिवी के नाम एवं गुण

पृथिवी को अनेक नामों से सम्बोधित किया गया है—बभ्रु (पालन पोषण करने वाली), रोहिणी (वृक्षों को उत्पन्न करने वाली), ध्रुवा (स्थिर), पृथिवी (विस्तार वाली), विश्वम्भरा (सबका पोषण करने वाली), वसुधा (वसुओं को धारण करने वाली), हिरण्यवक्ष (स्वर्ग से युक्त), जगतो निवेशिनी, कामदुधा, विभृग्वरी (खोजने योग्य), क्षमा, भूमि, शन्तिवा, स्योना, कीलालोपनीपयस्वता।

पृथिवी के कुछ प्रमुख गुणों का स्थान-स्थान पर स्पष्ट उल्लेख मिलता है। यथा—यह सब औषधियों (वनस्पति, वृक्ष, लता आदि) की माता, विस्तीर्ण, लम्बी, चौड़ी, स्थिर, पृथिवी सत्य, ज्ञान, शूरता, वीरता आदि से पालित पोषित है।

विश्वस्वंऽ मातरमोषधीनां ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम्।
शिवां स्योनामनु चरेम विश्वहा।।17।।

पृथिवी के भीतर अग्नि है। पृथिवी में ही नहीं, औषधियों में, वर्षा के जल में भी अग्नि है। पशुओं में भी अग्नि है जिससे भोजन पचता है—

अग्निर्भूम्यामोषधीष्वग्निमापोबिभ्रत्यग्निरश्मसु।
अग्निरन्तः पुरुषेषु गोष्वश्वेष्वग्नयः।।19।।

पृथिवी पर न केवल पर्जन्य से अपितु यज्ञ होने से उत्तम वृष्टि होती है जिससे विपुल अन्न उत्पन्न होता है जिसे खाकर मनुष्य जीवित रहते हैं—

भूम्यां देवेभ्यो ददति यज्ञं हव्यमरंकृतम्।
भूम्यां मनुष्याऽ जीवन्ति स्वधयान्नेन मर्त्याः।।22।।

पृथिवी में गन्ध भी बताई गई है। वही औषधियों में, जल में, समाई है—

यस्ते गन्धः पृथिवि संबभूव यं बिभ्रत्योषधयो यमापः।।23।।

पृथिवी पर क्रमशः छह ऋतुएं आती रहती हैं—ये हैं—ग्रीष्म, शरद्, शिशिर, हेमन्त तथा वसन्त।

ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः।
ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम्।।36।।

पृथिवी में गुरु पदार्थों को अपनी ओर आकृष्ट करने की शक्ति है—**मल्वं बिभ्रती गुरुभृद्।।48।।**

सम्भवतः अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त के ही आधार पर मैथिलीशरण गुप्त ने 'धरित्री' नामक कविता लिखी है— **लेकर एक बीस दे देना, तेरा ही है काम धरित्री**

x x x

लोट पोट कर जिसकी रज पर बड़े हुए हैं

प्राचीन भारत में कृषि विज्ञान के विकास पर विहगावलोकन करें तो ज्ञात होता है कि भूमि को उपजाऊ बनाने के लिए खाद का प्रयोग हुआ, 17 प्रकार के धान्य उपजाये गये, कृषि कर्म को प्रधानता दी गई। पृथिवी के प्रति माता के रूप में जो आदर-भाव वैदिक काल में था, वही सोलहवीं-सत्रहवीं सदी तक लोक-प्रचलित घाघ-भड्डरी की कहावतों में पाया जाता है—**उत्तम खेती मध्यम बान**। किन्तु आगे चलकर दुर्भिक्ष एवं फिर गदर ने कृषकों की रीढ़ तोड़ दी। उनका भूमि के प्रति अब जो लगाव दीख पड़ता है वह लोभपूर्ण है, भूमि को अधिकाधिक दुहने-शोषण करने का प्रयास है किन्तु यह वैज्ञानिक उन्नति का प्रतिफल है। बुद्धिमत्ता इसी में है कि अब पुनः प्रकृति की ओर लौटा जाय। अथर्ववेद का पृथिवी सूक्त इसमें मार्गदर्शक बन सकता है।

❒

Technical Sciences in Sanskrit

Prof. Rajendra Mishra *

It would be really unjust to think that the divine language Sanskrit is deprived of technical sciences and it illumines the grandeur of poetry only. Actually, right from the hymns of Ṛgveda to the 11th century A.D. Saṁskṛt has produced hundreds and thousands authentic works, related with various disciplines other than belles-lettres . Just like the original streams of philosophical systems, drama and rhetoric etc. we can very easily trace the origin of all technical sciences in the Ṛgveda alone. In the context of Indras battles with Vṛtra, Namuchi, Śambara, Bala, Rauhina and Bṛngada etc., the war-strategy has been highlighted along with the name of various weapons like Vajra and Dhanuṣ etc. Indra uses सरमा as his spy in order to know the whereabouts of Paṇis who had stolen the cows. Thereafter he spoilt an iron-forts of his enemies. Moreover, he helps Sudāsa in the fierce battle, namely Dāśarāgña.[1]

The medicinal value of Atharvaveda also cannot be denied. Our great Ṛṣis and Maharṣis, dwelling in dense forests, knew the medicinal quality of each and every herb. Eventually, they became successful in developing the discipline known as आयुर्वेद, which even today proves the best pathy of curing any disease.

The Śatapatha Brāhmaṇa explains the constituents of clouds and elaborates the symptoms of the rain-clouds. When the great poet Kālidāsa describes the cloud saying: धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः he seems to borrow this concept from Śatapatha Brāhmaṇa.

Further, we can gather some other information from these hymns which prove the antiquity of our technical sciences. Ṛgveda delineates the boat of Bhujyu which could be

* **Vice Chancellor, Sampurnanand Sanskrit University, Varanasi, U.P.**

waded about in the deep water through one hundred helms- शतारत्रां नावम् ऋ० 1.116.5. The king Tugru sends his son Bhujyu through a cosmic vessel which was controlled by the अश्विनौ. In Ṛgveda 1.342 a chariot of Aśvins has been narrated which had three wheels and three pillors. It was a horse-less chariot and could float in air very easily.

Swami Brahmamuni who edited the यन्त्रसर्वस्व of महर्षि भरद्वाज has clearly stated in his preface to the वैमानिक प्रकरण that the work of Bharadwāja is based upon the sole testimony of the Vaidic Mantras. It is evident from the apt illustrations, quoted frpm the Vedic texts. Satyavrata Sāmāśramī also holds the view that almost all the technical sciences are described in Vedas indirectly as well as quite minutely. The American writer Wheeler Villaxe has written in her book Sublimity of the Vedas that Vedic Ṛṣis were absolutely adept in Aeronautics, Navigation, Electrolysis, Radiology and so on, so forth.

It is a well known historical fact that the Talapade-brothers of India could achieve success in preparnig their aeroplane in 1895 in complete 8 years prior to Wright-brothers. But due to our political slavery the credit could'nt be given to Talapade-brothers and it is accepted quite ignorantly that the aeroplane could be originated only in 1903 by the Wright-brothers. Shivaji Bapuji Talapade achieved this knowledge form the great scholor Maharṣi Śulbarāi Śāstrī. He lived in the china bazar area near DukkarWadi and later on was shifted to Mulad with his son विनायक who breathed his last in the Sixth decade of the 20th century. The wife of S.B. Talapade was also a great Vedic scholar. With the help of his wife and younger brother, Talapade prepared his plane which could fly in the sky of the chowpatty area of Bombay, continuously for five minutes on the height of 1500 feet. B.Jaikar, N.Ranaday, Sayaji Rao Gaekwad, the Maharaja of Boroda and halji Narayanji and thousands were the eye-witness on this histrocial moment. The authorities of the Hindustan Aeronautics Ltd. have still preserved the original frame and other fabrics of the plane for their historical record. In Vedas and Purāṇas, eight varieties of the aeroplanes have been discussed of which the 6th is called पुष्पक and the 8th one मरुत्सखा. The plane, prepared by Talapade was based upon the synthesis of Puṣpaka and Marutsarva from the technical point of view.[2]

The Vedic evidences of aeronautics are seen more effectively practised in the Purāṇic era. The reference of the Puṣpaka in the Vālmiki Rāmāyaṇa is well known. It was an automatic plane and could move freely as per travellers with (कामग). That technology is still undeveloped in the history of aeronautics. In Śrīmadbhāgawataṁ also we have two references; the Saubha Vimāna of Sālva and the Vimāna of Maharṣi Kardama. The Saubha of

Sālvarāju was a Cruiser type of plane. It could create dense clouds around it self in order to conceal its identity. The plane of Maharṣi Kardama was fully furnished with seasonal views. The pigeons, erected on the windows of the plane were so alive and concrete that the wild pigeons could join them fearlessly. It was also a pilotless plane and could move automatically.[3]

Now, to prove the superb development of Science and technology in ancient India, I would like to assess them one by one. Astrology, astronomy and mathematics are considered to be interlinked. The Indian astronomy undoubtedly touches the horizen of Vedic hymns when the Ṛṣi utters in a Mantra.

येनोदितेन दिनम् अस्तमितेन रात्रिः।

The rising sun brings the day and disappears leaving behind the might. The Vedic Ṛṣis thought that the sun plunges into the water of ocean and the other day rises up from the top of the mountian. The Taittirīya Brāhmaṇa says:

य उदगात् महतोऽर्णवात् विभ्राजमानः सलिलस्य मध्यात् ।। तै०ब्रा० 2.1

The receding and increasing Kalās of the Moon in the two fortnights of a months respectively, have been examined by our Ṛṣis in their own way. It occurs in the Ṛgvada 10.85.19.

नवो नवो भवति जायमानोऽन्हां केतुरुषसामेत्यग्रम् ।
भागं देवेभ्यो विदधाति आयन् प्र चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः।।

This mantra seems to be quite allegorical in nature but the later commentators have unfolded the mystery, lying in it. Likewise, several other Mantras delineate some significant scientific truth. For example:

अन्तरिक्षं नाम पक्षिमार्गः (ऋग्वेद 1.25.7)

सूर्यः द्युलोके सर्वोच्चः (ऋग्वेद 1.57.11)

चन्द्रः नक्षत्रमण्डले सञ्चरति (तै० सं० 7.5.23.1)

पृथ्वी लघुतमा विश्वमपारम् (ऋग्वेद 1.52.11)

ऋतून् प्रशासद् विदधौ सूर्यः (ऋग्वेद 1.95.3)

Shri S.B. Velankar, in his article published in the Gīrvāṇa Sudhā has given an exhaustive account of the Vedic astronomy[4]. The geometry of Vedic Śulvasutras, along with decimal-base numerals, squaring a circle and algebra etc. prove the antiquity of Indian Astronomy and Mathematics. Lagadha's Vedanga Jyotisa stands between Vedic and Tradi-

tional astronomy. Although, the astronomers of the later period have often quoted the authority of Brahma, Sūrya, Vaśiṣtha, Manu, Soma, Lomaśa, Marīci, Aṅgiras, Vyāsa, Nārada, Śaunaka, Bhṛgu, Chyavana, Garga, Kaṣyapa and Pārāsara etc. But only a few Saṃhitās are available now like Nārada Saṃhitā, Pārāśara saṁhitā and Kaśyapa Saṃhitā. Nevertheless, we can imagine the prosperity and splendour of our technical science even before Christian era.

Then, we find a galaxy of great astronomy and mathematicians, Āryabhat I, the writer of आर्यभटीयम् (476A.D.) Varāhamihira, the writer of बृहज्जातक (6th C.A.D.) Bhaskarāchārya I, the writer of महाभास्करीयम् (end of the 6th C.A.D.) Brahmagupta, the writer of ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त and खण्डखाद्य (628 C.A.D.) भास्कराचार्य II, the writer of लीलावती and सिद्धान्तशिरोमणि (12th C.A.D.) Gaṇeś Daivaja, the writer of ग्रहलाघव etc. enriched Indian astronomy. Their original contributions cannot be highlighted here, thoroughly in this paper but some salient features are to be quoted.

1. The theory of gravitation has been dealt with by Bhaskarāchārya II in the Golādhyāya of his Siddhāntaśiromaṇi:

Newton, the so called inventor of this theory was born in the 16th century A.D. It is to be noted.

2. Āryabhata I depicted in his Āryabhatīyāṁ that the earth revolves around the Sun, which is absouterly constant. But the same truth could be known and declared by Galilio in the 17th century A.D.

3. It was Brahmagupta (7th C.A.D.) who introduced यन्त्राध्याय in his ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त comprising 24 chapters. In his observatory, Brahmagupta installed various yantras(technical devices) for the astronomical observations of planets, stars and the solar as well as lunar eclipses: Bhaskarāchārya, following the traditions of Brahmagupta explained his techniques of ताम्रघटी यन्त्र, शङ्कुयन्त्र, यष्टियन्त्र, चक्रयन्त्र, and चक्रार्धयन्त्र. Above all established the धीयन्त्र is the human mind itself. Bhaskarāchārya wrote a full fledged text on these technicals devices, namely सर्वतोभद्र which was followed by the Yantrarāja of Mahendra Sūri, Dhruvābhraṁyantra of पद्मनाभ, Yantrachintāmaṇi of Chakradhara, Pratodayantra of Gaṅesh Daivajña, and Golānanda of chintāmaṇi Dikṣīta. But all these yantras were confined to the text only and therefore the ruler of Āmer, Māhārāja Jaisingha got built it a new observatory at Jaipur in 1730, where in the Samrāt, Nādivalaya, Digaṅśa, Bhitti and Shaṅku Yantras are still preserved.

Regarding the process of eclipse an exhaustive account is available in the 8th chapter of Bhāskarāchāryas Siddhānta śiromaṇi. The solar and lunar eclipses are never due to Rāhu and Ketu, as described in the Purāṇic text. Actually it happens so when the moon comes in between the Sun and Earth. It is called solar eclipse. According to Bhāskarāacārya:

पश्चाद्भागाद् जलदवदधः संस्थितोऽभ्येत्यचन्द्रो
भानोर्बिम्बं स्फुटदसितयाऽच्छादयत्यात्ममूर्त्या।
पश्चात्स्पर्शो हरिदिशि ततो मुक्तिरस्यात एव
क्वापिच्छन्नः क्वचिदपिहितो नैष कक्षान्तरत्वात् ।। गोला० 8.1

However, the ancient Indian astronomy and mathematics have hundreds and thousands subjects to explain and they have been elaborated as well. Right from the 5th century A.D. the Indian astronomy championed in the field of astronomical observations and inventions but due to our political subordination and lack of self-respect, the crown of supremacy is on the head of the western scientists.

Astronomy and mathematics are the two branches of the same tree. The Mathematics of today was known as Rāśhividyā Dhūlikarma, and Parilekhā etc. in old days. Bhāskarāchārya II, for the first time divided mathematics in three parts- Gaṇita, Bīgagaṇita and Pātigaṇita in his Siddhāntaśiromaṇi. The Gaṇita sūtras were formulated by Āryabhata I in the 5th centruyA.D. For several reasons the Aṅkavidyā or Aṅkagaṇita was considered to be the back bone of astronomy.

यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।
तद्वत् वेदाङ्गशास्त्राणां गणितं मूर्ध्नि संस्थितम् ।।

Varāhamihira also divided astronomy in three branches- सिद्धान्त, होरा and संहिता. The measurement of time, the movement of planets and eclipses etc. came under the perview of Siddhānta. The Horāskandha deals with Jātaka in the birth of a child along with his life circle and the auspicious-inauspicious effects of various Grahas (planets) on his life etc. The Saṃhitā Skandha has another name also, that is Muhūrta Skandha. In this part the Āchārya describes various yogas and Muhūrtas (auspicious occassions) and their good and bad results. In Nārada Saṁhitā, these three Skandhas have been given much significance as they are just like the vision of the Veda.

सिद्धान्तसंहिता होरा रूपस्कन्धत्रयात्मकम् ।
वेदस्य निर्मलं चक्षुः ज्योतिश्शास्त्रमनुत्तमम् ।।

Varāhamihira, repeats the above, in other words:

गणितं जातकं शाखां यो वेत्ति द्विजपुङ्गवः।
त्रिस्कन्धज्ञो विनिर्दिष्टः संहितापारगश्च सः।।

Bhāskarāchārya elaborates two separate phases of Mathematics-Vyakta and Avyakta.

द्विविधगणितमुक्तं व्यक्तमव्यक्तयुक्तं
तदवगमननिष्ठः शब्दशास्त्रे पटिष्ठ।
भवति यदि तदेदं ज्यौतिषं भूरिभेदं
प्रपठितुमधिकारी सोऽन्यथा नामधारी।।

If any astrologer is not adept in mathematics, how can he explain the sciences of influence of stars on human affairs? Specially the Gaṇita Jyautiṣ is totally based upon the mathematical calculations only. Such pseudo-astrologers are really नामधारी only and they are destined to be discarded.

As I have stated earlier, Āryabhat I formulated several Gaṇitasūtras like the system of finding the Vargamūla.

भागं हरेदवर्गान्नित्यं द्विगुणेन वर्गमूलेन।
वर्गाद् वर्गे शुद्धे लब्धे स्थानान्तरे मूलम्।।

This is one example. Many other example can be had in connection with triangles. quadrilaterals, square, rectangles. parallelograms, rhombus (quadilateral figure with equal sides but unequal angles, असमकोण चतुर्भुज Diagonals (straight line joining opposite angles of rectilineal figure कर्ण-विकर्ण) area and altitude etc. Addition, substraction, multiplication, division, big numbers, negative numbers, Zero and decimal notations have been dealt with in ancient Indian Arithmetics at full length. Hypotenuse (side opposite to right angled triangle: कर्ण)and its converse(opposite) theorem, at present, which are named after Pythagorous, have been propounded by Bohāyana, much earlier. In the field of algebraic equations the contributions of Āchārya Brahmagupta, Bhāskara, Pṛthūdakaswāmi, Mādhava and Nārāyana can never be forgotten, They have proved to be the milestones in Indian algebra.

However, the roots of Indian mathematics have to be traced back to the Vedas just like the astronomy. The Śulva Sūtra, which provides various formulas for constructing यज्ञ भूमिका is sacrificial alters is the oldest mathematical text ever known to the world. Baudhāyana and Āpastamba sūtras give very good rational approximation for the irrational number $\sqrt{2}$ in the form: 1+1/3+1/3.4-1/1.3.4.34 which is correct to 5 decimal places.[5]

How, the Indian mathematics is proved to be the pre-eminent and pre-dominant in nature and how it acquires the precedence also is evident from the following statements which I borrow form the script of Dr. Kota Venkatachalam Rao. Putting forth the mathmetical re-discoveries in Europe he writes:

1. Gregory (1671) re-discovers Mādhava's (14th century) serus for ten=1(0)

2. Euler (1732) solves a problems of Fermat (1657)which was solved much earlier by Bhāskara(1150A.D.)what is nowadays known as Pell's equation.

3. Lhwiller (1782) re-discover the formula of Papameswara (1430) for the Circumradius (अर्धव्यास) of a cyclic quadrilateral.

4. Snell (1690) re-discovers Brahamagupta theorem (7th century) on diagonals of a cyclic quadrilateral.

5. Herigone(1634) re-discover Mahāvira's (9th century)formula for nc.

Now, a few words about the ancient Indian Medical System. It is evident from various (internal and external both) sources that the अथर्वसंहिता is more popularly recognized as the भैषज्यवेद. India was known to be workshop of chemical technology from the time immemorial. It is evident from the archaelogical excavations at Mohanjodaro and Harappa(now in Pakistan) which belongs to the Indus Valley Civilization (2500 B.C.). These persons were skilled in chemical processes and used bricks, water pots, vessels, jars, terracotta, jewellery, metal vessels, seals, painted pots, chrom glazed pottery and glass vessels etc. Metals like copper and bronze were also in their frequent use. They used gold and silver also for making jewellery. All these remind us of the Vedic hymn occuring in Kṛṣṇa Yajurveda 4.7.5.

अश्मा च मे मृत्तिका च मे गिरयश्च मे पर्वताश्च मे सिकताश्च मे
वनस्पतयश्च मे हिरण्यञ्च मेऽयश्च मे सीसं च मे त्रपुश्च मे
श्यामं च मे लोहं च मे.......।

From the same Vedic medicinal and chemical sources the Indian Medical science developed. In ancient texts it has been named as the रसविद्या. In the Rasaratnasamuhchaya we find the description of a full fledged रसशाला is the chemical laboratory for preparing the chemicals and drugs.

रसशालां प्रकुर्वीत सर्वबाधाविवर्जिताम्।
सर्वौषधिमये देशे रम्ये कूपसमन्विते।।

पदार्थसंग्रहः कार्यो रससाधनहेतुकः।
सत्त्वपातनकोष्ठीञ्च सुराकोष्ठीं सुशोभनाम्।।
भूमिकोष्ठीं चलत्कोष्ठीं जलद्रोण्योऽप्यनेकशष।
भस्त्रिकायुगलं तद्वन्नलिके वंशलोहयोः।।
स्वर्णायोघोषशुल्वाश्म कुण्ड्यश्चर्मकृतां तथा।
करणानि विचित्राणि द्रव्याण्यपि समाहरेत्।।
कण्डनी पेषणी खल्वा द्रोणीरूपाश्च वर्तुलाः।
आयसास्तप्तखल्वाश्च मर्दकाश्च तयाविधाः।।
सूक्ष्मच्छिद्रसहस्त्रढ्या द्रव्यगालनहेतवे।
चालनी च कटत्राणि शलाका हि च कुण्डली।।

रसरत्न० अ० 6

Actually, these erigmatic expressions are to be explained. But, one can know very easily that such was the chemical laboratory of ancient day, fully equipped with various apparatus, which were called Yantras. Some of them have been narrated in the रसरत्नसमुच्चय along with their proccess. They are कोष्ठीयन्त्र, तिर्यक्पातनयन्त्र, ढेकीयन्त्र . The Rasārṇava text describes the qualifications of the staff is the Rasasādhakas and the servants.

रसचिन्तका वैद्या निघण्डुज्ञाश्च वार्तिकाः।
सर्वदेशजभाषाज्ञाः संग्रहयास्तेऽपि साधकैः।।
यमिनः पथ्यभोक्तारो योजनीया रसायने।
तत्तदौषधनामज्ञाः शुचयो वञ्चनोज्झिताः।।
शुचीनां सत्यवाक्यानामास्तिकानां मनस्विनाम्।
सन्देहोज्झितचित्तानां रसः सिद्धयति सर्वदा।।
सोद्यमाः शुचयः शूराः बलिष्ठाः परिचारकाः।

In the charaka and Suśruta Saṃhitās not only the various disease and their treatments have been discussed minutely, but on the other hand, the philosophical background of these disease have also been elaborated. According to charaka प्रयोग, अतियोग and मिथ्यायोग of the mind, speech and actions are the main cause of any disease and therefore we must get rid of it.

Apart from the charaka and suśruta saṃhitās, more than 50 texts have been written on the medical discipline, which strengthen the Āyurvedic traditions of India. Some of them are the Rasaratnasamuchchaya and Aṣṭāṅgahṛdaya of Vāgbhata, Rasaratnākara, Rasārṇavakalpa, Rasarājamṛgaṅka, Rasratnapradīpa, Rasadarpaṇa, Rasarājamahodadhi and Rasayogamuktāvalī.

The ancient Indian technology has many other branches also like Indian architecture, Indian Jurisprudence, Environment and Social Service, Fine arts and Folks Culture etc. But it requires much time to shed an adequate light on all these subjects.

दृश्यते नैव तच्छास्त्रं यत्प्रणीतं न भारते।
तस्माद्धि निखिलं विश्वं सततं भारतोन्मुखम्।।

References & Notes :

1. शतमश्मन्मयीनां पुरमिन्द्रो व्यास्यत् दिवोदासाय दाशुषे। ऋग्वेद 4.3.20
   प्रति यदस्य वज्रं बाह्वोर्धुर्हत्वो दस्यून् पुर आयसीर्नि तारीत् । ऋग्वेद 2.20.8
2. Times of India, 6.9.95 issue.
3. Śrīmadbhagawataṁ, Skandhs 5th and 10th.
   प्राचीनभारते खगोलशास्त्रज्ञानम् -एस0बी0 वेलङ्करः।
   गीर्वाणसुधा - अक्टूबर/नवम्बर 1995 ई0 अङ्कः।
5. In Ṛgveda the sum has been stated as the base of all the bhwanas.
   सप्त युजन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्त नाम।
   त्रिनाभिचक्र मजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनानि तस्थुः।।
   In Atharva Jyoutisa also the sum etc. have been said to be the controller of their respective days:
   आदित्यः सोमो भौमश्च तथा बुधबृहस्पती।
   भार्गवः शनैश्चरश्चैव एते सप्तदिनाधिपाः।।
6. See Indian Tradition of chemistry and chemical technology by Prof. A.R. Vasudevmurthy and Prasun Kumar Mishra. Saṁskṛta Bharati, Banglore.1999.

सूत्रग्रन्थों में यज्ञशाला प्रकल्पन

डॉ० शैलजा पाण्डेय *

वेद ज्ञान का पर्याय हैं, वेद से उद्भूत सभी शास्त्र-शिशु ऋषियों, मुनियों एवं शास्त्रोद्भावक मनीषियों के कर-कमलों से पालित एवं संस्कार-युक्त होकर शैशव से यौवन को प्राप्त करते हैं एवं कालान्तर में स्वयं स्वतन्त्र-शास्त्र के सघन, उन्नत एवं दृढ़ वृक्ष बनते हैं। वास्तु-शास्त्र इस नियम का अपवाद नहीं है। ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में गृह एवं वास्तु सम्बन्धी सन्दर्भ[1] तथा पुरों के उल्लेख[2] प्राप्त होते हैं। संहिताओं में स्थापत्य विद्या का अधिक स्पष्ट रूप अथर्ववेद के शाला-सूक्तों[3] में प्राप्त होता है। तैत्तिरीय संहिता में यूप-निर्माण तथा वाजसनेयी संहिता में स्तूप, आसन्दी तथा पर्यङ्क आदि का निर्माण प्राप्त होता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों, विशेषतः शतपथ ब्राह्मण में यांत्रिक-प्रक्लृप्ति के प्रसंग में विभिन्न प्रकार की चितियों एवं चितियों के निमित्त इष्टका-निर्मिति का वर्णन प्राप्त होने लगता है। अग्नि-चयन एवं यज्ञशाला का निर्माण भारतीय वैदिक स्थापत्य शास्त्र के प्रायोगिक निदर्शन हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों एवं श्रौत-सूत्रों में वर्णित यज्ञ परक ज्ञान से यज्ञीय-वास्तु का शास्त्रीय पक्ष उठा कर उसे सुस्पष्ट, सुनियोजित एवं क्रमबद्ध रूप से प्रस्तुत करने का श्रेय प्रमुखतः शुल्व-सूत्रों को प्राप्त है। यज्ञ-स्थल में निर्माण गत मापन कार्य में प्रयुक्त रज्जु या सूत्र की संज्ञा शुल्व है। भूमि-मापन, भूमि पर यज्ञ वेदी की आकृति का प्रमाण पूर्वक निर्माण, आकृति के प्रत्येक भाग का माप ज्ञात करना, चिति की आकृति एवं माप के अनुरूप ईंटों की आकृति, माप एवं ईंटों की संख्या निर्धारित करना—ये सभी कार्य शुल्व के माध्यम से किये जाते थे। ये प्रकरण सभी शुल्व एवं श्रौत सूत्रों में, प्रमुखतया बौधायन एवं कात्यायन शुल्व सूत्र एवं कात्यायन श्रौत-सूत्र में संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट रूप से वर्णित हैं।

यज्ञ-भूमि

भू शोधन एवं दिङ् निर्धारण

यज्ञशाला के निर्माण से पूर्व भूमि पर हल चलाकर एवं शल्यादि निकाल कर भूशोधन किया जाता है।

---

* शोध-सहायिका, गंगा नाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद, उत्तरप्रदेश

भूमि को समतल बना कर शङ्कु द्वारा दिशा का निर्धारण किया जाता है।

यज्ञ-भूमि के केन्द्र में 12 अंगुल का काष्ठ-निर्मित शङ्कु स्थापित किया जाता है। शङ्कु के बराबर त्रिज्या से उसके चतुर्दिक् एक वृत्त खींचा जाता है। शङ्कु की छाया पूर्वाह्न में जिस स्थान पर पड़ती है, उस स्थल को चिह्नित करने पर पश्चिम दिशा एवं अपराह्न में जहाँ छाया पड़े उस स्थल को चिह्नित करने पर पूर्व दिशा का ज्ञान होता है। इसके पश्चात् पूर्व दिशा के चिह्न को केन्द्र बना कर इस प्रकार वृत्त खींचना चाहिए जिससे प्रथम निर्मित वृत्त का मध्य भाग दूसरे वृत्त की परिधि में आ सके। इसी प्रकार पश्चिम दिशा के चिह्न को केन्द्र बनाकर एक और वृत्त निर्मित किया जाता है। पूर्व एवं पश्चिम को केन्द्र बना कर खींचे गये वृत्त से प्रथम वृत्त के मध्य में एक मत्स्याकृति तैयार होती है। मत्स्याकृति के शीर्ष भाग, पूर्व से वाम भाग में उत्तर दिशा एवं दाहिने भाग में दक्षिण दिशा होगी। रज्जु के माध्यम से अवान्तर दिशाओं का भी ज्ञान होता है।[4] सटीक दिशा ज्ञान के लिए वसन्त सम्पात का काल उचित माना गया है। इसके अतिरिक्त दिशा-निर्धारण के सन्दर्भ में विश्वकर्मा के मतानुसार[5] उत्तर एवं दक्षिण भारत तथा भारत के अन्य भू-भागों के भौगोलिक अन्तर एवं इसके कारण उत्पन्न ज्योतिषीय स्थितियों का भी ध्यान रखना चाहिए।

यज्ञ-वेदी हेतु यज्ञीय भूमि की आकृति-निर्धारण

भू-शोधन एवं दिङ्-निर्धारण के पश्चात् समतल की गई भूमि को यज्ञ वेदी की आकृति के अनुसार समचतुरस्र[6] दीर्घ चतुरस्र[7] एकतोऽणिमदीर्घचतुरस्र[8], (जिस चतुरस्र का एक भाग दूसरे से छोटा हो), सम चतुरस्र से प्रउगाकार (त्रिकोण)[9], उभयतः प्रउगाकार (दो त्रिकोणों से निर्मित आकृति)[10] सम चतुरस्र से मण्डलाकृति[11], परिकल्पित किया जाता है। इनके अतिरिक्त वृत्ताकार से चतुरस्र बनाना,[12] सम चतुरस्र से दीर्घ चतुरस्र बनाना[13], दीर्घ चतुरस्र से सम चतुरस्र बनाना[14] आदि भी शुल्व-सूत्रों में वर्णित है।

भूमि को तैयार करने एवं मापन आदि करने के पश्चात् याज्ञिक कृत्यों के सम्पादन हेतु यज्ञ-भूमि में शालाओं, मण्डपों एवं खातों का प्रकल्पन किया जाता है। कुछ प्रमुख यज्ञशालायें एवं मण्डपादि इस प्रकार हैं—

प्राग्वंश

अग्निष्टोम यज्ञ के प्रकरण में इसका उल्लेख प्राप्त होता है। यह गार्हपत्य अग्नि का संरक्षक कक्ष है। इस गृह का प्रमाण पूर्व-पश्चिम 16 प्रक्रम[15] (32 पद) लम्बा एवं उत्तर-दक्षिण 12 प्रक्रम (24 पद) चौड़ा होता है। इसके मध्य भाग में 12 प्रक्रम का विहार[16] (यज्ञाग्नियों के मध्य का अन्तराल) निर्मित होता है। अथवा इसकी लम्बाई 12 प्रक्रम (24 पद) एवं चौड़ाई 10 प्रक्रम (20 पद) भी हो सकती है।[17]

प्राग्वंश का परिचय देते हुए खडिलकर महोदय का कथन है कि यह पूर्वाभिमुख बाँस निर्मित कक्ष है। इसका निर्माण सर्वप्रथम किया जाता है। प्रत्येक दिशा में कक्ष के मध्य में 24 अङ्गुल प्रमाण चौड़ा द्वार होता है

तथा ईशान कोण में एक अतिरिक्त द्वार होता है। कक्ष में स्तम्भ बने होते हैं। पूर्व के स्तम्भ अपेक्षाकृत बड़े होते हैं। यह कक्ष बाँस की चटाई से आवृत होता है।[18]

सदस्—हविर्धान गृह के पश्चिम में निर्मित यह एक मण्डप है। इसे 18 अरत्नि[18] (हाथ) लम्बा, 9 अरत्नि चौड़ा एवं उत्तरमुख कहा गया है।[19] इसका प्रमाण 27 अरत्नि लम्बा एवं 9 अरत्नि चौड़ा भी कहा गया है।[20] सदस् मण्डप को दक्षिण एवं उत्तर दो भागों में बाँट लेना चाहिए। इसके पूर्वार्ध के पूर्व भाग में 2 प्रक्रम छोड़ कर उसके पश्चात् धिष्ण्य वेदियों (महावेदी की सहायक छोटी यज्ञ-वेदियाँ)[21] से 1 अरत्नि प्रमाण पर 1 अरत्नि का विष्कम्भ लगाना चाहिए। खडिलकर महोदय ने इसे सभागार माना है जिसमें पूर्व एवं पश्चिम में दो द्वार होते हैं। दक्षिण से उत्तर की ओर 9 बाँस लगे होते हैं। मध्य के स्तम्भों की अपेक्षा पूर्व एवं पश्चिम के स्तम्भ छोटे होते हैं, अतः यह सभागार दोनों दिशाओं में ढलावदार होता है।[22]

शाला

यज्ञ-मण्डप में 'शाला' का उल्लेख प्राप्त होताहै।[23] यह उत्तर-मुख होता है।[24] इसका प्रमाण लम्बाई में 20 अरत्नि एवं चौड़ाई में उसका आधा (10 अरत्नि) कहा गया है।[25]

विमित—सोम याग में निर्मित होने वाला विमित संज्ञक मण्डप चौकोर होता है। इसका प्रमाण 10 अरत्नि कहा गया है।[26]

आग्नीध्रीय

सोमयाग की महावेदी के उत्तर भाग में आग्नीध्रीयागार का निर्माण होता है। इसका द्वार दक्षिण दिशा में होता है एवं इसका निर्माण उत्तर से पश्चिम की ओर 18 प्रक्रम (पद) माप कर इसके पश्चात् पूर्व दिशा में 5 अरत्नि प्रमाण का चतुरस्राकर किया जाता है।[28] सम्भवतः इस कक्ष का सम्बन्ध अध्वर्यु के सहायक पुरोहित आग्नीध्र से होता है।[29]

मार्जालीय

महावेदी के दक्षिण भाग में मार्जालीय आगार की रचना होती है। इसका मुख उत्तर दिशा में होता है। यह भी आग्नीध्रीय की भाँति 5 अरत्नि का समचतुरस्र होता है।[29] खडिलकर महोदय ने भी आग्नीध्रीय एवं मार्जालीय यज्ञ-शालाओं पर इसी प्रकार अपना मत व्यक्त किया है।[30]

हविर्धान गृह—सदस् यज्ञशाला से 4 प्रक्रम हटकर हविर्धान गृह का निर्माण किया जाता है। इसका प्रमाण दस प्रक्रम या द्वादश प्रक्रम चतुरस्र होना चाहिए।[31] खडिलकर महोदय ने इस मण्डप को यज्ञीय सम्भारों का संग्रह-कक्ष कहा है। इसके अभिधान से भी यही प्रतीत होता है कि हवि-सामग्री रखी जाती है। चौकोर

आकृति वाली, चारों दिशाओं में 10 हाथ प्रमाण रखते हुए इस शाला का निर्माण किया जाता था। पूर्व एवं पश्चिम दिशा में एक-एक द्वार होता था। पूर्व द्वार से संयुक्त कक्ष-स्तम्भ के ऊपर दर्भ से आच्छदन किया जाता था।[32]

इन मण्डपों के अतिरिक्त यज्ञ भूमि में खातों का निर्माण किया जाता है। इनके अतिरिक्त उत्कर संज्ञक स्थल का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

चात्वाल खात—यह गर्त यज्ञ भूमि के उत्तरी कोण से तीन प्रक्रम पश्चिम एवं उत्तर की ओर से चार प्रक्रम छोड़ कर बनाया जाता है। इसका प्रमाण शम्या मात्र[33] (36 अङ्गुल) या इच्छानुसार रखा जाता है।[34] खडिलकर महोदय के अनुसार चात्वाल गर्त से निकली मृत्तिका का प्रयोग यज्ञवेदी एवं इष्टका निर्माण में किया जाता है तथा इस खात में यज्ञीय अवशिष्टों को डाला जाता है।[35]

उपरवा—ये चार विशिष्ट मण्डलाकार गर्त हैं। इन्हें दक्षिण हविर्धान के समीप बनाया जाता है। इन गर्तों के समीप सोम सवन करने वाले ग्रावा (प्रस्तर) सोम सवन के कारण रव' करते हैं, इसलिये इन गर्तों को उपरवा कहा जाता है।[36] ये गर्त 1-1 प्रादेश (12 अङ्गुल या 1 बालिश्त) की दूरी पर बनते हैं एवं इनका मुख प्रमाण भी एक आदेश का होता है। इनके निर्माण की विधि इस प्रकार है—

प्रथमतः 1 अरत्नि प्रमाण से समचतुरस्र भूमि माप कर चारों कोनों में 4 शङ्कु गाड़ देना चाहिये। इसके पश्चात् शङ्कु से अर्ध प्रमाण की दूरी वाले सूत्र द्वारा मण्डलाकृति बनानी चाहिये। इसी प्रकार एक प्रादेश की दूरी पर अन्य मण्डलाकृतियाँ बनानी चाहिये।[37] सोम सवन से सम्बद्ध चारों मण्डलाकार गर्त सोम याग के अङ्ग हैं।

उत्कर

यह स्थल उत्तर दिशा के मध्य भाग में होता है।[38] इसके स्वरूप पर सूत्र ग्रन्थों में विशेष चर्चा नहीं प्राप्त होती है। उत्कर पर टिप्पणी करते हुए खडिलकर महोदय कहते हैं कि चिति निर्माण हेतु भूमि की सफाई करने पर निकाली गई घास एवं समतल करने पर निकाली गई अतिरिक्त मिट्टी इसी स्थान पर रखी जाती है। यह उत्तर दिशा में चात्वाल के समीप होता है, किन्तु यह वेदी-भाग से पृथक् है।[39] यह महावेदी के उत्तर भाग में उससे दो पद दूर होता है।[40]

इस प्रकार पूर्व में प्राग्वंश, पश्चिम में सदस्, सदस् से संलग्न हविर्धान गृह, उत्तर में अध्वर्यु के सहायक पुरोहित आग्नीध्र का आग्नीध्रागार, दक्षिण में मार्जालीय गृह तथा विमित एवं शाला संज्ञक कक्षों से युक्त यज्ञशाला का यज्ञ हेतु निर्माण किया जाता था। यज्ञीय पदार्थों के उच्छिष्ट न तो चारों ओर फैले तथा न ही किंसी के पैरों तले कुचले जाँच, अतः उनके लिये भी यथोचित स्थान उपरवा, चात्वाल एवं उत्कर का निर्माण होता था। अपने सारे अङ्गों एवं उपाङ्गों से युक्त वैदिक यज्ञशाला वेदकालीन स्थापत्य एवं शिल्प का भव्य उदाहरण है।

सन्दर्भ सङ्केत :

1. शरण 2/3/8, वास्तु 1/154/6, क्षय 4/53/6, सदन 10/11/9 आदि।
2. सञ्चरणशील पुर 8/1/28, शारदीय पुर 1/130/7, 131/4, धातुमय पुर 2/20/8, 8/100/4, पाषाणमय पुर 2/12/11।
3. 3/92, 5/29, 9/3
4. बौधायन श्रौत सूत्र, कर्मान्त0 25/5 लेखामालिख्य तस्या मध्ये शङ्कुं निहन्यात्। तस्मिन् पाशौ प्रतिमुच्य लक्षणेन परिमण्डलं परिलिखेत्। विष्कम्भान्तयोः शङ्कुं निहन्यात्, पूर्वस्मिन् पाशं प्रतिमुच्य पाशेन मण्डलं परिलिखेदेवमपरस्मिन्। ते यत्र समेयातां तेन द्वितीयं विष्कम्भमायच्छेत्।-बौधायन शुल्व सूत्र, 1/21, 22
5. विश्वकर्मवास्तुशास्त्र
6. बौधायन शुल्व सूत्र, 1/20-27
7. वही, 1/28-30
8. यत्र पुरस्तादंहीयसीं मिनुयात् तत्र तदर्धे लक्षणं करोति।बौधायन शुल्वसूत्र, 1/131, इसके अन्य प्रकार भी प्राप्त होते हैं-1/32-33
9. चतुस्रं प्रउगं चिकीर्षन् चावच्चिकीर्षेद् द्विस्तावतीं भूमिं दीर्घचतुरस्रं कृत्वा पूर्वस्याः करण्या मध्ये शङ्कुं निहन्यात्। तस्मिन् पाशौ प्रतिमुच्य दक्षिणोत्तरयोर्मध्यदेशयोर्निपातयेत्। बहिः स्पन्द्यमपच्छिन्द्यात्।बौ0 शु0 सू0 1/5
10. चतुरस्रमुभयतः प्रउगं चिकीर्षन् यावच्चिकीर्षेद् द्विस्तावतीं भूमिं दीर्घचतुरश्रां कृत्वा पूर्वस्याः करण्या मध्ये शङ्कुं निहन्यात्। तस्मिन् पाशौ प्रतिमुच्य दक्षिणोत्तरयोर्मध्यदेशयोर्निपातयेत। बहि स्पन्द्यमपच्छिन्द्यात। बौ0 शु0 सू0 1/46
11. क. चतुरस्रं मण्डलं चिकीर्षन् अक्ष्णयार्धं मध्यात् प्राचीमभ्यापातयेत्। यदतिशिष्यते तस्य सहतृतीयेन मण्डलं परिलिखेत्। बौ0 शु0 सू0 1/47
    ख. चतुरस्रं मण्डलं चिकीर्षन् मध्यात् कोट्या निपातयेत्। पार्श्वतः परिकृष्यातिशय तृतीयेन सह मण्डलं परिलिखेत्। आपस्तम्ब शुल्वसूत्र पृ0 49-50
    ग. चतुरस्रं मण्डलं चिकीर्षन् मध्यादंसे निपात्य पार्श्वतः परिलिख्य तत्र यदतिरिक्तं भवति, तस्य तृतीयेन सह परिलिखेत् स समधिः। कात्यायन शुल्व सूत्र, 3/13
12. क. मण्डलं चतुरस्रं चिकीर्षन् विष्कम्भे पञ्चदशभागान् कृत्वा द्वावुद्धरेच्छेषः करणी-कात्यायन शुल्व सूत्र, 3/14
    ख. मण्डलं चतुरस्रं चिकीर्षन् विष्कम्भनमष्टौ भागान् कृत्वा भागमेकोनत्रिशंधा विभज्याष्टाविंशतिभागानुद्धरेत् भागस्य च षष्ठमष्टमभागोनम्। अपि वा पञ्चदशभागान् कृत्वा द्वावुद्धरेत्। एषाऽनित्या चतुरश्रकरणी।बौ0 शु0 सूत्र, 1/48, 49
13. क. समचतुरस्रं दीर्घचतुरस्रं चिकीर्षन् मध्येऽक्ष्णययाऽपच्छिद्य तच्च विभज्यान्यतरत् पुरस्तात् उत्तरतश्चोपदध्याद्विषम् चेद्यथायोगमुपसंहरेदिति व्यासः। कात्यायन शुल्व सूत्र, 3/4
    ख. समचतुरस्रं दीर्घचतुरस्रं चिकीर्षंस्तदक्ष्णयापच्छिद्य भागं द्वेधा विभज्य पार्श्वयोरुपध्याद् यथायोगम्। बौ0 शु0 सूत्र, 1/41
14. क. दीर्घचतुरस्रं समचतुस्रं चिकीर्षंस्तिर्यङ्मानीं करणीं कृत्वा शेषं द्विधा विभज्य पार्श्वयोर्विपर्येस्येतरत्रोपदध्यात्। खण्डमावापेन तत्संपूरयेत्। तस्य निर्हार उक्तः। बौ0 शु0 सूत्र, 1/43
    ख. दीर्घचतुरस्रं समचतुरस्रं चिकीर्षन्मध्ये तिर्यगपच्छिद्यान्यतरद्विभज्यतरत् पुरस्तात् दक्षिणतश्चोपदध्यात् शेषमागन्तुना पूरयेत्तस्योक्तो निर्ह्रासः। का0 शु0 सूत्रः 3/2
15. द्विपदः प्रक्रमः बौ0 शु0 सूत्र, 1/14
16. The space between the sacrificial fires-बौ0 शु0 सूत्र (पृ0 72, 1/89) पर प्रो0 जी0 थिबाउट का आंग्ल अनुवाद, सम्पादक डॉ0 सत्यप्रकाश एवं पं0 राम स्वरूप शर्मा, नई दिल्ली, 1980
17. क. प्राग्वंशः षोडशप्रक्रमायामो द्वादशव्यासः। अपि वा द्वादशप्रक्रमायामो दशव्यासः। तस्य मध्ये द्वादशिको विहारः। बौ0 शु0 सू0, 1/68
    प्राग्वंशयुक्तिः गार्हपत्याग्नित्रयसंरक्षको गृहविशेषः प्राग्वंश इत्युच्यते। सः प्राक् प्रत्यक् षोडशप्रक्रमदीर्घः दक्षिणोत्तरं द्वादशप्रक्रमव्यासः। एवं भूतः प्राग्वंशः कुर्यात्। पक्षान्तरमाहद्वादशप्रक्रमायामो दशव्यासः। द्वादशप्रक्रमदीर्घं दशप्रक्रम व्यासं

प्राग्वंश कुर्यादित्यर्थः। बौ0 शु0 सू0 1/68 पर बौधायन शुल्व मीमांसा टीका।
ख. एतेन प्राग्वंशवेदिमानानि व्याख्यातानि। कात्यायन शुल्व सू0, 1/19

18. This is a hall, the ridge of which is provided by a bamboo, the end of the ridge faces East. This hall is erected first. The length of the hall (East-west side) is 16 Prakaramas & width 12 Prakramas. A door is provided at the centre of each side. The width of the door is 24 angulas. In the North-East corner one more door is provided. The columns on the East are bit taller. The sides of the hall are closed by thatch-work.
कात्यायन शुल्व सूत्र, परिशिष्ट इ, पृ0 117, सम्पा0, एस0 डी0 खडिलकर।

18. द्वौ प्रादेशावरत्निः बौ0 शु0 सू0, 1/15; द्वादशः प्रादेशः बौ0 शु0 सू0 1/6

19. क. सोमयागे सदोऽभिधानो मण्डपोऽष्टादशारत्निदीर्घो नवारत्निविस्तृतो दीर्घचतुरस्र उदग्वंशो विहितः। कात्यायन श्रौत सूत्र, 9/6/3
ख. तत्रापि शालावत् उदीची प्राचीत्वेन व्यवहर्तव्या। सदो मण्डपस्य दैर्घ्ये विस्तारे चान्येऽपि पक्षाः सन्ति ते तत एवागन्तव्या।- कात्यायन श्रौत सूत्र, 9/6/6

20. नवके लक्षणं कुर्यात् त्रीणि कुर्यात् त्रिषु त्रिषु। उत्तमो नवकः पाशः सदसो मानमुच्यते।। का0 शु0 सू0, 7/15

21. सदसः पूर्वार्धाद् द्विप्रक्रमवशिष्य धिष्ण्यानां द्विप्रादेशो विष्कम्भस्तथान्तरालाः। बौ0 शु0 सू0 1/76
सदः दक्षिणोत्तरं द्वेधा विभज्य द्वयोः पूर्वार्धात् पूर्वार्धे प्राग्देशे प्रक्रमद्वयमवशिष्य विहाय ततः पश्चात् धिष्ण्यानां द्विप्रादेशो विष्कम्भः अरत्निपरिमितः। 1/76 पर बौधायन शुल्व मीमांसा टीका।

22. This hall is a meeting place. It is erected on the west side of the 'Havirdhāna' hall. It is 27 aratnis in length and 9 aratnis in width. Some keep these dimensions as 18x9 aratnis. There are two doors on the East & the other on the west. 9 bamboo refters, whose ends are towards the North are provided. The column on the East & West are shorter than the centre. Thus the hall slopes on the both sides. एस0 डी0 खडिलकर, पूर्वोक्त ग्रन्थ, परिशिष्ट इ0, पृ0 117

23. शालामानं च कात्यायन शुल्व सू0, 1/20

24. तत्रोदीची प्राचीवत्-वही, 1/21

25. विशंत्यरत्निः शाला स्यात्तदर्धेन तु विस्तृतः। का0 शु0 सू0 पर महीधर भाष्य, खडिलकर द्वारा सम्पादित, पृ0 42 पर फुटनोट 3

26. विमितं चतुरस्र स्याद् दशारत्निप्रमाणतः; विमितम् इति मण्डपविशेषः सोम यागे प्रसिद्धः। पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृ0 42 पर फुटनोट 4

27. आग्नीध्रागारस्य पार्श्वमानी पञ्चारत्निः। बौ0 शु0 सू0, 1/66
कल्पसूत्रोक्तप्रकारेण महावेद्या उत्तरादंसादारम्य प्रतीच अष्टादशप्रक्रमान् मित्वा तत्राग्नीध्रस्यागारं गृहं पूर्वतः पञ्चारत्निप्रमाणकं यथा अन्तर्वेद्यर्ध बहिर्वेद्यर्धं भवतीति तथा कृत्वा दक्षिणं द्वारं कुर्वन्ति। उपर्युक्त सूत्र पर बौधायन शुल्व मीमांसा टीका।

28. In soma sacrifice, he is provided with a special hall called Agnidhriya खडिलकर, पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृ0 14

29. एतेन मार्जालीयो व्याख्यातः। तस्योदीचीं द्वार् कुर्वन्ति। बौ0 शु0 सू0 1/78 दक्षिणादंसादारम्य दक्षिणपार्श्वमध्ये मार्जालीयमध्यम्। मार्जालीयागारोऽपि पञ्चारत्निः समचतुरस्रः। बौधायन शुल्वदीपिका टीका।

30. These two halls are constructed on the North & South side of Mahāved. The Āgnīdhrīya is on the North & the Mārjātiya is on the south. Half of the hall is inside & the other half outside of the Mahāvedī. They are square in the shape & the length of each side is 120 angulas. There is a door on the south for Āgnīdhrīya 8 a door onNorth for Mārjatiya. खडिलकर, पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृ0 17.

31. ततश्चतुर्षु हविर्धानम्। तद् दशकं द्वादशकं वा (समचतुरस्रम्) बौ0 शु0 1/71 ततः सदश्चतुर्षु पदेषु प्रक्रमेषु वा विसृष्टेषु हविर्धानं कर्त्तव्यम्। तत् सर्वतो दशप्रक्रमप्रमाणं वा सर्वतो द्वादशप्रक्रमप्रमाणं वा कर्त्तव्यम्-बौधायन शुल्व मीमांसा टीका।

32. This hall is provided for storing materials required for the sacrifice. It has a square shape. The length of its side is 10 hands. Two doors, one on the East & the other on the west are provided. The col-

umn a diacent to the door on the east is covered with 'Darbha' grass.
खडिलकर, वही, पृ0 117.

33. षट्त्रिंशच्छम्याबाहू। बौ0 शु0 सूत्र 1/13, षट्त्रिशंदङ्गुलप्रमाणे शम्याबाहू विद्यात्-सूत्र पर शुल्व दीपिका टीका।

34. चात्वालः शम्यामात्रोऽपरिमितो वा। बौ0 शु0 सूत्र, 1/74
उत्तरस्मादंसात् त्रीन् प्रतीचः प्रक्रमान् प्रक्रम्यो दञ्चं चतुर्थं प्रक्रम्य तच्चात्वालस्य मध्यं कुर्यात्। सूत्र की शुल्वदीपिका टीका।

35. This is a pit dug out at a distance of 4 to 6 steps on the North side of 'Mahāvedī'. The 'Uttarvedi' is prepared from this earth. Bricks are prepared from this earth & used in different 'citis'. All the rubbish is then thrown in this pit. खडिलकर, पूर्वोक्त ग्रन्थ, परिशिष्ट 3, पृ0 115.

36. उपरवा गर्तविशेषाः चत्वारः। बौ0 शु0 सूत्र 1/75,
पृष्ठ्याया दक्षिणतः प्रक्रमं विहाय दक्षिणहविर्धानस्याक्षस्य पुरस्तादनसोधस्तादुपरवा भवन्ति। एषां समीपे ग्रावाणो रवं कुर्वन्तीत्युपरवाः। शुल्व दीपिका भाष्य।

37. अथोपरवाः प्रादेशमुखाः प्रादेशान्तरालाः। अरत्निमात्रं समचतुरस्रं विहात्य स्रक्तिषु शङ्कुरुन् निहन्यात्। अर्धप्रादेशेनार्धप्रादशेनैकैकं मण्डलं परिलिखेत्। बौ0 शु0 सूत्र 1/75

38. क. विपर्यस्यैतेनोत्करो व्याखातः। बौ0 शु0 सूत्र 1/58,
पूर्ववदग्रविपर्यासेन उत्तरतोऽपायमयोत्करः कर्त्तव्यः 1/58 पर बौधायन शुल्व मीमांसा टीका।
ख. विपर्यस्योत्तरत उत्करः। कात्यायन शुल्व सूत्र 1/28, तु0 वही, 1/30

39. This place intended for throwing the earth & grass removed from the surface, while clearing & levelling the vedi. This place is on the North side & near the 'cātvāla' but outside the vedī.
खडिलकर, कात्यायन शुल्व सूत्र, 1/28 पर टिप्पणी, पृ0 8

40. खडिलकर, पूर्वोक्त ग्रन्थ, परिशिष्ट 3, पृ0 118.

वेदाङ्ग ज्योतिष् की कालगणना

डॉ० नागेन्द्र पाण्डेय *

विश्व का प्राचीनतम ज्ञान-विज्ञान वेदों से निस्सृत है यह सर्वमान्य स्वीकृत सिद्धान्त है। भारतीय मनीषी आरम्भ से ही मानव-जीवन के मूल्यों में जागतिक तथा आध्यात्मिक दोनों विषयों को समान रूप से स्थापित करते रहे हैं। परिणामस्वरूप वेदों के ज्ञान-तत्त्व तथा व्यवहार-तत्त्व (कर्मकाण्ड) साथ-साथ ही विवेचित होते रहे हैं। वेदोक्त परिणामों को प्राप्त करने के लिए वेदाङ्ग शास्त्रों का प्रादुर्भाव हुआ। लक्ष्य एक ही था वेदों के अनुशीलन से सम्पूर्ण जगत् का आध्यात्मिक एवं वैज्ञानिक विकास हो सके। हम यहां वेदाङ्ग ज्योतिष् का परिचय उपस्थापित करेंगे।

नाम से ही स्पष्ट है कि वेदाङ्ग-ज्योतिष् वेदों का ही अङ्गभूत है। ऋग्वेद का 'ऋग्वेदज्योतिषम्' यजुर्वेद का 'याजुषज्यौतिषम्' और अथर्ववेद का 'आथर्वणज्यौतिषम्'–इन वेदों से सम्बन्धित परम्परा के अनुपालन में ये तीन प्रकार के ज्योतिष् ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित ने वेदाङ्गज्योतिष् का विवेचन करते हुए ई० पू० 1410 के आसपास का काल निर्धारित किया है। इसका आधार ऋग्वेदज्यौतिष् में वर्णित आश्लेषा नक्षत्र के आधे भाग से दक्षिणायन की प्रवृत्ति और धनिष्ठा के प्रारम्भ से उत्तरायण की प्रवृत्ति का प्रवर्तन है। अयन का आरम्भ सम्पात की गति से सम्बन्ध रखता है और सम्पात के विचलन बिन्दु के ही आधार पर नक्षत्रों का सम्बन्ध अयन बिन्दु के सापेक्ष परिवर्तित होता रहता है। इस तथ्य को स्वीकार कर आचार्य वराहमिहिर ने बृहत्संहिता के तृतीय अध्याय में लिखा है–

आश्लेषार्धदक्षिणमुत्तरमयनं खेऽर्धनिष्ठाद्यम्।
नूनं कदाचिदासीद्येनोक्तं पूर्वशास्त्रेषु।।
साम्प्रतमयनं सवितुः कर्कटाद्यं मृगादितश्चान्यत्।
उक्ताभावो विकृतिः प्रत्यक्षपरीक्षणैर्व्यक्तिः।।

---

* उपाचार्य, ज्योतिष विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, उत्तरप्रदेश एवं अध्यक्ष, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ।

पञ्चसिद्धान्तिका में भी इसी सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए कहा गया है–

आश्लेषार्धाद्दासीद्यदा निवृत्तिः किलोष्णकिरणस्य।
युक्तमयनं तदासीत् साम्प्रतमयनं पुनर्वसुतः।।

वराहमिहिर के कथन से स्पष्ट है कि वेदाङ्ग ज्योतिष् की प्राचीनता और महत्ता उस काल के सभी विद्वान् श्रद्धा से स्वीकार करते थे।

वेदाङ्गज्योतिष् के विवेचन से दो महत्त्वपूर्ण बातें प्रकट होती हैं—प्रथमतया यह कि वेदाङ्गज्योतिष् काल में अयन चलन का पूर्णतः ज्ञान था। दूसरा तथ्य यह है कि नक्षत्रों की गणना प्रचलित अश्विनी से न होकर कृतिका से होती थी। इस प्रकार खगोलीय गणित का सूक्ष्मतम परिशीलन उस काल में होता रहा था।

एक नवीन प्रवृत्ति पञ्चसंवत्सरात्मक युगमान के निर्धारण से देखी जा सकती है। इसमें संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर और इद्वत्सर, के नाम से पाँच संवत्सरों का एक युग माना गया है। इसमें 60 सौरमास अर्थात् 62 चन्द्रमास एवं 1830 सावन दिन परिगणित हैं। इनमें छः ऋतुएं, द्वादश मास, दिन, घटी, मुहूर्त आदि का पूर्ण विवेचन है। ग्रहों की गति के साथ ही अङ्कगणित के परिकर्मचतुष्ट्य अर्थात् योग, अन्तर, गुणा, भाग के साथ ही त्रैराशिक एवं मिनाङ्कों से सम्बन्धित गणितीय कर्म भी स्पष्टतया प्रतिपादित हैं। आजकल जो क्षेत्र-विभाग-वृत्त के अंशादिक प्रमापण में प्रयुक्त होते हैं तथा काल-विभाग-घट्यात्मक मान में सर्वत्र प्रचलित हैं, उसका सुमहत् प्रयोग वेदाङ्गज्योतिष् में देखने को मिलता है। जैसा कि—

60 पल=घटी	60 विकला=कला
60 घटी=दिन	60 कला=अंश
30 दिन=मास	30 अंश=राशि
12 मास=वर्ष	12 राशि=वृत्त परिधि
360 दिन=वर्ष	360 अंश=वृत्त परिधि

अथर्वज्योतिष् में बहुत ही सूक्ष्मता से काल का परिमाण स्थापित किया गया है। काल के परिज्ञान के लिए शङ्कु की छाया का उपयोग भी माननीय है। यथा–

द्वादशाक्षि निमेषस्तु लवो नामाभिधीयते।
लवस्त्रिंशत् कलाज्ञो कलात्रिंशत् त्रुटिर्भवेत्।।
त्रुटिनां तु भवेत् त्रिंशन्मुहूर्त्तस्य प्रयोजनम्।
द्वादशाङ्गुलमुच्छेषं तस्य छाया प्रमाणतः।।
नवति षडङ्गुलाश्चैव प्रतीचीं तां प्रकाशयेत्।
पुरस्तात् सन्धिवेलायां मुहूर्तो रौद्र उच्यते।।

काल के सूक्ष्म परिमाण निमेष से प्रारम्भ होकर अहोरात्र तक बताये गये हैं, जो कि इस प्रकार हैं–

12 निमेष=लव

30 लव=कला

30 कला=त्रुटि

30 त्रुटि=मुहूर्त

30 मुहूर्त=अहोरात्र

इस प्रकार वेदाङ्ग ज्योतिष् के तथ्यों को अवलोकित करने पर यह विदित होता है कि आधुनिक गणित के विकास से पूर्व ही भारतीय आचार्यों ने वेदाङ्गज्योतिष् काल में अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का निर्धारण कर लिया था। उनके कुछ महत्त्वपूर्ण निर्देशन इस प्रकार हैं—

1. समय का परिमाण सूक्ष्मता से निरूपित किया जा सकता था।

2. समय ज्ञान करने की विधि सूर्य की छाया से ज्ञात थी।

3. वृत्त के 360 अंश, उनके 12 भाग और उनका परिमाप विवेचित किया जा चुका था।

4. मानव जीवन पर ग्रहों तथा नक्षत्रों का प्रभाव अवश्य ही होता है, यह मान्यता स्थापित की जा चुकी थी।

5. तिथि, मुहूर्त, ग्रह-नक्षत्र आदि के रूप में काल का एक विशिष्ट स्वरूप स्वीकार कर उसके सापेक्ष जीव-जगत् के समस्त पदार्थों पर उत्पन्न होने वाले प्रभाव को ज्ञात कर लिया गया था।

इन स्थापित तथ्यों को देखकर हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि भारतीय ज्ञान-विज्ञान की धारा स्वचिन्तन के आधार पर ई० पू० हजारों वर्षों से प्रवाहित होती रही। कतिपय इतिहासवेत्ताओं के अभिमत नितान्त तथ्यहीन और उपेक्षणीय हैं कि हमने मिस्र अथवा रोम की प्राचीन संस्कृति से प्राप्त ज्ञान को आधार बनाया है। इस सम्बन्ध में अथर्वज्योतिष् के इस श्लोक में कहा गया है—

आत्मज्योतिषमत्युक्तं स्वयमुक्तं स्वयं भुवा।
तत्त्वतः पृच्छमानस्य काश्यपस्य महात्मनः।।

वैदिक साहित्य में ज्योतिष्

डॉ० गिरिजा शंकर शास्त्री *

ज्योतिष् वेद का एक अङ्ग है। इसे वेद का निर्मल नेत्र **वेदस्य निर्मलं चक्षुः** कहा गया है। ज्योतिष् ही नहीं अपितु समस्त वेदाङ्ग वेद से सम्पृक्त हैं। वेदों में ज्योतिषी के लिए नक्षत्रदर्श शब्द आया है। यज्ञादि के निमित्त शुभ काल जानना आवश्यक था। अतएव ज्योतिष् का प्रयोग वेदों में कालगणना तथा यज्ञ-सम्पादन के निमित्त हुआ करता था—

वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालाभिपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं यो ज्यौतिषं वेद स वेद यज्ञम्।।

वेदाङ्गज्योतिष्- 3

काल के समस्त खण्ड अर्थात् युग सम्वत्सर वर्ष, अयन, ऋतु, मास, क्षयमास, अधिकमास, तिथि, वार, दिनमान, मुहूर्त, सूक्ष्म मुहूर्त, तारा, नक्षत्र, ग्रहण, सूर्यादि नवग्रह तथा राशि का प्रयोग वैदिक साहित्य में पाया जाता है, जिनका विवेचन क्रमशः इस प्रकार है।

पृथिवी—ऐतरेय ब्राह्मण में पृथिवी के गोल होने निराधार अर्थात् आधार रहित अन्तरिक्ष में आकर्षण शक्ति से स्थित होने तथा दिन-रात्रि भी पृथिवी के भ्रमण से सम्भव होने का वर्णन मिलता है।

स वा एष न कदाचनास्तमेति नोदेति तं यदस्तमेतीति मन्यन्तेह्न एव तदन्तमित्वाथात्मानं विपर्यस्यते रात्रिमेवास्तात् कुरुतेहः परस्तादथ यदेनं प्रातरुदेतीति मन्यते रात्रेरेव तदन्तमित्वाथात्मानं विपर्यस्यते ऽहरेवास्वस्तात् कुरुते रात्रिं परस्तात् स वा एष न कदाचन निम्नोचति। 14/16

वह सूर्य न तो कभी अस्त होता है न उदित होता है। यह जो अस्त होता है वह दिन के अन्त में जाकर अपने को उलटा घुमाता है। इधर रात्रि करता है उधर दिन। इसी प्रकार यह जो सवेरे उगता है वह रात्रि का अन्त करके अपने को उलटा घुमाता है। इधर दिन करता है उधर रात्रि, यह सूर्य कभी भी अस्त नहीं होता।

ऐतरेय ब्राह्मण के इस वाक्य से यह स्पष्ट है कि पृथिवी गोल है तथा आकाश से अलग है और अन्तरिक्ष

* रीडर एवं अध्यक्ष संस्कृत विभाग, ईश्वर शरण डिग्री कालेज, इलाहाबाद, उत्तरप्रदेश

में बिना अवलम्ब स्थित है। ऋग्वेद संहिता में भी पृथिवी के गोल एवं निराधार होने की बात कही गयी है।

चक्राणासः परीणहं पृथिव्या हिरण्येन मणिना शुम्भमानाः।

न हिन्वानासस्तितिरुस्त इन्द्रं परि स्पशो अदधात् सूर्येण।। ऋ० सं० १/३३/८

दूसरा मन्त्र द्रष्टव्य है।

आप्रा रजांसि दिव्यानि पार्थिवा श्लोकं देवः कृणुते स्वाय धर्मणे।

प्रबाहू अस्राक् सविता सवीमनि निवेशयन् प्रसुवन्नक्तुर्भिजगत्।। ऋ० सं० ४/५३/३

सूर्य जगत् को सुलाते हुए और जाग्रत करते हुए उदित होता है। इससे सिद्ध होता हैकि सूर्य जैसे-जैसे आकाश में ऊपर चढ़ता जाता है वैसे-वैसे जगत् के कुछ भागों में रात्रि होने लगती है और कुछ भागों में दिन, इससे पृथिवी का गोलत्व प्रकट होता है।

पृथिवी के भ्रमण का भी सङ्केत वेद मन्त्रों में अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है। केवल इतना ही नहीं पृथिवी अपनी धुरी पर क्यों घूमती है इसका कारण एक मन्त्र में विलक्षण ढंग से प्रकट किया गया है

यज्ञ इन्द्रमवर्द्धयद् यद् भूमिं व्यवर्तयत्। चक्राण ओपशं दिवि। ऋ० सं० 8/14

मन्त्र का स्पष्टार्थ है कि यज्ञ इन्द्र को बढ़ाता है, इन्द्र द्युलोक में ओपश अर्थात् वेणी बनाता हुआ पृथिवी को विवर्तित करता है अर्थात् घुमाता है। इन्द्र से सूर्य अर्थ ध्वनित होता है। सूर्य का चक्र की तरह सबको घुमाना और स्वयं भी अपनी धुरी पर घूमना विवर्त्तते अहनी चक्रियेव इत्यादि बहुत से मन्त्रों में स्फुट रूप से कहा गया है।

युग—युगों का वर्णन अनेकों बार वेदों में आता है।

दीर्घतमा मामतेयो जुजुर्वान् दशमे युगे।

अपामर्थं यतीनां ब्रह्मा भवति सारथिः।। ऋ० सं० 1/158/6

अर्थात् ममता पुत्र दीर्घतमा दशम युग में वृद्ध होता हुआ परिणाम के प्रति जाने वाले कर्म का ऋत्विक रूप सारथि हुआ।

युगे युगे विदथ्यं गृणद्भ्योऽग्ने रयिं यशसं धेहि नव्यसीम्। ऋ० सं० 6/8/5

हे अग्ने। प्रत्येक युग में यज्ञार्थ तुम्हारे उद्देश्य से नयी स्तुति करने वाले हमको द्रव्य और यश दो।

या ओषधीः पूर्वाजाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा। ऋ० सं० 10/97/1

जो ओषधियां पहिले तीन युगों में देवों से उत्पन्न हुईं। ऐतरेय ब्राह्मण में स्पष्ट रूप से चारों युगों का उनके स्वरूपानुसार वर्णन है।

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।

उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं वै सम्पद्यते चरन्।।

वर्ष—ऋग्वेद में शरद् प्रभृति ऋतुवाचक शब्द वर्ष अर्थ में अनेकों बार आया है।

जीवेम शरदः शतम् तथा शतमिन्नु शरदो अन्ति।

समाः शब्द भी वर्ष वाचक है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजिविषेच्छतं समाः। वा० सं० 40/2

वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः। वेदा य उपजायते। ऋ० सं० 1/25/8

अर्थात् धृतव्रत (वरुण) बारह महीनों और उनमें उत्पन्न होने वाले प्राणियों को जानता है

द्वादशारं न हि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य।

आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः। ऋ० सं० 1/164/11

सत्यभूत (आदित्य) का बारह अरों वाला चक्र द्युलोक के चारों ओर सतत भ्रमण करते हुए भी नष्ट नहीं होता है। हे अग्ने! इस चक्र पर पुत्रों के 720 जोड़े आरूढ़ रहते हैं।

एक और मन्त्र मे कहा है। 12 परिधि, एक चक्र और तीन नाभि इन्हें कौन जानता है। उस चक्र में शङ्कु की तरह 360 चञ्चल अरे लगे हुए हैं।

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।

तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः।। ऋ० सं० 1/164/48

इन दोनों ऋचाओं के वर्णन से यह स्पष्ट है कि सम्वत्सर रूप एक चक्र है, बारह मास ही उसके 12 अरे हैं और 360 दिवस है। रात्रि दिन मिथुन है जो कि 360 है अर्थात् दिन रात्रि मिलाकर 720 हैं।

मास—तैत्तिरीय संहिता 1/4/14 में 12 महीनों के नाम अलग-अलग आये हैं। यथा मधु, माधव, शुक्र, शुचि, नभस्, नभस्य, इष, ऊर्ज, सहस्, सहस्य, तपस तथा तपस्या। संसर्प नाम अधिमास के लिए आया है। माधवाचार्य ने अहंस्पति का अर्थ क्षयमास किया है।

अयन—तैत्तिरीय संहिता में सूर्य छः मास दक्षिण एवं छः मास उत्तर चलता है इसका स्पष्ट उल्लेख है।

तस्मादित्यः षण्मासो दक्षिणेनैति षडुत्तरेण। तै० सं० 6/5/3

ऋतु—ऋतुओं का कारण सूर्य है। इस विषय में ऋग्वेद संहिता का वह मन्त्र द्रष्टव्य है जिसमें कहा गया है कि सूर्य ऋतुओं का नियमन करके क्रमशः पृथिवी की पूर्वादि दिशाओं का निर्माण करता है।

पूर्वामनु प्र दिशं पार्थिवानामृतून् प्रशासद्विदधावनुष्ठु। ऋ० सं० 1/95/3

वेदों में 6 ऋतुओं का निर्देश है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में वसन्त को ऋतुओं का मुख कहा गया है।

तस्य ते (संवत्सरस्य) वसन्तः शिरः। ग्रीष्मो दक्षिणः पक्षः। वर्षा पुच्छं। शरदुत्तरः पक्षः। हेमन्तो मध्यम्।

तै० ब्रा० 3/10/4/9

यहाँ पाँच ऋतुओं का उल्लेख है, शिशिर एवं हेमन्त में सर्दी अधिक रहती है अतएव दोनों का एक साथ अन्तर्भाव हो गया है।

द्वादश मासाः पञ्चर्तवो हेमन्तशिशिरयोः समासेन। ऐ० ब्रा० 1/1

पक्ष—तैत्तिरीय ब्राह्मण में शुक्ल और कृष्ण पक्ष के दिन एवं रात्रियों का वर्णन मिलता है।

सज्ञानं विज्ञानं दर्शादृष्टेति। एतावनुवाकौ पूर्वपक्षस्याहोरात्राणां नामधेयानि। प्रस्तुतं विष्टुत् सुतौ सुन्वतीति। एतावनुवाकावपरपक्षस्याहोरात्राणां नामधेयानि।। तै० ब्रा० 3/10/10/2

तिथि—बह्वृच ब्राह्मण में तिथि शब्द का प्रयोग हुआ है जो इस प्रकार है।

यां पर्यस्तमियादभ्युदयादिति सा तिथिः।

अर्थात् जिसमें चन्द्रमा उदित एवं अस्त होता है उसे तिथि कहते हैं। यद्यपि वेदों में तिथि शब्द प्रतिपदा द्वितीयादि तिथियों के रूप में नहीं मिलता तथापि पूर्णिमा और अमावस्या को पञ्चदशी कहा है।

चन्द्रमा वै पञ्चदशः। एष हि पञ्चदश्यामक्षीयते।
पञ्चदश्यामापूर्यते।। तै० ब्रा० 1/5/10

अर्थात् पञ्चदशी में चन्द्रमा क्षीण होता है और पञ्चदशी में पूर्ण होता है। पञ्चदशी शब्द से ज्ञात होता है कि उस समय प्रथमा, द्वितीया, तृतीया आदि संज्ञायें प्रचलित रही होंगी।

वार—वारों के नाम वेदों में रविवार, सोमवार, मङ्गलवार आदि रूप में नहीं मिलते। किन्तु सात वारों का वासर शब्द ऋक् संहिता में दो स्थानों में आया है।

आदि प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिष्पश्यन्ति वासरम्। परो यदिध्यते दिवा। ऋ० सं० 8/6/30

अर्थात् जब यह इन्द्र द्युलोक पर सूर्य रूप से प्रकाशित होता है उस समय चिरन्तन उदकवान् इस सूर्य रूपी चन्द्र के तेज को सब दिन भर देखते हैं। यहाँ सायण ने वासर का अर्थ दिन किया है।

दिनमान—ऋक् संहिता की एक ऋचा से दिनमान के बढ़ने एवं घटने का वर्णन प्राप्त होता है जिसमें कहा गया है हे सोमराजन्! जैसे दिवस को सूर्य बढ़ाता है उसी प्रकार तुम हमारी आयु बढ़ाओ।

सोमराजन् प्र ण आयूंषि तारीरहानीव सूर्यो वासराणि। ऋ० सं० 8/48/7

मुहूर्त—एक अहोरात्र में कुल तीस मुहूर्त 15 दिन के तथा 15 रात्रि के होते हैं। इसका वर्णन तैत्तिरीय ब्राह्मण में है।

अथ यदाह। चित्रः केतुदाता प्रदाता सविता प्रसविताभिशास्तानुमन्तेति।
एष एव तत्। एष ह्येव ते ह्नो मुहूर्ताः। एष रात्रेः। तै० ब्रा० 3/10/9

मुहूर्त चिन्तामणि आदि ग्रन्थों में भी 30 मुहूर्त एक अहोरात्र में होते हैं किन्तु उनका नाम इन वैदिक नामों से भिन्न है। वैदिक नाम यथा—दाता प्रदाता नन्दो मोदः प्रमोदः। आवेश यन्निवेशयन् संवेशनः सं

शान्तः शान्तः। आभवन् प्रभवन् सम्भवन् सम्भूतो भूतः।। तै० ब्रा० 3/10/1/5

सूक्ष्म मुहूर्त—एक मुहूर्त में 15 सूक्ष्म मुहूर्त माने गये हैं। यथा

अथ यदाह। इदानीं तदानीमिति। एष एव तत्।
एष ह्येव ते मुहूर्तानां मुहूर्ताः। तै० ब्रा० 3/10/9/9

नक्षत्र—निरूक्तकार यास्क ने नक्षत्र शब्द का निर्वचन करते हुए कहा है—नक्षत्राणि नक्षतेर्गतिकर्मणः। तैत्तिरीय ब्राह्मण में एक स्थल पर लिखा हुआ है।

सलिलं वा इदमन्तरासीत्। यदतरन्। तत्तारकाणां तारकत्वम्। यो वा इह यजते। अमुं सलोकं नक्षते। तन्नक्षत्राणां नक्षत्रत्वम्। देवगृहा वै नक्षत्राणि। य एवं वेद। गृह्येव भवति। यानि वा इमानि पृथिव्याश्चित्राणि। तानि नक्षत्राणि। तस्मादश्लीलनामश्चित्रे नावस्येन्न यजेत्। यथा पापाहे कुरूते। तादृगेव तत्। तै० ब्रा० 1/5/2

अर्थात् बीच में जल था। उसे तैरने के कारण तारकाओं को तारकत्व प्राप्त हुआ। जो यहाँ यज्ञ करता है वह उस लोक में जाता है, इसीलिए नक्षत्रों का नक्षत्रत्व है। नक्षत्र देवताओं के गृह हैं। जो यह जानता है वह गृही होता है। ये जो पृथिवी के चित्र हैं वे नक्षत्र हैं। अतः अशुभ नाम वाले नक्षत्रों में कोई कार्य समाप्त नहीं करना चाहिए और न तो यज्ञ ही करना चाहिए। उसमें कार्य करना पापकारक दिन में करने के समान ही है।

तैत्तिरीय संहिता में नक्षत्रों का उल्लेख उनके स्वामी देवताओं के साथ हुआ है। कहीं तो नक्षत्रों के विषय में वर्णन है कहीं उनके नामों की व्युत्पत्ति है। तैत्तिरीय संहिता के एक अनुवाक में सब नक्षत्रों का नाम इस प्रकार है।

कृत्तिका नक्षत्रमग्निर्देवताग्नेरूचस्थ प्रजापतेधार्तुः सोमस्यर्चे त्वा रूचे त्वा भासे त्वा ज्योतिषे त्वा रोहिणी नक्षत्रं प्रजापतिर्देवता मृगशीर्ष नक्षत्रं सोमो देवतार्द्रा नक्षत्रं रूद्रो देवता पुनर्वसुनक्षत्रमदितिर्देवता तिष्यो नक्षत्रं बृहस्पतिर्देवताश्लेषा नक्षत्रं सर्पा देवता मघानक्षत्रं पितरो देवता फल्गुनी नक्षत्रमर्यमा देवता उत्तराफल्गुनी नक्षत्रं भगो देवता हस्तो नक्षत्रं सविता देवता चित्रा नक्षत्रमिन्द्रो देवता स्वाती नक्षत्रं वायुर्देवता विशाखे नक्षत्रमिन्द्राग्नी देवतानुराधा नक्षत्रं मित्रो देवता रोहिणी नक्षत्रमिन्द्रो देवता विचृतौ नक्षत्रं पितरो देवताषाढानक्षत्रमापो देवताषाढ़ा नक्षत्रं विश्वेदेवा देवता श्रोणा नक्षत्रं विष्णुर्देवता श्रविष्ठा नक्षत्रं वसवो देवता शतभिषङ् नक्षत्रमिन्द्रो देवता प्रोष्ठपदा नक्षत्रमजएकपाद्देवता प्रोष्ठपदा नक्षत्रमहिर्बुध्नियो देवता रेवती नक्षत्रं पूषा देवता ऽश्वयुजौ नक्षत्रमश्विनौ देवतापरभरणीर्नक्षत्रं यमो देवता पूर्णापश्चाद्यते देवा अदधुः।। तै० सं० 4/4/10

इसी प्रकार तै० ब्रा० 1/5/1 में सब नक्षत्र उनके देवता और नक्षत्र विषयक कुछ चमत्कारिक और मनोरंजक वर्णन है।

तिलक लगाते समय, आशीर्वाद के समय अथवा शान्ति पाठ के समय प्रायः कर्मकाण्डी पण्डित एक अति प्रसिद्ध वेद मन्त्र का पाठ करते हैं। मन्त्र इस प्रकार है।

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।

स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।। यजु० सं० 25/19

मन्त्रज्यौतिष् की दृष्टि से नक्षत्रों का भी सङ्केत प्राप्त है। यथा—सम्पूर्ण खगोल 360 अंशों में कल्पित है। 30 अंश की एक राशि तथा 13 अंश 20 कला का एक नक्षत्र होता है। इसमें 27 अथवा 28 नक्षत्रों का चतुर्थांश 90 अंश का होगा जो कि 7 नक्षत्रों पर बनेगा। समस्त नक्षत्रों में मध्य भाग चौदहँवा नक्षत्र चित्रा है जिसका स्वामी इन्द्र है तथा उसके ठीक सामने रेवती नक्षत्र जिसका स्वामी पूषा देवता तथा चतुर्थांश दोनों ओर श्रवण एवं पुष्य नक्षत्र होंगे जिनके स्वामी क्रमशः विष्णु एवं बृहस्पति हैं। अतः इस मन्त्र के द्वारा इन चार नक्षत्रों एवं उनके स्वामियों का वर्णन किया गया है।

सप्तर्षि—वैदिक काल में सप्तर्षियों को ऋक्ष भी कहा जाता था। इस वाक्य में सप्तर्षियों का उल्लेख है—**उर्ध्वसप्तऋषीनुपतिष्ठस्व।** ताण्ड्य ब्राह्मण 1/5/5

शतपथ ब्राह्मण (2/1 : 2/4) में लिखा है—सप्तर्षानु ह स्म वै पुरर्क्षा इत्याचक्षते।

ग्रहण—ऋक् संहिता में ग्रहण के विषय में वर्णन मिलता है, जो इस प्रकार है—

यत्त्वासूर्य स्वर्भानुस्तमसा विध्यदासुरः।

अक्षेत्र विद्यथा मुग्धो भुवनान्यदीधयुः।। ऋ० सं० 5/40/5

हे सूर्य! जब असुर स्वर्भानु ने हम से तुम्हें आच्छादित किया उस समय सब भुवन ऐसे दिखलायी पड़े मानो वहां का सम्पूर्ण जन समूह अपना स्थान भूलकर मुग्ध हो गया है।

ऋक् संहिता के अतिरिक्त ताण्ड्य ब्राह्मण 4/5/2 गोपथ ब्राह्मण 8/19 तथा शतपथ ब्राह्मण 5/3/22 आदि में सूर्य ग्रहण की विस्तृत चर्चा की गयी है।

ग्रह—नव ग्रहों में सूर्य चन्द्रमा का उल्लेख वेदों में अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है। सवितृ सूक्त तथा मित्र सूक्त में सूर्य की स्तुति है—**आकृष्णेन रजसा वर्तमानो........भुवनानि पश्यन्।** राहु केतु तो अदृश्य ग्रह हैं किन्तु ग्रहण के माध्यम से स्वर्भानु का उल्लेख तो है ही। बृहस्पति एवं शुक्र का उल्लेख भी वैदिक साहित्य में प्राप्त है। सूर्य चन्द्र के अतिरिक्त अन्य ग्रह मंगल, बुध, गुरु, शुक्र एवं शनि का उल्लेख सङ्केत रूप में मिलता है।

अमी ये पञ्चोक्षणो मध्ये तस्थुर्महो दिवः।

देवत्रा नु प्रा वाच्यं सध्रीचीना नि वावृतुर्वित्तं मे अस्य रोदसी।। ऋ० सं० 1/105/10

अर्थात् ये जो महाप्रबल पांच (ग्रह) विस्तीर्ण द्युलोक के मध्य रहते हैं उनका मैं स्तोत्र बना रहा हूँ। एक साथ आने वाले होते हुए भी वे सब चले गये हैं। सूर्यादि नव ग्रहों के वैदिक मन्त्र वैदिक काल से अद्यावधि पर्यन्त ग्रह शान्ति में प्रयुक्त होते है, यह तो सर्वविदित है। अतः नवग्रहों का उल्लेख वेदों में स्पष्ट रूप से है।

राशि—यद्यपि वेदों में राशि शब्द मेष, वृष आदि के लिए प्रयुक्त नहीं है। वेद ही नहीं वेदोत्तर काल में भी वाल्मीकीय रामायण, महाभारत आदि में भी राशि शब्द का उल्लेख नहीं मिलता। फिर भी राशि को द्योतक शब्द अर आदि के माध्यम से कहा गया है। जैसा कि पूर्वोक्त में 12 अरों से 12 राशियां ही गृहीत हैं।

द्वादशारं न हि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य। ऋ० सं० 1/164/11

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि वैदिककाल में ज्योतिष् शास्त्र ने अपना निश्चित स्वरूप प्राप्त कर लिया था। यह ज्योतिष् शास्त्र पृथक् वेदाङ्ग के रूप में अध्ययन किए जाने की अपेक्षा कर रहा था जिससे तीनों कालों का ज्ञान सुलभ हो सके।

❐

वैदिक गणितीय सूत्र

नारायण किंजवडेकर *

भारतीय संस्कृति यज्ञप्रधान थी, यज्ञ में वेदी निर्माण में, मुहूर्त निकालने के लिए ज्योतिष् में गणित का अध्ययन आवश्यक था। शुभ मुहूर्त, पञ्चांग इत्यादि में गणित का उपयोग आरम्भ हुआ।

भारती कृष्णतीर्थ तपस्वी थे। आधुनिक विषयों के विद्वान् तो थे ही। तपस्या के माध्यम से वेदों के परिशिष्टों में 16+13 = 29 सूत्रों से संशोधन करके उन्होंने ऐसी विधा निर्माण की, जिसके साधन से आधुनिक गणित की सर्व शाखाओं में उसका उपयोग शुरू हुआ। पाश्चात्त्य विश्वविद्यालयों में जिसके गहन अध्ययन के लिए विभाग निर्माण हुए तथा पाश्चात्त्यों ने जिस पर ग्रन्थ रचना भी की।

एक सूत्र से अनेक शाखाओं में विविध समस्याएँ (ऊर्ध्वतिर्यग्भ्याम्, एकाधिकेन पूर्वेण, इन सूत्रों से) तथा अनेक सूत्रों से एक समस्या हल होना—यह सम्भव हुआ।

गणित का अन्तरङ्ग इस विधा के कारण स्पष्ट होता है, और अल्प समय एवं परिश्रम से गणित में शीघ्र प्रगति होती है।

ऊँ खं ब्रह्म इस औपनिषदिक महावाक्य से शून्य की धारणा से हमारा वैदिक जगत् परिचित था। रुद्र सूक्त के एकादश चमक में संख्याओं की विशेषता स्पष्ट होती है। परिशिष्ट—1

संख्या इस प्रकार उस चमक में दी हुई है—

(A) 1, 3, 5, 9, 11, 13, 15, 19, 21, 23, 25, 27, 29, 31, 33

(B) 4, 8, 12, 16, 20, 24, 28, 32, 36, 40, 44, 48.......

गणित के 29 सूत्र परिशिष्ट—2 में प्रदत्त हैं। कतिपय सूत्रों के प्रयोग यहाँ प्रस्तुत हैं—

(1) एकाधिकेन पूर्वेण–

(1) $\frac{1}{19} \cong \frac{1}{20} = .05$ इसमें 1 यह अङ्क एकाधिकेन 2 हो जाता है यही प्रवर्तक है।

* चार्टर्ड इंजीनियर एवं रजिस्टर्ड वैल्यूअर, वाराणसी, उत्तरप्रदेश

2	5	2
2	12	6
2	6	3
2	3	1
2	11	5
2	15	7
2	17	8
2	18	9
2	9	4
2	14	7
2	7	3
2	13	6
2	16	8
2	8	4
2	4	2
2	2	1

0.05 2 6 3 1 5 7 8 9 4 7 3 6 8 4 2 1 0

9 4 7 3 6 8 4 2 1 0

9 9 9 9 9 9 9 9 9 9

यहाँ 9 4 7 3.......इत्यादि संख्याओं की पुनरावृत्ति होती है, पहले वाली संख्याओं की वे क्रमशः पूरक हैं।

$\frac{1}{19}$ अनुमानतः $\frac{1}{20}$ है। $\frac{1}{20}$, $\frac{1}{19}$ से थोड़ा कम है, यहाँ 2 प्रवर्तक है जिससे 5 को भाग देने से 2 हर का भाग और 1 शेष रहेगा, अभी 12 भाज्य हुआ—शेष स्पष्ट है।

प्रचलित पद्धति से आप कल्पना कर सकते हैं कि यह कितना सरल है।

(2) (a) 11 x 19

जिनमें 1+9 = 10 अनन्य अङ्कों का जोड़ = 10 होता है।

(b) 134 x 136

4 + 6 = 10 इसके उदाहरण में होता है। पहले उदाहरण में प्रथम और द्वितीय संख्या में एक ही अङ्क है और दूसरे उदाहरण में प्रथम एवं द्वितीय संख्या में बायें के दो अङ्क समान हैं। जैसे—13

(b) 13 x 14 6 x 4 = 18224, 134 x 136 = 18224

(a) 11 x 19 = 1 x 2 09 = 209

इसमें 'एकाधिकेन पूर्वेण' से 11 और 12 का गुणाकार और 1 x 2 का गुणाकार करना पड़ता है।

(2) 'ऊर्ध्वतिर्यग्भ्याम्'–

इस सूत्र से गुणाकार, भागाकार वर्ग, घन तथा वर्गमूल एवं घनमूल निकाला जाता है। उसके कुछ उदाहरण—

2 3 1
4 6 8

8	24 4	38 3	30	8
10	8	1	0	8

1 x 8 = 8		ऊर्ध्व
3 x 8 = 24 6 x 1 = 6	} = 30	तिर्यग्
2 x 8 = 16 1 x 4 = 4 3 x 6 = 18	} = 38	ऊर्ध्व तिर्यग्भ्याम्
2 x 6 = 12 3 x 4 = 12	} = 24	तिर्यग्
2 x 4 = 8		ऊर्ध्व

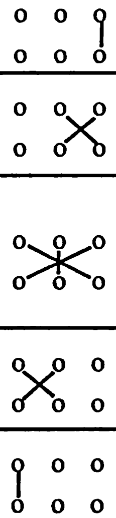

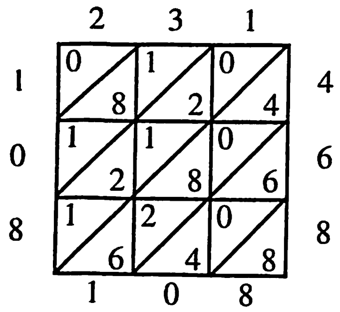

यह कोष्ठक पद्धति भी प्रचलित है जिससे गुणाकार करना सरल है।

बीजगणितीय समस्याएँ भी इस पद्धति से हल की जा सकती हैं—

$x^3 + 3x^2 + 5x + 6$

$x^3 + 4x^2 + x + 8$

1 3 5 6
1 4 1 8

1	4 3	1 5 12	8 6 3 20	24 24 5	40 6	48
1	7	18	37	53	46	48

$x^6 + 7x^5 + 18x^4 + 37x^3 + 53x^2 + 46x + 48$

अङ्गणित दशमान पद्धति से होने के कारण x का मान 10 होता है। लेकिन बीजगणित में x का मान कुछ भी होने से बायें का शेष अगले पंक्ति में स्थानान्तरित नहीं होगा।

वर्ग—द्वन्द्वयोग इस सूत्र से—

5 6 5 8

D (5) = 25 — 5 का वर्ग करें।

D (56) = 2x5x6=60 — 5 और 6 के गुणाकार द्विगुणित करें।

D (565) = 2x5x5 + 6^2 — 5 x 6 प्रथम एवं अन्त्य अङ्क का गुणाकार और 6 का वर्ग करके जोड़ करें।

= 50+36

= 86

D (5 6 5 8) =2x5x8= 80 — प्रथम एवं अन्त्य अङ्क का गुणाकार और द्विगुणित।

2x6x5= 60

140 — मध्य दो अङ्कों का गुणाकार और द्विगुणित।

D (658) = 2x6x8+5^2 — इसी तरह आगे

= 96+25

= 121

D(58) = 2 x 5 x 8 = 80

D 8 = 64

25	60	86	140	121	80	64	A
7	10	15	12	8	6		
32	0	1	2	9	6	4	= 5 6 5 8^2

यह 'ऊर्ध्वतिर्यग्भ्याम्' सूत्र से भी हल हो सकता है।

5 6 5 8

5 6 5 8

25	30	25	40	48	80	64
	30	25	40	48		
		36	30	25		
			30			
25	60	86	140	121	80	64

B

वही A देखें

बीजगणित की समस्या—

$5x^3 + 6x^2 + 5x + 8$

$5x^3 + 6x^2 + 5x + 8$

25	60	86	40	121	80	64

B—यही अङ्क यहाँ प्राप्त होंगे।

$25x^6 + 60x^5 + 86x^4 + 40x^3 + 121x^2 + 80x + 64$

घन—

12^3 = 1 2

1 2

1 2

I 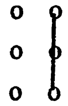

1 = 2 x 2 x 2

II 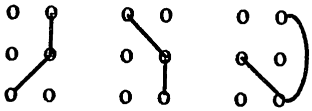 II

III 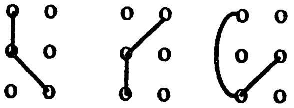

IV

	III	II	I
1^3 +	1.1.2	1.2.2	2.2.2
	1.1.2	1.2.2	
	1.1.2	1.2.2	
1	6	12	8
1	7	2	8

आनुरूप्येण–

किसी संख्या का कोई घात (x^4), इस सूत्र से—

12^4 1. इसमें प्रथम (1) का द्विगुणित (2) अङ्क है।

2. चतुर्थ घात में 4 संख्या आती है 4 + 1 ।

3. दूसरी संख्या प्रथम संख्या की द्विगुणित होगी।

4. गुणक के लिए Pyramid बनाना।

5. गुणकों से (3) की संख्याओं का गुणाकार करना।

6. अंङ्कगणितीय संख्या में समाहन करें—अथवा

7. बीजगणित के दशमान न होने के कारण समाहन नहीं होगा।

1	2	4	8	16
1	4	6	4	1
1	8	24	32	16
1	2	3	1	
2	0	7	3	6

	(1)		4(2)	4(3)				
				1				
			1		1			
		1		2		1		
	1		3		3		1	
1		4		6		4		1

यही गुणक है।

इस प्रकार किसी भी संख्या का कोई भी घात प्राप्त कर सकते हैं।

$(x+2)^4 = x^4 + 8x^3 + 24x^2 + 32x + 16$

इसमें 1, 8, 24, 32, 16 यह गुणक (Co-efficients) है। लेकिन बीजगणित में x का मान 10 न होने के कारण अङ्कों का समाहन नहीं होगा।

भागाकार—ध्वजांक से

$$57 \;)\; 3 \quad 6 \quad 6^7 \quad 5^8 \quad 5^5 \;($$

$$= \; 5^7 \qquad \begin{array}{ccc|c} 3 & 6 & 7 & 8 \quad 5 \\ \hline 6 & 4 & 5 & 20 \end{array}$$

36—[5x6=] 30 = 67; 67—[6x7=] 42 = 25
A B

25—[4x5=] 20 = 58; 58—[4x7=] 28 = 30
C D

30—[5x5=] 25 = 25; 55—[5x7=] 35 = 20 शेष
E E

अभ्यास होने से एक ही पंक्ति में उत्तर लिख सकते हैं। यहाँ 7 को ध्वजांक कहते हैं।

'उर्ध्वतिर्यग्भ्याम्' इस सूत्र के प्रयोग से यह भागाकार सम्भव है।

3 6 7 8 5

		6	4	5
		0	5	7
0	30	42 20	28 25	35
	6	5	3	
3	6	7	6	5
			2	0
3	6	7	8	5

ऊपर के स्पष्टीकरण में जो संख्या आयी हैं—

5 x 7 = 35 E

7 x 4 = 28 D

5 x5 = 25 E

6 x 7 = 42 B

4 x 5 = 20 C

6 x 5 = 30 A

इसी से स्पष्ट होगा कि 'ऊर्ध्वतिर्यग्भ्याम्' इस सूत्र से गुणाकार और भागाकार दोनों एक ही सिक्के के दो भाग हैं।

वर्गमूल या घनमूल 'ऊर्ध्वतिर्यग्भ्याम्' सूत्र का व्यतिक्रम है।

	6 2 5		2	5
4	0 2		2	5
	25	4	10 10	25
		4	20	25
		6	2	5

6—(2x2=) 4 = 2

2 x 2 = 4

3 x 3 = 9

6 यह संख्या 2 अथवा 3 के वर्ग के बीच होने के कारण `2' से शुरू करत हैं।

भाजक 2 x 2 = 4

$22 \div 4 = 5$ दूसरा अङ्क 5 होगा

$= 22 - 20 = 2$

$25 = 5^2 = 5 \times 5$ इस प्रकार 25 वर्गमूल हुआ।

घनमूल—

3	2	7	6	8	का घनमूल निकालना
3					

(1) घनसूत्र होने के कारण दाहिने से 3/3 संख्याओं का समूह बनाकर शेष 32 बायें रह जाते हैं।

(2) $2^3=8, 3^3=27, 4^3=64$

32 यह संख्या 3 और 4 के घन के मध्य होने के कारण प्रथम मूल संख्या 3 है।

(3) $32 - [3^3 =] 27 = 5$

$57 \div [3.3^2=] 27 = 2 \mid 3$ $\therefore$ $27 \times 2 = 54, 54 + 3 = 57$

घनमूल में दूसरा अङ्क 2 है—

(4) $3.3.2^2 = 3.3.2.2 = 36$

$36 - [3.3.2^2 =] 36 = 0$

(5) $8 - [2^3 =] 8 = 0$

		3	32	7	6	8	32
		3—	27				
$3.3^2.2$			5	7			
3.9.2	(—)		5	4			
				3	6		
$3.3.2^2$							
3.3.4		(-)		3	6		
				0	0	8	
$2^3 = 8$				(-)		8	

(1) $3.3.3 = 3^3 = 27$

अतः 32 घनमूल है।

	3	2	
	3	2	
	3	2	
27	3.3.2 3.3.2 3.3.2	3.2.2 3.2.2 3.2.2	8
27 5	54 3	36	8
32	7	6	8

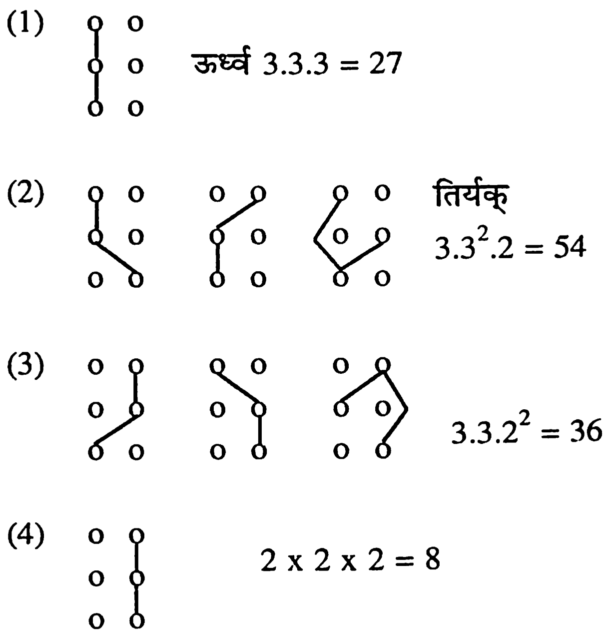

इससे यह स्पष्ट होता है कि ऊर्ध्वतिर्यग्भ्याम् सूत्र से गुणा और भाग दोनों होते हैं।

Triplex (3) = 3.3.3 = 27

Triplex (32) = $3.3^2.2 + 3.3.2^2$ = 54 | 36

Triplex (2) 2.2.2 = 8

इस सूत्र के माध्यम से Determinants, Matrices Trigonometry, Series, logorithom, polynomial equations की समस्याएं हल की जाती हैं।

परिशिष्ट—1

एका च मे। तिस्रश्च मे। पञ्च च मे। सप्त च मे। नव च मे। एकादश च मे। त्रयोदश च मे। पञ्चदश च मे। सप्तदश च मे। नवदश च मे। एकविंशतिश्च मे। त्रयोविंशतिश्च मे। पञ्चविंशतिश्च मे। सप्तविंशतिश्च मे। नवविंशतिश्च मे। एकत्रिंशच्च मे। त्रयस्त्रिंशच्च मे।

1, 3, 5, 7, 9, 11, 13, 15, 17, 19, 21, 23, 25, 27, 29, 31, 33

चतस्रश्च मे। अष्टौ च मे। द्वादशश्च मे। षोडश च मे। विंशतिश्च मे। चतुर्विंशतिश्च मे। अष्टाविंशतिश्च मे। द्वात्रिशच्च मे। षट्त्रिंशच्च मे। चत्वारिंशच्च मे। चतुश्चत्वारिंशच्च मे। अष्टाचत्वारिंशच्च मे।

4, 8, 12, 16, 20, 24, 28, 32, 36, 40, 44, 48

परिशिष्ट—2

मुख्य सूत्र

1. एकाधिकेन पूर्वेण।
2. निखिलं नवतः चरमं दशतः।।
3. ऊर्ध्वतिर्यग्भ्याम्।
4. परावर्त्य योजयेत्।
5. शून्यं साम्यसमुच्चये।
6. (आनुरूप्ये) शून्यमन्यत्।
7. संकलनव्यवकलनाभ्याम्।
8. पूरणापूरणाभ्याम्।
9. चलनकलनाभ्याम्।
10. यावदूनम्
11. व्यष्टिसमष्टिः।
12. शेषाण्यङ्केन चरमेण।
13. सोपान्त्यद्वयमन्त्यम्।
14. एकन्यूनेन पूर्वेण।
15. गुणितसमुच्चयः।
16. गुणकसमुच्चयः।

उपसूत्र

1. आनुरूप्येण।
2. शिष्यते शेषसंज्ञः।
3. आद्यमाद्येनान्त्यमन्त्येन
4. केवलैः सप्तकं गुण्यात्।
5. वेष्टनम्।
6. यावदूनम् तावदूनम्।
7. यावदूनं तावदूनीकृत्य वर्गं च योजयेत्।
8. अन्त्ययोर्दशकेऽपि।
9. अन्त्ययोरेव।
10. समुच्चयगुणितः।
11. लोपनस्थापनाभ्याम्।
12. विलोकनम्।
13. गुणितसमुच्चयः समुच्चयगुणितः।

प्राचीन भारत में अङ्कगणित

डॉ० ओमप्रकाश लाल श्रीवास्तव *

भारत में अङ्कगणित का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। इसकी जानकारी वैदिक ग्रन्थों से प्राप्त होती है। यजुर्वेद[1] में अग्नि की प्रार्थना के सन्दर्भ में एक, दस, शत, सहस्र, अयुत, नियुत, प्रयुत, अर्बुद, न्यर्बुद, समुद्र, मध्य, अन्त और परार्ध संख्याओं का उल्लेख किया गया है। संख्याओं की यही सूची तैत्तिरीय संहिता[2] में भी प्राप्त होती है लेकिन काठक संहिता[3] में अयुत और नियुत के बीच प्रयुत का प्रयोग किया गया है और शेष नाम यजुर्वेद के ही मिलते हैं। मैत्रायणी संहिता[4] में अन्य संख्याओं के साथ नियुत नहीं मिलता, बल्कि सहस्र के बाद अयुत, प्रयुत और पुनः अयुत का ही प्रयोग किया गया है। पञ्चविंश ब्राह्मण[5] में न्यर्बुद तक यही संख्याएं प्राप्त होती हैं लेकिन समुद्र, मध्य के स्थान पर निखर्व, बाड़व, अक्षिति, आदि नाम मिलते हैं। शांख्यायन श्रौतसूत्र[6] में न्यर्बुद तक काठक संहिता की संख्याओं का ही अनुसरण किया गया है लेकिन इसके बाद निखर्व, समुद्र, सलिल, अन्त और अनन्त का प्रयोग किया गया है। पञ्चविंश ब्राह्मण की तरह ही इसमें भी निखर्व संख्या तो प्राप्त होती है लेकिन पञ्चविंश ब्राह्मण में जहाँ पर मध्य और अन्त के स्थान पर बाड़व तथा अक्षिति नाम आते हैं, वहीं पर शांख्यायन श्रौतसूत्र में मध्य, अन्त और परार्ध के स्थान पर समुद्र, सलिल और अन्त का प्रयोग किया गया है तथा अगली संख्या अनन्त की भी सूचना प्राप्त होती है।

वैदिक एवं सूत्र ग्रन्थों के बाद रामायण[7] में भी अङ्कविज्ञान की जानकारी प्राप्त होती है जिसमें शत, सहस्र, कोटि, शङ्कु, महाशङ्कु, वृन्द, महावृन्द, पद्म, महापद्म, खर्व, महाखर्व, समुद्र, ओघ और महोघ का नाम मिलता है। उल्लेखनीय है कि कोटि के आगे शङ्कु, वृन्द, पद्म, खर्व और ओघ के साथ 'महा' शब्द जोड़ दिया गया है परन्तु 'महा' शब्द योग से संख्याएं अपनी पूर्ववर्ती संख्याओं की दस गुनी ही नहीं हैं बल्कि उनमें बहुत अधिक अन्तर है। रामायण की परिभाषा के अनुसार—शतं शङ्कु सहस्राणां महाशङ्कुः अर्थात् सौ हज़ार शङ्कु का एक महाशङ्कु होता है न कि आधुनिक परिकल्पना के अनुसार दस शङ्कु का एक महाशङ्कु। जबकि इसी रामायण में 'कोटि' को—शंत शत सहस्राणां कोटि माहुर्मनीषिणः अर्थात् सौ हजार सौ का एक करोड़ कहा गया है। यह परिभाषा, आधुनिक परिभाषा से भी मेल खाती है किन्तु शङ्कु, महाशङ्कु, महावृन्द, पद्म, महापद्म

* रजिस्ट्रीकरण अधिकारी, पुरावशेष एवं बहुमूल्य कलाकृति, इलाहाबाद मण्डल, इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश

आदि में यह बात नहीं पायी जाती। इसी क्रम में यह भी विचारणीय है कि वैदिक एवं सूत्र कालीन खर्व और समुद्र रामायण में प्राप्त होते हैं लेकिन तत्कालीन स्थानों एवं मानों के साथ उनकी सङ्गति नहीं बैठती।[8] दूसरी शताब्दी ई० पूर्व के ग्रन्थ छन्दः सूत्र[9] में एक, दस, शत, सहस्र, अयुत, नियुत, प्रयुत, अर्बुद, न्यर्बुद, मध्य, अन्त और परार्ध की सूचना प्राप्त होती है। ई० पूर्व प्रथम शताब्दी के बौद्ध धर्म ग्रन्थ ललित-विस्तर[10] में अर्जुन एवं बोधिसत्व के संवाद के रूप में कोटि के बाद 100 पर आधारित संख्याओं की सूची प्रस्तुत की गयी है जिसमें कोटि से तल्लक्षणा तक 24 संख्याओं की जानकारी मिलती है। इस प्रकार हमारे देश में 10 इकाई वाले अङ्कों के साथ-साथ 100 इकाई वाले अङ्कों की भी सूचना प्राप्त होती है।

पुनः वायुपुराण[11] एक दश, शत, सहस्र, अयुत, नियुत, प्रयुत, अर्बुद, न्यर्बुद, स्वर्बुद, खर्व, निखर्व, शंकु, पद्म, समुद्र, मध्य और परार्ध का वर्णन करता है और विष्णु पुराण[12] के अनुसार एक स्थान से दूसरे स्थान का मान दस गुना होता है और अठारहवें स्थान वाली संख्या परार्ध कहलाती है—

स्थानात् स्थानं दशगुणमेकस्माद् गण्यते द्विजः।
ततोऽष्टादशमे स्थाने परार्धमभिधीयते।।

इस सन्दर्भ में यह विचारणीय है कि पुराणों में वैदिक नामावली का परार्ध शब्द तो मिलता है लेकिन यहाँ पर उसका स्थान और मान बदल गया है क्योंकि वैदिक संहिता में यह तेरहवें स्थान पर आता है और पुराणों में अठारहवें स्थान पर।[13]

पांचवीं शताब्दी ई० के गणितज्ञ आर्यभट्ट[14] ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ आर्यभटीय में कहा है—

एकं दश शतं सहस्त्रमयुत नियुते प्रयुतम्।
कोट् यर्बुदं च वृन्दं च स्थानात्स्थानं दशगुणम् स्यात्।।

अर्थात् एक, दश, शत, सहस्र, अयुत, नियुत, प्रयुत, कोटि, अर्बुद और वृन्द क्रमशः आते हैं जिनमें प्रत्येक अंङ्क अपने पूर्ववर्ती का दस गुना होता है। आठवीं शताब्दी ई० के श्रीधर[15] ने संख्याओं के सन्दर्भ में एक, दश, सहस्र, अयुत, प्रयुत, कोटि, अर्बुद, अब्ज, खर्व, निखर्व, महासरोज, शंक, सरितापति, अन्तमध्य और परार्ध की सूची प्रस्तुत की है। इस प्रकार श्रीधर ने प्रायः आर्यभट्ट के नामों का ही उल्लेख किया है लेकिन नियुत और वृन्द के स्थान पर क्रमशः लक्ष एवं अब्ज शब्दों का प्रयोग हुआ है जो आज तक चला आ रहा है।

नवीं शताब्दी ई० में होने वाले जैन महावीर[16] ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ गणितसार संग्रह में चौबीस संख्याओं का उल्लेख किया है जो क्रमशः एक, दश, शत, सहस्र, दस सहस्र, लक्ष, दसलक्ष, कोटि, दसकोटि, शतकोटि, अर्बुद, न्यर्बुद, खर्व, महाखर्व, पद्म, महापद्म, क्षोणी, महाक्षोणी, शङ्ख, महाशङ्ख, क्षिति, महाक्षिति, क्षोभ, महाक्षोभ है। महावीर की इस सूची से पता चलता है कि लक्ष तक तो वे सीधे श्रीधर का अनुकरण करते हैं लेकिन इसके बाद अलग हट जाते हैं। संख्यात्मक शब्दों के बदलाव की इस प्रक्रिया में महावीर ने अपने पूर्ववर्ती परम्परा के अर्बुद, न्यर्बुद, खर्व, पद्म एवं शङ्ख आदि शब्दों का प्रयोग तो किया है लेकिन वे

पूर्ववर्ती मानों के स्थान पर नये मानों की सूचना प्रदान करते हैं। बारहवीं शताब्दी ई० के भास्कराचार्य[17] ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ लीलावती में महावीर के द्वारा प्रयुक्त नामों एवं परम्परा का निर्वाह नहीं किया है बल्कि काफी समय के अन्तराल के होते हुए भी सीधे श्रीधर का अनुकरण किया है जिसमें एक, दस, शत, सहस्र, अयुत, लक्ष, प्रयुत, कोटि, अर्बुद, अब्ज, खर्व, निखर्व, महापद्म, शङ्कु, जलधि, अन्त, मध्य और परार्ध आते हैं। भास्कराचार्य ने श्रीधर के महासरोज तथा सरितापति के स्थान पर उनके पर्याय महापद्म एवं जलधि शब्दों का प्रयोग किया है।

इस प्रकार वैदिक काल से बारहवीं शताब्दी के बीच अङ्कगणित के सन्दभ में महत्त्वपूर्ण सूचना उपलब्ध होती है। गणित के इन विद्वानों ने नये-नये सिद्धान्तों को जन्म दिया और पूर्ववर्ती मानों में परिवर्तन भी किया। आर्यभट का भू-भ्रमण सिद्धान्त विशेष रूप से उल्लेखनीय है जिसका समकालीन एवं कुछ परवर्ती विद्वानों ने विरोध किया था लेकिन आज उसे मान्यता प्राप्त है। अङ्कगणित के क्षेत्र में हमारे देश की सबसे बड़ी उपलब्धि दशमिक पद्धति और स्थान मान सिद्धान्त की उत्पत्ति है जिसकी सूचना वैदिक काल से ही प्राप्त होती है।

सन्दर्भ सङ्केत :

1. यजुर्वेद, 17, 2।
2. तैत्तिरीय, 7.2.20।
3. काठक संहिता, 17, 10।
4. मैत्रायी संहिता, 2.8.14।
5. सत्यप्रकाश : वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा, पृ0 39।
6. सांख्यायनश्रौतसूत्र, 15.11.4।
7. वाल्मीकि रामायण युद्धकाण्ड, 28.33-38।
8. श्रीवास्तव, ओमप्रकाश लाल : उत्तर भारत में अंकों का विकास, पृ0 15।
9. पिंगलच्छन्दः सूत्र, अध्याय 4-3, 17.2।
10. ललितविस्तर, शिल्प संदर्शन परिवर्तन।
11. वायुपुराण, अध्याय 101, श्लोक 93-103।
12. विष्णुपुराण, अध्याय 3, श्लोक 4.
13. श्रीवास्तव, ओम प्रकाश लाल : उत्तर भारत में अंकों का विकास, पृ0 18।
14. आर्यभटीम्, गणितपाद, 2।
15. त्रिम्शतिकासूत्र 2-3।
16. गणितसार संग्रह, संज्ञाधिकार 1.63.68।
17. लीलावती 2.3।

वैदिक वाड्मय की अद्भुत देन : शून्य एवं संख्या पद्धति

डॉ० शुचिस्मिता चौधरी *

वैदिक वाड्मय में 'विज्ञान और प्रौद्योगिकी' भारत की परम्परागत प्रविधि आज वैज्ञानिकों और अर्थशास्त्रियों के लिए बड़ा ही महत्त्वपूर्ण शोध विषय बन गया है। बड़ी संख्या में बुद्धिजीवी इस पर काम कर रहे हैं। हमारे वैदिक-साहित्य में विज्ञान की हर विधा की कदाचित् पराकाष्ठा मिल जाती है। अब तो पुरातात्त्विक उत्खननों से इन तथ्यों की पुष्टि हो रही है। पुरातात्त्विक उत्खननों से परिज्ञप्त तथ्यों के अनुसार प्राचीन भारत में भवन-निर्माण, नगर-योजना, धातुओं का व्यवहार, काष्ठ-कला, ओषधि व शल्य-चिकित्सा इत्यादि बड़े ही उन्नत ढंग से व्यवहृत थे। वैदिक ग्रन्थों, ब्राह्मणों तथा अन्यान्य साहित्यों में मिले उद्धरणों से स्पष्ट है कि सभ्यता यहाँ उत्कृष्ट रूप से विकसित हुई थी।

अस्तु, भारतीयों में गणितीय ज्ञान वैदिक काल से ही सर्वोपरि रहा है। प्रचलित संख्या पद्धति आधुनिक विश्व को भातरवर्ष की देन है। प्राचीन काल से ही अङ्कगणित अथवा राशिविद्या के अन्तर्गत विशिष्ट रूप से संख्या अध्ययन का निर्देश है, क्योंकि विकसित संख्या पद्धति ही समुन्नत विज्ञान और प्रविधि का आधार-स्तम्भ माना जाता है। आज भारतीय अङ्क पद्धति ही सम्पूर्ण विश्व में प्रचलित है। हमारे यहाँ वैदिक काल में भी गणना पद्धति पूर्ण विकसित थी। यथा—

एकम्, द्वे, त्रीणि............नव, दश..........विंशतिः........त्रिंशत्..........नवतिः.........शतं........सहस्र अयुतम् आदि।

अनेक शिलालेखों से अङ्क लिखने की कला का ज्ञान प्राप्त होता है। यथा—

ब्राह्मी लिपि (300 B.C.) में —, =, ≡, y............S.....

ग्वालियर शिलालेख (870 A.D.) में 1, 2, 3...............................

---

* संस्कृत विभाग, ति० मा० भा० वि० विद्यालय, भागलपुर, बिहार

देवनागरी लिपि (1100 A.D.) में	1, 2, 3......................................
रोमन लिपि	1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8, 9, 0..........

आज विश्व बौद्धिक समुदाय का एक बड़ा वर्ग हमारे वैदिक काल के समुन्नत ज्ञान को स्वीकार कर रहा है। हम भारतीय अपने महत्त्व को न भी समझ पायें हों या इसे स्वीकारने से हिचकिचाते हों पर विदेशियों ने न केवल हमारे ज्ञान को माना अपितु मुक्त कण्ठ से उसे स्वीकारते हुए उसकी प्रशंसा भी की। यथा—

फ्रेंच गणितज्ञ लैपलेक (Laplace) के अनुसार—

It is India that gave us the ingenious method of expressing all numbers by ten symbols, each symbol receiving a value of position, as well as an absolute value. We shall appreciate the grandeur of this achievement when we remember that it escaped the genius of Archimedes and Appolonius.

नवीं शताब्दी में अरब के गणितज्ञ—Al. Khwarizmi ने संस्कृत सीखकर अङ्कगणित पर एक किताब लिखी जिसमें उन्होंने भारतीय संख्या पद्धति को स्पष्ट किया। पुनः 12वीं शताब्दी में यही किताब लैटिन में 'Algoritimic de numero Indorum' के नाम से छपी। इस प्रकार हिन्द की यह संख्या पद्धति तेजी से सम्पूर्ण विश्व में प्रसारित होती गयी।

सूक्ष्मतर एवं बृहत्तर संख्याओं का बड़ा ही उन्नत स्वरूप वेदों, उपनिषदों, आरण्यकों, ब्राह्मणों, पुराणों रामायणादि धार्मिक ग्रन्थों तथा अन्य ग्रन्थों में प्राप्त होता है। ज्ञातव्य है कि एक ओर जहाँ ग्रीक वासी को चौथी सदी तक मैरायड Myraid (10^4) तथा रोम निवासी को पाँचवीं सदी तक मिली Milley (10^3) जैसी बड़ी संख्या तक का ही ज्ञान था, वहीं भारतीय मनीषियों को तल्लक्षणा (10^{53}), महौध (10^{60}) तथा असंख्येय (10^{140}), जैसी बृहत् संख्याओं का ज्ञान था। साथ ही काष्ठा (1/12) कला (1/16) जैसी सूक्ष्म संख्याओं का भी वे सहज ही प्रयोग किया करते थे। सम संख्या, विषम संख्या, श्रेणीक्रम (progression), सैन्य-गणना, काल गणना इत्यादि में प्रयुक्त सूक्ष्मतर और बृहत्तर संख्याओं का आधार भी संख्या पद्धति ही है।

प्राचीन काल से ही बड़ी-बड़ी विद्याओं यहाँ तक कि अध्यात्म एवं दर्शन जानने के लिए भी गणित विशेषकर अङ्कगणित का ज्ञान आवश्यक माना जाता रहा है। प्राचीन कथा है कि—नारद सनत् कुमार के पास गये। वे ब्रह्म विद्या के अभ्यर्थी थे। सनत् कुमार ने नारद की शिक्षा-दीक्षा-अध्ययन-ज्ञान के सम्बन्ध में जानने की इच्छा प्रकट की, जिसे नारद ने विस्तार पूर्वक बताया। उन्होंने अधीत विषयों और कलाओं के साथ-साथ ज्योतिष् और राशिविद्या के अध्ययन के विषय में प्रमुखता से बताया।

अङ्कगणित अथवा राशिविद्या के अध्ययन का महत्त्व केवल वैदिक वाङ्मय, साहित्य अथवा पौराणिक ग्रन्थों तक ही नहीं रहा। वस्तुतः यह आधारभूत और नियामक तथ्य रहा है कि आने वाली सभी विद्याओं, परम्पराओं, जन व्यवहार यहाँ तक कि अन्यान्य मत-पन्थों में भी इसका प्रयोग बड़े पैमाने पर हुआ है।

अब जैन साहित्य पर दृष्टि डालें। इस साहित्य के चार आयाम हैं जिन्हें अनुयोग कहा जाता है। चारों

अनुयोगों में से एक गणित अनुयोग के नाम से जाना जाता है। इसी प्रकार भगवती सूत्र में 'संख्यानम्' का अध्ययन प्रमुख माना जाता है।

बौद्ध साहित्य में भी अङ्कगणित के अध्ययन को कुछ अधिक ही प्रमुखता प्रदान की गयी है। विनय पिटक और मज्झिम निकाय में स्पष्ट रूप से उल्लिखित है कि—"अङ्कगणित सबसे अच्छी कला है।" महावीराचार्य ने अपनी पुस्तक 'गणितसार संग्रह'—(1.9.19) में अंङ्कगणित को सभी शास्त्रों का आधार स्तम्भ माना है। 'सभी शास्त्र, काव्य, व्याकरण, ज्योतिष्, इत्यादि अंङ्कगणित के ऊपर ही निर्भर हैं।' अतः अङ्कों और अङ्कगणित के समुचित ज्ञान के बिना इस सबका अध्ययन अधूरा है।

हम शास्त्रों में पाते हैं कि अङ्कगणित अध्ययन और शिक्षण की विशेष व्यवस्था और विशिष्ट परम्परा रही है। इसका अनुपालन बाल्यावस्था से ही कराया जाता रहा है। विख्यात राजनीतिशास्त्रज्ञ कौटिल्य ने उल्लेख किया है कि चूडाकर्म संस्कार के साथ ही वर्णमाला और अङ्कगणित का अध्ययन एवं शिक्षण निश्चित रूप से प्रारम्भ कर देना चाहिए।

अस्तु, अपने शास्त्रों के अनुसार भारतीय परम्परा में बालकों के लिए अङ्कगणित के शिक्षण की तीन पद्धतियाँ हैं—

लेख - वर्णमाला ज्ञान (Alphabets)

रूप - ललित कला (Drawing) क्षेत्रमिति (Mensuration)

गणना - अङ्कगणित (Arithmetic)

इसके लिए पाठ्यक्रम का भी निर्धारण किया गया था—

परिकम्म ववहारो रज्ज राशि कलास वन्ने य।
जावन्तावति वग्गो धनो ततह वग्गावग्गो विकत्पोत।। स्थानाङ्ग सूत्र : 747

परिकर्म, व्यवहार, रज्जु लेख (Rope), क्षेत्रमिति, राशि (त्रैराशिक) कलास वर्णन (Fraction), यावत्तावत (quatratic equation), वर्ग, घन, वर्गावर्ग विकल्प (क्रम चय सञ्चय)—

महान् भारतीय गणितज्ञ आर्यभट्ट ने ही 476 A.D. में प्रचलित वर्गमूल (Square foot) और घनमूल (Cube roots) के वर्तमान स्वरूप का आविष्कार किया —

भागं हरेदवर्गान्नित्यम् द्विगुणेन वर्गमूलेन।
वर्गाद्वर्गे शुद्धे लब्धं स्थानान्तरे मूलम्।।

शून्य (0) और दाशमिक प्रणाली (Dismal System)—

प्राचीन भारत का विश्व को सबसे बड़ा योगदान है—'शून्य' (0) शून्य और दाशमिक प्रणाली। यह अभिज्ञान सम्पूर्ण विश्व समुदाय के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। रोमन लिपि I, II, X, M,C इत्यादि के द्वारा एक सीमा तक ही संख्याओं को व्यक्त किया जा सकता था, बड़ी संख्याओं को व्यक्त करने में ये

अव्यावहारिक, कहीं-कहीं तो असफल सिद्ध हुई। परन्तु भारतीय दार्शनिकों ने अङ्कमाला (1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8, 9, 0) का आविष्कार कर दाशमिक प्रणाली विकसित की जिसमें प्रत्येक दसवाँ अङ्क एक नया आयाम प्रस्तुत करता है। अर्थात् गणना क्रम में हर दसवाँ स्थान एक पादान होता है। जैसे—1, 2, 3............9, 10 अथवा 11, 12,......19, 20। उसी प्रकार से किसी संख्या 5000 में 5 संख्या है और हजार इकाई है। शून्य का महत्त्व 501 जैसी या 1000078 जैसी संख्या लिखने में पता चलता है। जहाँ 5 और 1 के बीच '0' का स्थान अथवा 1 और 78 के बीच '0' का स्थान निर्धारित करना भले ही आज सामान्य सी बात लगती हो किन्तु इसके अन्वेषण की कल्पना वस्तुतः आश्चर्यजनक है। सच तो यह है कि इस प्रकार शून्य के स्थान निर्धारण की कल्पना आज भी विस्मयात्मक है। इसके साथ ही एक उल्लेखनीय बात यह भी है कि अंग्रज़ी में जिस अङ्कमाला को अरबी अङ्क (Arabian Numerals) कहते हैं, अरब के लोग उसे 'हिन्दसाँ' (हिन्द अर्थात् भारत से प्राप्त) कहते हैं।

हिन्द	अरब	लैटिन	अंग्रेजी
शून्य	सिफिर	जिफिर	जीरो
Shunya	Si-Fir	Ziffre	Zero

ऐसा देखा जाता है कि भारतीय संख्याओं का आधार दस (10) रहा है। इसी आधार पर बहुत बड़ी-बड़ी संख्याएं यथा—तल्लक्षणा, असंख्येय एवं बहुत सूक्ष्म संख्याएं यथा पाद, काष्ठा आदि का मान निर्धारित किया गया है। प्राचीन काल में संख्या पद्धति का निरूपण व्यवहार के अनुसार भिन्नता से मिलता है।

यजुर्वेद में अठारह अङ्कों तक की संख्या का उल्लेख मिलता है—

शत (100), सहस्र (1,000), अयुत (10,000), नियुत (100,000) प्रयुत (1,000,000) अर्बुद (10,000,000), न्यर्बुद (100,000,000), समुद्र (1,000,000,000), मध्य)10,000,000,000) अन्त (100,000,000,000), परार्द्ध (1,000,000,000,000)।

ठीक यही सारणी तैत्तिरीय संहिता में दो बार (4.40. 11.4 एवं 7.2.20.1) थोड़े बहुत अन्तर से मिलती है। मैत्रायणी 2.8.14, काठक 17.10 तथा पञ्चविंश ब्राह्मण (15.11.4) में यह सारणी उपलब्ध है।

जब इकाई के स्थान से आने वाले स्थान का मान दस गुणा हो तो उसे दस गुणोत्तर संख्या कहा जाता है जैसा कि भास्कराचार्य ने लिखा है।

परन्तु ललित विस्तर में शत गुणोत्तर संख्याओं का उल्लेख मिलता है। यहाँ प्रसिद्ध गणितज्ञ अर्जुन और राजकुमार गौतम (बोधिसत्त्व) के वार्तालाप को प्रस्तुत किया गया है। गणितज्ञ अर्जुन ने पूछाँ—गणना के क्रम में कोटि के आगे क्या है? क्या आप यह बता सकते हैं? बोधिसत्त्व ने आरम्भ किया—

100 कोटि	अयुत 10^9
100 अयुत	नियुत 10^{11}
100 नियुत	कङ्कर 10^{13}

100 कङ्कर	विकर 10^{15}
100 विकर	क्षौम्य 10^{17}
100 क्षौम्य	विवाह 10^{19}
100 विवाह	उत्संग 10^{21}
100 उत्सङ्ग	बहुल 10^{23}
100 बहुल	नागवल 10^{25}
100 नागबल	तितिलम्ब 10^{27}
100 तितिलम्ब	व्यवस्थान प्रज्ञप्ति 10^{29}
100 व्यवस्थान प्रज्ञप्ति	हेतुहिल 10^{31}
100 हेतुहिल	कराहु 10^{33}
100 कराहु	हेत्विन्द्रिय 10^{35}
100 हेत्विन्द्रिय	समप्रालम्भ 10^{37}
100 समप्रालम्भ	गणनगति 10^{39}
100 गणनगति	निरावाद्य 10^{41}
100 निरावाद्य	मुद्रावल 10^{43}
100 मुद्राबल	सर्वाबल 10^{45}
100 सर्वाबल	विषमज्ञप्ति 10^{47}
100 विषमज्ञप्ति	सर्वज्ञ 10^{49}
100 सर्वज्ञ	विभूतंगम 10^{51}
100 विभूतंगम	तल्लक्षणा 10^{53}

इस प्रकार तल्लक्षणा—10^{53}

शतगुणोत्तर के उदाहरणस्वरूप वाल्मीकि विरचित रामायण में युद्धकाण्ड का एक प्रसंग भी अति महत्त्वपूर्ण है। समुद्र पार तट पर वानर सेना की विशालता का वर्णन करते हुए वाल्मीकि ने निम्नलिखित श्लोकों में वानर सैनिकों की संख्या को स्पष्ट किया है।

शतं शत सहस्राणां कोटिमाहुः मनीषिणः। शतं कोटि सहस्राणां शङ्कुं इत्यभिधीयते।
शतं शङ्कुं सहस्राणां महाशङ्कु इति स्मृतम्। महाशङ्कु सहस्राणां शतं वृन्दमि होच्यते।।
शतं वृन्द सहस्राणां महावृन्दमिति स्मृतम्। महावृन्द सहस्राणां शतं पद्ममि होच्यते।।

शतं पद्मसहस्त्राणां महापद्ममिति स्मृतम्। महापद्म सहस्त्राणां शतं खर्वमि होच्यते।।
शतं खर्व सहस्त्राणां महाखर्वमिति स्मृतम्। महाखर्वसहस्त्राणां समुद्रमभिधीयते।।
शतं समुद्र साहस्त्रमोघ इत्यभिधीयते। शतमोघ सहस्त्राणां महौघा इति विश्रुतः।।
एवं कोटि सहस्त्रेण शङ्खानां च शतेन च। महाशङ्कुसहस्त्रेण तथा वृन्दशतेन च।।
महावृन्दसहस्त्रेण तथा पद्मशतेन। महापद्म सहस्त्रेण तथा खर्वशतेन च।।
समुद्रेण शतेनैव महौघेन तथैव च। एष कोटि महौघेन समुद्र सदृशेन च।।

रामायण के युद्ध काण्ड में वर्णित वानर सेना में उपस्थित वानरों का भी यदि आकलन किया जाय तो एक अविश्वसनीय परिभाषा, अविश्वसनीय परिणाम सामने आता है। सत्य कहा जाय तो आज कम्प्यूटर ही इतनी बड़ी संख्याओं को बता सकता है। यथा—

एक लाख	100 हजार	10^5, 10^5 कोटि	=	1 शङ्ख = 10^{12}
10^5 शङ्ख	1 महाशङ्ख	10^{17}, 10^5 महाशङ्ख	=	1 वृन्द = 10^{22}
10^5 वृन्द	1 महावृन्द	10^{27}, 10^5 महावृन्द	=	1 पद्म = 10^{32}
10^5 पद्म	1 महापद्म	10^{37}, 10^5 महापद्म	=	1 खर्व = 10^{42}
10^5 खर्व	1 महाखर्व	10^{47}, 10^5 महाखर्व	=	1 समुद्र = 10^{52}
10^5 समुद्र	1 औघ	10^{55}, 10^5 औघ	=	1 महौघ = 10^{60}

इस प्रकार कुल संख्या—

1000 कोटि + 100 शङ्ख + 1000 महाशङ्ख + 100 वृन्द + 1000 महावृन्द + 100 पद्म + 1000 महापद्म + 100 खर्व + 100 समुद्र + 100 महौघ + 1 कोटि महौघ =

$10^{10} + 10^{14} + 10^{20} + 10^{30} + 10^{34} + 10^{40} + 10^{44} + 10^{52} + 10^{62} + 10^{67}$

उपर्युक्त श्लोकों में समुचित इकाइयों के साथ-साथ संख्या पद्धति को, बड़े ही व्यवस्थित रूप में एवं एक बड़े परिमाण को उपस्थित किया गया है।

दशगुणोत्तर एवं शतगुणोत्तर के पश्चात् कोटि गुणोत्तर संख्या का उल्लेख और विवरण भारतीय ग्रन्थों में पायी जाने वाली संख्या पद्धति की प्रमुख विशेषता है।

अनुयोग द्वार सूत्र (5.142) में कोटि गुणोत्तर के उदाहरण विद्यमान हैं—

कोटि x कोटि	=	पकोटि 10^{14}
कोटि x पकोटि	=	कोटिप्पकोटि 10^{21}
कोटि x कोटिप्पकोटि	=	नहुष 10^{28}
कोटि x नहुष	=	निन्नाहुत 10^{35}

कोटि x निन्नाहुत	=	अक्षोभिनी 10^{42}
कोटि x बिन्दु	=	अब्बुद 10^{57}
कोटि x अब्बुद	=	निर्ब्बुद 10^{63}
कोटि x निर्ब्बुद	=	अहह 10^{70}
कोटि x अहह	=	अबब 10^{77}
कोटि x अबब	=	अतत 10^{84}
कोटि x अतत	=	सौगंधिका 10^{91}
कोटि x सौगंधिका	=	उप्पल 10^{98}
कोटि x उप्पल	=	कुमुद 10^{105}
कोटि x कुमुद	=	पुण्ड्रिका 10^{112}
कोटि x पुण्ड्रिका	=	पदुम 10^{119}
कोटि x पदुम	=	कथन 10^{126}
कोटि x कथन	=	महाकथन 10^{133}
कोटि x महाकथन	=	असंख्येय 10^{140}

वैदिक साहित्य में संख्या पद्धति का प्रयोग फलन (Function) के रूप में भी किया गया है। यह अत्यन्त विशिष्ट प्रसंग है। तैत्तिरीयोपनिषद् की यह संख्या सारणी वस्तुतः शतगुणोत्तर है परन्तु कथनानुक्रम में इसे घातीय समीकरण का रूप मिल गया है। यहाँ जीवन का परम लक्ष्य 'ब्रह्मानन्द' की प्राप्ति हेतु 11 पादान प्रस्तुत किये गये हैं जो भौतिक जीवन से आध्यात्मिक जीवन तक चलते हैं। अगला आनन्द बीते आनन्द से 100 गुणा बड़ा होता है।

स एको मानुष आनन्दः। ते ये शतं मानुषा आनन्दाः। स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः। स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः। शतं देवगन्धर्वणामानन्दाः। ते ये शतं पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दः। ते ये शतं पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दाः। स एक आजानजानां देवानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामह..........तेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः।.......स एकोब्रह्मण आनन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

अन्नानन्द x 100	=	मानुष आनन्द	10^2
मानुषानन्द x 100	=	मनुष्यगन्धर्व आनन्द	10^4
मनुष्यगन्धर्व आनन्द x 100	=	देवगन्धर्व आनन्द	10^6

देवगन्धर्व आनन्द x 100	=	पितृ आनन्द	10^8
पितृ आनन्द x 100	=	देव आनन्द	10^{10}
देव आनन्द x 100	=	कर्मदेव आनन्द	10^{12}
कर्मदेव आनन्द x 100	=	एकदेव आनन्द	10^{14}
एकदेव आनन्द x 100	=	इन्द्रदेव आनन्द	10^{16}
इन्द्रदेव आनन्द x 100	=	बृहस्पति आनन्द	10^{18}
बृहस्पति आनन्द x 100	=	प्रजापति आनन्द	10^{20}
प्रजापति आनन्द x 100	=	ब्रह्मानन्द	10^{22}

अतः ब्रह्मानन्द को प्राप्त करने के लिए अन्न आनन्द से 11 पादान ऊपर, जिसमें प्रत्येक आनन्द अपने पिछले आनन्द से 100 गुणा बड़ा है, तक निश्चित क्रम का पालन करते हुए जाना जाता है। अन्ततः—

अन्नानन्द x 10^{22} = ब्रह्मानन्द।

अस्तु, संख्याओंके नामकरण एकं द्वे त्रीणि चत्वारि............दश, आदि से हम पूर्ण परिचित हैं, एवं इसका उल्लेख हो चुका है। डॉ० नटवर झा के अनुसार—'लगभग सभी प्राचीन भारतीय भाषाओं और ग्रन्थों में संख्याओं को इसी नाम से जाना जाता है। (यहाँ तक कि सिन्धु सभ्यता में भी) लेकिन लिपि अथवा निरूपण की विधि भिन्न-भिन्न है।

हम देखते हैं कि सामान्यतः संख्या लेखन में इकाई का स्थान पहला होता है। जैसे—द्वादश (द्वि-दश) में द्वि जो इकाई के स्थान पर है उसका उल्लेख पहले है, किन्तु वैदिक साहित्य में बड़ी संख्याओं के लिए दहाई का स्थान पहला होता है-

त्रीणि शतानि त्रिसहस्राणि त्रिंश च नव च 3339 ऋ० वे० 3.9.9. / 10.52.6

प्राचीनतम ग्रन्थों यथा यजुर्वेद (वाजसनेयि संहिता) में सम और विषम संख्याओं की अद्भुत शृङ्खला का उल्लेख है। यमक अध्याय के अनुसार—

विषम संख्या—**एका च मे, तिस्रश्च मे पञ्च च मे सप्त च मे नव च मे एकादश च मे त्रयोदश च मे पञ्चदश च मे सप्तदश च मे नवदश च मे एकविंशतिश्च मे त्रयोविंशतिश्च मे पञ्चविंशतिश्च मे सप्तविंशतिश्च मे नवविंशतिश्च मे एकत्रिंशच्च मे त्रयस्त्रिंशच्च मे।** यजु० 18.24

1, 3, 5, 7, 9, 11, 13, 15, 17, 19, 21, 23, 25, 27, 29, 31, 33

सम संख्या शृङ्खला—**चतस्रश्च मेऽष्टौ च मे द्वादश च मे षोडश च मे विंशतिश्च मे चतुर्विंशतिश्च मेऽष्टाविंशतिश्च मे द्वात्रिंशच्च मे षटचत्रिंशच्च मे चत्वारिंशच्च मे चतुश्चत्वारिंशच्च मेऽष्टाचत्वारिंशच्च मे**..............— यजु० 18.25

4, 8, 12, 20, 24, 28, 32, 36, 40, 44, 48।

संख्या के विभिन्न प्रयोग—

महाभारत एवं रामायण आदि प्राचीन ग्रन्थों में सेना की गणना और विभिन्न भागों में विभाजन के लिए संख्या का अत्याधुनिक प्रयोग मिलता है। महाभारत के अनुसार एक अक्षौहिणी में—21870 रथ, 21870 हाथी, 65610 घोड़े, 10,9350 पदाति होते हैं।

एको रथो गजश्चैको नराः पञ्च पदातयः। त्रयश्च तुरगास्तज्ज्ञैः पत्तिरित्यभिधीयते।।

पत्तिं तु त्रिगुणामेतामाहुः सेनामुखं बुधाः। त्रीणि सेनामुखान्येको गुल्म इत्यभिधीयते।

त्रयो गुल्मा गणो नाम वाहिनी तु गणास्त्रयः।। स्मृतास्तिस्त्रस्तु वाहिन्यः पृतनेति विचक्षणैः।।

चमूस्तु पृतनाः तिस्त्रश्चम्वस्त्वनीकिनी। अनीकिनीं दशगुणां प्राहुरक्षौहिणीं बुधाः।।

आदिपर्व—2 (19, 20, 21, 22)

एक रथ, एक हाथी, तीन घोड़े, पाँच पैदल सैनिकों को एक पति कहा जाता है। तीन पति = एक सेनामुख, तीन सेनामुख = एक गुल्म, तीन गुल्म = एक गण, तीन गण = एक वाहिनी, तीन वाहिनी = एक पृतन, तीन पृतन = एक चमू और तीन चमू से एक अनीकिनी और तीन अनीकिनी से एक अक्षौहिणी बनती है।

अक्षौहिणी सारणी—

एक पति = 1 रथ + 1 हाथी + 3 घोड़े + 5 पैदल सैनिक

एक सेनामुख = 3 पति = 3 + 3 + 9 + 15

एक गुल्म = तीन सेनामुख = 9 + 9 + 27 + 45

एक गण = तीन गुल्म = 27 + 27 + 85 + 135

एक वाहिनी = तीन गण = 81 + 81 + 243 + 405

एक पृतन = तीन वाहिनी = 243 + 243 + 729 + 1215

एक चमू = तीन पृतन = 729 + 729 + 2187 + 3645

एक अनीकिनी = तीन चमु = 2187 + 2187 + 6561 + 10,935

एक अक्षौहिणी = दस अनीकिनी = 21870 + 21870 + 65610 + 10,9350

आज भी बड़ी संख्या वाली सेना को नियन्त्रित करने के लिए यही पद्धति अपनायी जाती है। हमारे यहाँ समय की गणना हेतु भी संख्या पद्धति का प्रयोग दृष्टिगत होता है। खगोलीय परीक्षण और गणन विधि का वर्णन महाभारत में भी प्राप्त है। इसमें समय के विभाजन की माप, समय की इकाई के रूप में वर्णित है। शान्ति पर्व में इसका स्पष्ट उदाहरण है—

काष्ठा निमेषा दश पञ्च चैव। त्रिशंत्तु काष्ठां गणयेत् कलां ताम्।

त्रिंशत्कलाश्चापि भवेतन्मुहूर्तो भागः कलाया दशमश्च यः स्यात्।

त्रिशन्मुहूर्तन्तु भवेदहश्च रात्रिश्च संख्या मुनिभिः प्रणीता।
मासः स्मृतो रात्र्यहनी च त्रिंशत् संवत्सरो द्वादशमास उक्तः।।
संवत्सरे द्वे त्वयने वदन्ति संख्या विदो दक्षिणमुत्तरं च।।

शान्तिपर्व—231 (2, 3, 4)

भारतीय मनीषियों ने एक विशेष पद्धति से समय की इकाई का मान दर्शाया है। लगभग 15 या 18 पलक को काष्ठा, तीस काष्ठा को कला, तीस कला को मुहूर्त, तीस मुहूर्त का एक दिन और रात, तीस दिन का एक महीना, एवं बारह महीने का एक साल माना गया है।

वेदों में संख्या लेखन-

वेदों को श्रुति कहा जाता है लेकिन वैदिक लोग लिखने के अभ्यस्त थे यह भी सत्य है। वशिष्ठ धर्म सूत्र ऋग्वेद की शाखा का एक अङ्ग है, जिसमें संख्या लेखन का उल्लेख मिलता है—

सहस्रं मे ददतो अष्टकर्ण्यः ऋग्वेद 10.62.7 अर्थात् दान में ऐसी गायें दी जायें जिनके कान पर आठ लिखा हुआ हो। इस विषय पर हुए सन्देह का निवारण पाणिनि विरचित अष्टाध्यायी के सूत्र से हो जाता है। **सूत्र है**—'कर्णो वर्णलक्षणात् (6.2.112 और 6.3.115) पाणिनि विरचित यह सूत्र भी इस बात की पुष्टि करता है कि आदि काल में लोग अपने पशुओं की पहचान के लिए उसके कानों को चिह्नित किया करते थे अथवा अक्षरों को लिखा करते थे, जैसे—दात्राकर्णः, शङ्कुकर्णः आदि। उसी तरह आठ लिखे कान को 'अष्टाकर्णः' कहा करते थे। अतः स्पष्ट है कि आदि काल में भी लोगों को लिखने की कला ज्ञात थी जिसकी पुष्टि पाणिनि ने की है। मैत्रायणी संहिता में इस विषय पर एक अलग अध्याय ही है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि वैदिक ऋचाओं में जिस प्रकार भिन्न-भिन्न संख्याओं की महत्ता प्रस्तुत की गयी है, उसी प्रकार संख्या लेखन के सम्बन्ध में भी साक्ष्य प्राप्त होते हैं। जिससे कहा जा सकता है कि वैदिक लोग संख्या-वाचन एवं संख्या लेखन दोनों ही कलाओं में दक्ष थे। हमारे इस प्राचीन गणितीय ज्ञान की महत्ता विश्व भर में अपनी सुरभि फैला रही है। तभी तो अलबर्ट आइन्सटाइन (Albert Einstein) जैसे प्रसिद्ध आधुनिक वैज्ञानिक ने भी मुक्त कण्ठ से भारत की प्रशंसा करते हुए कहा है—

We owe a lot to the Indians, who taught us how to count, without which no worth while scientific discovery could have been made.

बौधायन का ज्यामिति विज्ञान

डॉ० महेन्द्र कुमार मिश्र *

ज्यामिति विज्ञान की उत्पत्ति, भारतवर्ष में वैदिक यज्ञ वेदियों के निर्माण के प्रसङ्ग में हुई। वैज्ञानिक गणित का यह विज्ञान भारत का ही है। इस का विकास जिस प्रयोजन से हुआ वह भी ऐतिहासिक है। यज्ञ से भारत में चतुर्दिक संस्कृति और सभ्यता विकसित हुई, यह भी विवादित विषय नहीं है। यज्ञ प्रमुखतया नित्य और काम्य दो प्रकार के होते थे। यज्ञ वेदादि विहित ग्रन्थों के विधि-निषेध के अनुसार किया जाना फलप्राप्ति के लिए अनिवार्य था। वेदादि प्रामाणिक ग्रन्थों में विविध प्रकार की वेदियाँ विहित हैं। नित्य अनिवार्य यज्ञ की तीन अग्नि या वेदी थीं—गार्हपत्य, आहवनीय तथा दक्षिण। ऋतु या अवधि विशेष के यज्ञ हव्य के आधार पर तीन वर्गों में बाँटे गये—इष्टियज्ञ, पशुयज्ञ तथा सोमयज्ञ। यज्ञ वेदी निर्माण में प्रमुख उपकरण शुल्व या रज्जु थी। शुल्व मापन हेतु प्रयुक्त होने वाली रस्सी विशेष थी।[1] कालान्तर में शुल्व चार अर्थों में प्रयोग होने लगा—क्षेत्रमिति (नापने की क्रिया), रेखा या सतह (मापन का फल), मापने का एक यन्त्र तथा ज्यामिति (नापने का विज्ञान)। वैदिक साहित्य में तीन प्रकार के पैमाने थे—रेखाओं, सतह और आयतन मापने के। तीनों पैमानों के लिए रज्जु शब्द का प्रयोग मिलता है। वैदिक शुल्व सूत्र ग्रन्थों में 'रज्जु' मापने का फीता कहा जा सकता है। मानव और मैत्रायणी शुल्व सूत्रों में ज्यामिति विज्ञान को शुल्व विज्ञान कहा गया है। गणितीय विविध शाखाओं के विशेषज्ञों को भिन्न नाम प्रदान किये गये हैं, जैसे संख्यक (संख्याविद्) परिमापज्ञ, समसूत्र निरञ्चक, शुल्वविद् (ज्यामितिज्ञ), शुल्व परिपृच्छक (पड़तालक)।[2]

शुल्वसूत्र वे वैदिक साहित्य हैं जो कल्प तथा श्रौत सूत्र ग्रन्थों के खण्ड हैं जो वेद के षडङ्गों में एक हैं। अभी तक सात शुल्व ग्रन्थ प्राप्त हो सके हैं। इनमें बौधायन, आपस्तम्ब, कात्यायन के सूत्र ग्रन्थ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं इनमें भी बौधायन शुल्व सूत्र सर्वाधिक प्राचीन और ज्यामितिक है। यद्यपि बौधायन आदि ने यह दावा कहीं नहीं किया है कि वे ज्यामितीय सिद्धान्तों के संस्थापक हैं। बौधायन अपनी प्रस्थापनाओं में अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थों का स्पष्ट उल्लेख करते हैं।[3]

---

* रीडर, संस्कृत विभाग, श्री वार्ष्णेय महाविद्यालय, अलीगढ़, उत्तरप्रदेश

ऋग्वेद में ज्यामिति–

ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राप्त ज्यामिति का प्रेरक प्रमुखतः ऋग्वेद है। जिसमें तीन अग्नि स्थानों (त्रिरुधस्थे) का उल्लेख है जो पूर्वोक्त तीनों अग्नियाँ ही हैं जिनका सम्बन्ध तीन प्रकार की यज्ञ वेदियों से है। यथा— गार्हपत्याग्नि की वेदी गोलाकार, आहवनीय की वेदी वर्गाकार और दक्षिणाग्नि की वेदी अर्द्धवर्तुलाकार होनी चाहिए। शुल्व सूत्रों के अनुसार प्रत्येक वेदी का क्षेत्रफल एक जैसा और एक वर्ग व्याम[4] होना चाहिए। यहां यह तथ्य उल्लेखनीय है कि वृत्त को वर्गाकार करने और कर्ण पर वर्ग बनाने की समस्या अपने सरल रूप में ऋग्वेद कालीन अवश्य सिद्ध होती है।[5] यहाँ यह तो स्पष्ट ही है कि ऋग्वेद में निश्चित ही ज्यामितिक संरचना के स्वरूप अवश्य थे। उनके सापेक्ष आकार भी थे। ज्यामितिज्ञ अग्निचित् या अग्निवेदी निर्माता कहे जाते थे। ऋग्वेद में वेदी निर्माण के अनेक उल्लेख प्राप्त हैं।[6]

शतपथ ब्राह्मण और वेदियों का निर्माण–

एकवर्ग व्याम (पुरुष) जितना वृत्त होने का, और आहवनीय के उतने ही आकार का वर्ग होने का पृथक् स्पष्ट उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में प्राप्त होता है। यह गार्हपत्य वेदी अर्धव्यास में एक व्याम एक पुरुष के समान ऊंचा होता है। प्रजापति अग्नि अपने आकार के बराबर ही योनि (वर्तुलाकार) को बनाता है।[7] आहवनीय यज्ञ की वेदी आकार में समद्विबाहु समलम्ब चतुर्भुज आकार की होती है। इसमें फलक, आधार और लम्ब क्रमशः 24, 30 और 36 पद होते हैं। यहां यह उल्लेखनीय है कि बिन्दु निश्चित करने के लिए शङ्कुओं का प्रयोग किया जाता था।[7]

ज्यामितिक संक्रियायें–

पूर्व विवेचित गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिण यज्ञ वेदियों को क्रमशः वर्तुल, वर्गाकार एवं अर्द्धवर्तुलाकार होते हुए तीनों का क्षेत्रफल एक वर्ग व्याम होना चाहिए। इन वेदियों के निर्माण हेतु निम्न ज्यामितिक संक्रियाओं का ज्ञान अपेक्षित होगा। यथा—

क. दी हुई सरल रेखा पर वर्ग बनाना।

ख. वर्ग का वृत्त और वृत्त का वर्ग बनाना।

ग. वृत्त को दूना करना, एतदर्थ करणी 1/2 का ज्ञान आवश्यक है। अथवा एक वर्ग को दो गुना करके वृत्त बनाने की विधि से भी यह सम्भव हो सकेगा। इससे यह प्रस्थापित हो सकेगा कि किसी वर्ग के विकर्ण पर बने वर्ग का क्षेत्रफल उस वर्ग से दूना होता है।

सौत्रामणि यज्ञ वेदी एक समद्विबाहु समलम्ब चतुर्भुज कही गयी है। यद्यपि महावेदी भी ऐसी ही होती है जिसका फलक 24 पद, आधार 30 पद, लम्ब 36 पद होता है। सौत्रामणि वेदी महावेदी की 1/3 होती है तथा

पैत्रिकी वेदी सौत्रमणि की 1/9 भाग होती है। इस आयताकार वेदी निर्माण में निम्न ज्यामितिक संक्रियाएं होती हैं—

1. दी गयी भुजाओं वाला आयत बनाना।

2. दिये गये फलक, आधार और लम्ब वाला समद्विबाहु समलम्ब चतुर्भुज बनाना।

3. समद्विबाहु समलम्ब चतुर्भुज का क्षेत्रफल ज्ञात करना।

4. ऐसा समद्विबाहु समलम्ब चतुर्भुज बनाना जिसका क्षेत्रफल ऐसे ही दूसरे चतुर्भुज के सरल अपवर्त्य या अपवर्तक के बराबर होगा।

बौधायन शुल्व सूत्र की ज्यामितिक अवधारणायें-

डॉ० विभूति भूषण दत्त ने भी ऐसी कुछ ज्यामितिक अभिधारणाओं की चर्चा की है। जो शुल्व के ज्यामितिज्ञों द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार कर ली गई थी। बौधायन के शुल्व की ये अभिधारणाएँ विविध त्रिभुज, आयत, वर्ग, रेखा आदि आकृतियों के विभाजन से सम्बन्धित हैं। ऐसी अभिधारणाएँ निम्न प्रकार की हैं, यथा—

1. दी गयी निश्चित सरल रेखा को कितने ही समान भागों में बांटा जा सकता है।[9]

2. अर्द्धव्यास खींचकर वृत्त को कितने ही भागों में विभाजित किया जा सकता है।[10]

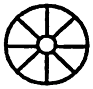

3. आयत का हर विकर्ण उसे दो भागों में बांटता है।

4. आयत के विकर्ण परस्पर एक दूसरे को बराबर-बराबर बांटते हैं और आयत को चार भागों में बांटते हैं। जिसमें आमने-सामने के त्रिभुज सर्वाङ्गसम होते हैं।

यह धारणा वर्ग के विषय में भी सत्य है।[11]

5. समचतुर्भुज के विकर्ण एक-दूसरे को समकोण पर काटते हैं।

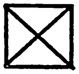

6. भुजाओं को बराबर संख्या में बांट कर तदनु दो-दो विभाजक बिन्दुओं को जोड़कर एक त्रिभुज को कई और एक से बराबर भागों में बाँटा जा सकता है।[12]

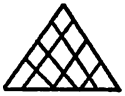

7. शीर्ष को आधार के मध्य बिन्दु से जोड़कर एक समद्विबाहु त्रिभुज को बराबर भागों में बांटा जा सकता है।[13]

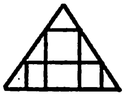

8. वर्ग की किसी भुजा के छोरों को सामने की भुजा के मध्य बिन्दु से मिलाने पर जो त्रिभुज बनता है वह वर्ग के आधे के बराबर होता है।

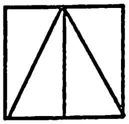

9. वर्ग की भुजाओं के मध्य बिन्दुओं को मिलाने से बना चतुर्भुज वर्ग होता है। इसका क्षेत्रफल मूल वर्ग का आधा होता है।

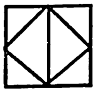

10. एक आयत की भुजाओं के मध्य बिन्दुओं को मिलाने से बना चतुर्भुज सम चतुर्भुज होता है उसका क्षेत्रफल आयत के क्षेत्रफल का 1/2 होता है।

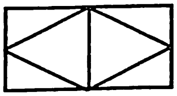

11. एक ही आधार पर और उन्हीं के समानान्तर रेखाओं के बीच बने समानान्तर चतुर्भुज और आयत परस्पर बराबर होते हैं।[14]

बौधायन के सूत्र में पक्षी जैसे आकार की विभिन्न वेदियों के बनाने के वर्णन प्राप्त हैं।[15] इनका ज्यामितिक आधार उपर्युक्त अवधारणायें भी हैं।

12. किसी वृत्त के अन्दर बने सबसे बड़े वर्ग के कोने वृत्त की परिधि में होंगे।[16]

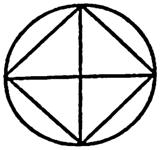

बौधायन की ज्यामितिक रचनायें-

कुछ महत्त्वपूर्ण ज्यामितिक रचनायें जो उनके शुल्व सूत्र में प्राप्त होती हैं, निम्नलिखित हैं—

1. दी गई भुजा पर वर्ग बनाना।[17]

इस प्रकार का वर्ग बनाने हेतु चार शुल्वरचना विवरण प्राप्त होते हैं—

क. वर्ग की दी गयी भुजा से दोगुनी रज्जु लेकर दोनों सिरों पर गांठ बाँध उसके मध्य को चिह्नित कर लिया जाय। रस्सी के आधे भाग से वर्ग के पूर्व से पश्चिम चौड़ाई माप कर दूसरे आधे भाग में पश्चिमी सिरे से इसकी चौड़ाई से कम दूरी पर चिह्न लगाया जाय। पूर्व से पश्चिम की चौड़ाई के दोनों सिरों पर गांठ लगाकर रस्सी को न्यंछन चिह्न से दक्षिणी ओर ले जाया जाय। इसी प्रकार वर्ग के दोनों पूर्वी और पश्चिमी कोनों पर रस्सी के दूसरे आधे भाग के मध्य चिह्न बनाने चाहिये।[18]

इस प्रकार के वर्ग बनाने हेतु आपस्तम्ब और कात्यायन ने भी विधियां प्रदान की हैं।[19]

2. दी गयी भुजा पर आयत बनाना।[20]

दी गयी भुजा पर आयत बनाने के लिये धरती पर चाही गयी दूरी पर दो खम्भे गाड़ कर खम्भों के

प्रत्येक ओर आगे और पीछे उससे बराबर की दूरी पर दो अन्य खम्भे गाड़ दें। तदनु आयत की चौड़ाई के बराबर रस्सी ले उसके दोनों छोरों पर गांठ लगा मध्य में निशान लगायें।

पूर्वी खम्भे के दोनों ओर के खम्भों में दोनों गांठों को बांध कर रज्जु को निशान लगे स्थान पर से दक्षिण की ओर खींचे। जहाँ रज्जु का निशान धरती को छुए वहां चिह्न लगायें। तदनु दोनों गाठों को बीच के खम्भे से बांध कर रस्सी के निशान पर से दक्षिण चिह्न की ओर ले जाना चाहिये और चिह्न पर खम्भा लगा दें। यह आयत का दक्षिण पूर्वी कोना होगा। इसी प्रकार उत्तरपूर्वी कोना और पश्चिमी कोना भी निर्धारित हो सकेगा।

3. दिये गये आधार, फलक और शीर्ष लम्ब पर समद्विबाहु समलम्ब चतुर्भुज बनाना।[21]

बौधायन ने इस रचना हेतु दी हुई भुजा वाले आयत की पूर्व रचना की भाँति ही विधि बताई है। केवल आधार और फलक के किनारे तय करने के लिए अलग-अलग आकार वाली रस्सियों का प्रयोग बताया है। आपस्तम्ब ने महावेदी के निर्माण हेतु इस रचना की चर्चा की है।

क्षेत्रों को मिलाये जाने की संक्रियायें-

बौधायन ने ज्यामितिक चार संक्रियाओं का उल्लेख किया है—

1. दिये गये वर्ग के दो गुने के बराबर वर्ग बनाना।
2. दिये गये वर्ग के नौवे भाग के बराबर वर्ग बनाना।
3. दो भिन्न वर्गों के योग के बराबर वर्ग बनाना।
4. दो अलग-अलग वर्गों के अन्तर के बराबर वर्ग बनाना।

प्रथम संक्रिया की प्रस्तावना का हल दी हुई भुजाओं वाले वर्गों और आयतों की रचना पर ही निर्भर है। पैथेगोरस की प्रमेय से आज हम जानते हैं कि दिये हुए वर्ग के विकर्ण पर बने वर्ग में उससे दो गुना क्षेत्रफल होगा। दिये गये वर्ग से तीन गुना वर्ग बनाने के लिए कहा गया है कि "एक ऐसा आयत बनायें जिसकी चौड़ाई दिये गये वर्ग की एक भुजा के नाप की हो तथा लम्बाई उसे दूना करने वाले विकर्ण के बराबर होगी। इस आयत का विकर्ण तीन गुना वर्ग बनाने वाला होगा।[22] इसी संक्रिया को कितनी ही बार दुहराया जा सकता है। जिससे चार-पांच या छः गुने वर्ग भी बनाये जा सकते हैं। यथा—$1^2 + 1^2 = 2$ विकर्ण /2 दो गुना बनाने वाला है तथा $1^2 + (/2) = 3$ विकर्ण /3 तीन गुना बनाने वाला है। $1^2 + (/3)^2 = 4$ विकर्ण /4 गुना। यहां यह भी स्पष्ट है कि दिये गये वर्ग की भुजा का दूना माप इसे चार गुना बनाने वाला है। तिगुना माप नौगुना तथा चार गुना माप 16 गुना बनाने वाला है। रज्जु में जितनी इकाइयां हैं उस समय के वर्गों की उतनी पंक्तियां उस रस्सी की भुजा पर बने वर्गों की बनाई जा सकेंगी, उनको संचित करना पड़ेगा।[23]

दूसरे सञ्चय में दिये गये वर्ग के नौवें भाग के बराबर वर्ग बनाने के लिए बौधायन कहता है कि दिये

गये वर्ग के तिगुने वर्ग की रचना करने पर तिहाई भाग का जनक (वर्ग की तृतीय करणी) है जो क्षेत्र का 9वां हिस्सा होती है।[24] बौधायन की इस स्थापना पर असहमति हो सकती है। एतदर्थ यह आवश्यक होगा कि दिये गये वर्ग के बराबर वर्ग बनाकर वर्ग की भुजा को तीन बराबर भागों में बांट देने पर, इनमें से किसी हिस्से पर बना वर्ग प्रदत्त वर्ग के तिहाई के बराबर होगा। कपर्दि स्वामी[25] भी इसी मत का समर्थन करते हैं। कात्यायन स्वीकार करते हैं कि दिये गये वर्ग की भुजा का तिहाई भाग इसके नवें हिस्से को बना देता है।

दो भिन्न वर्गों के योग के बराबर वर्ग बनाने हेतु बौधायन कहते हैं कि दो भिन्न वर्गों का योग करने के लिए बड़े वर्ग में से आयताकार भाग काट लो जिसकी एक भुजा छोटे वर्ग वाली हो, इस काट का विकर्ण वांछित वर्ग की एक भुजा होगी।[26]

दो भिन्न वर्गों के अन्तर के बराबर वर्ग बनाने के लिए किसी वर्ग में से एक अन्य वर्ग घटाने के लिए बड़े वर्ग में से जो घटना है उसकी भुजा से एक आयताकार खण्ड काट लो। इस खण्ड की बड़ी भुजा से दूसरी भुजा की ओर विकर्ण खींच लो। जहाँ यह दूसरी भुजा पर पड़ती है उसे काट लो। कटे हुए भाग से घटती पूरी हो जाती है।[27]

क्षेत्रों का रूपान्तरण[28]–

बोधायन ने 6 क्षेत्र रूपान्तरण की क्रियाओं का उल्लेख किया है—1. आयत को वर्ग में बदलना। 2. वर्ग को आयत में बदलना। 3. वर्ग को ऐसे आयत में बदलना जिसकी एक भुजा दी गई हो। 4. एक वर्ग या आयत को ऐसे समद्विबाहु समलम्ब चतुर्भुज में बदलना जिसका फलक दिया गया हो। 5. वर्ग या आयत को त्रिभुज में बदलना। 6. वर्ग या आयत को समचतुर्भुज में बदलना।

पिरामिड छिन्नक का आयतन और बौधायन–

श्मशानचित् अथवा शवाधान सदृश अग्निवेदी वस्तुतः एक पिरामिड के छिन्नक जैसी ही होती है। इस वेदी के आधार में समद्विबाहु समचतुर्भुज होता है। बौधायन ने अपने श्रौत सूत्र में इसका आकार निम्नवत् कहा है—श्मशानचित्वेदी में पूर्व-पश्चिम रेखा की दूरी छः पुरुष होती है। पूर्वी दिशा की लम्बाई तीन पुरुष और पश्चिम रेखा की दो पुरुष होती है। यहां उल्लेखनीय है कि उक्त पुरुष मापक इकाई 120 अङ्गुल की नहीं है अपितु यह एक छोटी इकाई है जो सामान्य वर्ग पुरुष के आधे के बराबर वर्ग की एक भुजा के समान होती हे।

अग्नि वेदी की ऊंचाई में यह वचन महत्त्वपूर्ण है कि यह पूर्व में गरदन तक गहरी होने पर पश्चिम में नाभि तक गहरी अथवा पूर्व में नाभि तक गहरी होने पर पूर्व में घुटनों तक गहरी होती है। अग्निवेदी के दोनों ओर ऊंचाई में यह अन्तर होने पर भी इसका घनफुट क्षेत्र वैसा ही रखा जाता है। वेदी की सामान्य ऊर्ध्वाधर माप उसका पांचवां भाग और बढ़ा देनी होगी। कुल ऊंचाई को तीन भागों में बांटकर इनमें से दो हिस्से के

चौथाई, नवें या 14वें भाग के बराबर ईंटों की 4, 9 या 14 पर्तें बनाई जाती हैं। पिरामिड छिन्नक का आयतन निकालने की विधि का यह सूत्र निम्न प्रकार होगा—अगर घन के आयत आधार की लम्बाई और चौड़ाई (क' ख') हो, (क ख) इसके समानान्तर फलक की संवादी भुजायें हों और ऊंचाई ह' हो तो छिन्नक का आयतन होगा—

$$\left(\frac{क + क'}{2}\right)\left(\frac{क + ख'}{2}\right) ह \text{ होगा।}$$

बौधायन की पैथेगोरस के प्रमेय की खोज–

ज्यामिति का सर्वाधिक प्रचलित यह प्रमेय पैथेगोरस के प्रमेय के नाम से प्रसिद्ध है। यह विकर्ण के वर्ग का प्रमेय है। इस सम्बन्ध में बौधायन का विवरण इस प्रकार है **'दीर्घचतुरस्रस्याक्ष्णयाः रज्जुः पार्श्वमानी तिर्यक्मानी च यत्पृथग्भूते कुरुतस्तदुभयं करोति।** (बौ० शु० 1/48) अर्थात् एक आयत का विकर्ण उतना ही क्षेत्र इकट्ठा बनाता है जितनी उसकी लम्बाई और चौड़ाई अलग-अलग बनाती है। आपस्तम्ब (1/4) तथा कात्यायन (2/11) में भी प्रायः यही कहा गया है। बौधायन के प्रमेय को निम्न प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है, "किसी आयत के विकर्ण पर बने हुए वर्ग का क्षेत्रफल उसकी दोनों भुजाओं के ऊपर बने वर्गों के क्षेत्रफल के योग क्षेत्र के बराबर होता है। यद्यपि यह प्रमेय आयत के सम्बन्ध में है तथापि बौधायन का कहना है कि वर्ग का विकर्ण उसका दुगना क्षेत्रफल बनाता है। (बौ० शु० 1/45, आप० 1/5, काव्या 2/12) बौधायन ने इस प्रमेय की परीक्षा भी प्रस्तुत की है। (1/49)

इसके अतिरिक्त बौधायन ने वृत्त को वर्ग में बदलने के लिये वैकल्पिक विधि बताते हुए कहा है कि 'व्यास को 15 भागों में बांट कर उनमें से दो को अलग करें, यह वर्ग की एक भुजा के बराबर मूल्य का होगा। (बौ० 1/60, आप० 3/3, काव्या० 3/14) गणितीय भाषा में।

$$2\,क = घ - \frac{2}{15}घ$$

बौधायन ने 2 के वर्ग मूल का मूल्य भी बताने का प्रयास किया है। (बौ० 1/61-62, आप० 1/6) माप को (जिसको द्विकरणी का पता लगाना है) एक तिहाई और बढ़ाकर इस 1/3 के चौथाई भाग में इसी 1/4 भाग के 34वें भाग को कम करके और जोड़ दिया जाय तो प्राप्त मूल सविशेष होगा। गणितीय भाषा में इसे कहा जा सकता है कि अगर क की द्विकरणी घ है अर्थात् अगर घ किसी ऐसे वर्ग की भुजा है जिसका क्षेत्रफल क पर बने वर्ग का दो गुना है तो इस नियम के अनुसार—

$$घ = क + \frac{क}{3} + \frac{क}{3.4} + \frac{क}{3.4.34}$$

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वर्ग का विकर्ण इसकी द्विकरणी होता है। यह वर्ग की भुजा और विकर्ण

के बीच सम्बन्ध भी बताता है। इस प्रकार $2 = 1 + \frac{1}{3} + \frac{1}{3.4} - \frac{1}{3.4.34}$ यहाँ सविशेष शब्द बढ़े हुए माप के लिए प्रयुक्त पारभाषिक शब्द है। (बौ० शु० सूत्र, पृ० 13)

इस प्रकार स्पष्ट है कि ज्यामिति सम्बन्धी अनेक अभिधारणाओं की स्थापना का श्रेय बौधायन एवं उनके शुल्व सूत्र को जाता है। ये पहले आचार्य थे जिन्होंने पैथेगोरस से पर्याप्त काल पूर्व ही में विकर्ण के वर्ग की प्रमेय को समझा और प्रस्तुत किया तथा उस प्रमेय के विभिन्न उपयोग भी बताये। उन्होंने ही पहली बार वर्गमूल 2 (/2) जैसी संख्याओं की परिमेयता को प्रस्तुत किया जो लगभग परिशुद्ध मूल्य था। उन्होंने वृत्त को वर्ग तथा वर्ग को वृत्त बनाने की निर्मेय का भी समाधान किया। त्रिभुज, आयत और समलम्ब चतुर्भुज जैसी ज्यामितिक आकृतियों की समानता का उनको अपूर्व ज्ञान प्राप्त था, तथापि सभी ज्यामितिक सङ्कल्पनाओं की खोज का श्रेय उन्हें ही नहीं दिया जा सकता। उन्होने तो पूर्व पारम्परिक वैदिक साहित्य के विधि-निषेधों का लाभ उठाया और ज्यामितिक समाधान प्रस्तुत किये। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भारत में समस्त ज्यामितिक विज्ञान यज्ञ और उसकी वेदी निर्माण की प्रक्रिया के सन्दर्भ में ही विकसित हुआ। भारतीय प्राचीन ज्यामितिक विज्ञान नितान्त भारतीय है किसी अन्य का दायाद नहीं है। शुल्व साहित्य का रचना काल जैन धर्म के उदय से पूर्व अर्थात् ईसा पूर्व 500 से 300 वर्ष पूर्व होना चाहिए। आज जबकि ज्यामितिक विज्ञान पर्याप्त विकसित हो चुका है तथापि बौधायन, आपस्तम्ब और कात्यायन आदि के मूल्यों को प्राचीनता के सन्दर्भ में पर्याप्त सम्मान देना होगा।

सन्दर्भ सङ्केत :

1. रेखा और रज्जु एक पर्याय भी हैं।कात्या0 शु0 2/7
2. बौधा0 शु0 (कृष्ण यजु) द्वारकानाथ यज्वा कृत टीका, कुलसूत्र संख्या 5/9
3. बौधा शु0 2/15/19 तथा 2/35, 3/1, 3/6, 3/10 विशेष रूप से तैत्तिरीय ब्राह्मण का उल्लेख प्राप्त है।
4. एक व्याम बराबर 96 अङ्गुल।
5. दी साइंस आफ दी शुल्व, दत्त-पृ0 27
6. ऋग्वेद 1/170/4, 5/31/12, 7/35/7, 8/19/18, 1/15/18, 6/15/19, 10/85/27
7. शतपथ ब्रा0 7/1/1/37
8. शतपथ ब्रा0 3/5/1/6
9. बौधा0 शुल्व सूत्र- 1/59, 1/58, 3/162, 2/64
10. वही, 2/73-74, 3/200-202
11. वही, 3/168-169-170, 2/122
12. वही 3/356
13. वही 3/258, 259, 260
14. शतपथ ब्रा0 10/2/1/5
15. वही 10/2/1/2, 3, 4, 6, 7
16. आपस्तम्ब शुल्वसूत्र 7/10, 12/12

17. अथा परम। प्रभावाद्द्विगुणांरज्जु मुभसतः पाशांकृत्वा मध्ये लक्षणं करोति। स प्राच्यर्थः। अपरस्मिन्नर्धे चतुर्भागो ने लक्षणं करोति।बौधायन शु0 सू0 1/29-3 तथा 12/2-28, 1/42-44
18. आपस्तम्ब शु0 सू0 8/8-10. 11/1, 1/2 तुलना हेतु तैति0 सं0 5/2/5/2 मैत्रा0 सं0 3/2/4 शत0 ब्रा0 6/3/1-26, 6/3/1/31
19. बौधा0 शु0 सू0 1/36-40
20. आप0 शु0 5/2
21. प्रमाणं तिर्यक्, द्विकरण्यायामस्त स्यक्षणया रज्जु स्त्रिकरणी करणी। बौधा0 शु0 1/46, आप0 2/2, काव्या0 2/124,
22. कात्यायन 3/6-7, आप0 3/6-7
23. बौधा0 1/47 तृतीय करण्येतेन व्याख्याता। नवमस्तु भूमेर्भागो भवतीति। आप0 213, कात्या0 श्रौ0 2/15-16 बौधा0 श्रौतसूत्र 1911
24. आप0 शु0 पर टीका 2/3
25. करणी तृतीयं नवभागः। नवभागस्त्रयस्तृतीय करणी।कात्या शु0 2/17-18,
26. बौधायन 1/50
27. बौधा 1/51 आप0- 215
28. बौधा0 1/54, आप0 2/17, कात्या 3/12, बौधा0 1/52, कात्या 3/4 बौधा0 1/53 आप0 3/1 बौधा0 3/255, 1/55 आप0 15/19 बौधा0 1156-5

❐

वैज्ञानिक दृष्टि में पुरुष सूक्त

डॉ० नारायण गोपाल डोंगरे *

प्राक्कथन

चिर काल से हमारी मान्यता रही है कि वेद सम्पूर्ण मानव मात्र के ज्ञान-विज्ञान का विशाल भण्डार है। भारतवर्ष में प्राचीन काल से विज्ञान के अध्ययन की परम्परा रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध के अनन्तर परिस्थितिजन्य कारणों से भारतवर्ष का जनमानस जीवनदर्शन की मीमांसा की ओर झुक गया। अतः विज्ञान सम्बन्धी शोध का कार्य स्थिर सा होता गया एवं तत्सम्बन्धी ग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा क्षीण हो गयी। फलतः बहुतेरे ग्रन्थ काल की वेदी पर चढ़ गये। दैनिक आवश्यकता के कारण आयुर्वेद एवं ज्योतिष् शास्त्र पर कुछ विचार आठवीं शती तक चलता रहा परन्तु तत्पश्चात् इनका भी विकास क्रम कुण्ठित सा हो गया। गत सहस्राधिक वर्षों में इस सांस्कृतिक शून्यता से उबरने के लिए अनेक विद्वान् चिन्तकों के प्रयास के फलस्वरूप नानाविध ग्रन्थों का निर्माण हुआ। इनका वर्गीकरण आस्तिक एवं नास्तिक ग्रन्थों में किया गया। इनमें जो वेद को प्रमाण मानते थे वे क्रमशः कालान्तर में आस्तिक अन्यथा नास्तिक ग्रन्थ कहलाये। गत शताब्दी में एक तीसरी विचारधारा भी सामने आयी, जिसने वेद के मन्त्र भाग को तो स्वीकार किया परन्तु उनके आर्ष भाष्य को न अपना कर स्वतन्त्र व्याख्या की है। यहाँ मानव मात्र की इस वेद रूपी ज्ञान की धरोहर के रक्षण हेतु हमें एक तटस्थ की भाँति नीर-क्षीर विवेकी दृष्टि से विचार करना होगा।

इसी विचार क्रम में ऋग्वेद का पुरुष सूक्त पढ़ने पर प्रतीत होता है कि जैसे यह सूक्त पृथिवी पर हुए जैव सृष्टि के विकास को दर्शा रहा हो। आज के वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में पृथिवी पर जीव विकास के लिए न केवल पृथिवी वरन् इसे घेरे हुए वायुमण्डल की उपस्थिति ही कारक रही है। इसका बाह्य आवरण (The exosphere), जो कि पृथिवी तल से लगभग 1600,000 फीट से प्रारम्भ होता है, प्रखर सौर किरणों से वनस्पति एवं जीवों के उद्भव तथा विकास को संरक्षण देता आ रहा है। इस आवरण गोल के भीतर ही पृथिवी, सूर्य एवं चन्द्र की गतियों के कारण ऋतु-परिवर्तन, वनस्पति एवं जीवों के क्रमिक विकास आदि

* अध्यक्ष, भौतिकी विभाग, हरिश्चन्द्र स्नातकोत्तर महाविद्यालय, वाराणसी, उत्तरप्रदेश

सम्भव हैं।

प्रकृत प्रसंग में ऋग्वेद के पुरुष सूक्त की प्रथम ऋचा पर ध्यान देना श्रेयस्कर होगा, क्योंकि इस ऋचा में 'अङ्गुल' पद द्रष्टव्य है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि पुरुष सूक्त पृथिवी पर हुए क्रमिक विकास का वर्णन करता है। इस आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि यह क्रमिक विकास तभी सम्भव है जब हम पृथिवी के साथ ही उसके चारों ओर व्याप्त वायु मण्डल को एक सम्पूर्ण निकाय या एक ही गोल (Sphere) समझें। प्रस्तुत ऋचा में इस गोल को ही सांकेतिक रूप में पुरुष शब्द से कहा गया है।

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त की पहली ऋचा में पृथिवी की परिधि की लम्बाई की माप के सन्दर्भ में उल्लेख है जो कि अधोलिखित है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्।।

अन्वय :

सहस्रशीर्षा (1000), सहस्राक्षः (2000), सहस्रपात् (2000) परिमाणवान् पुरुषः (आवरणगोलः) दश-अङ्गुलं (एकम् अङ्गुलं प्रति हस्तमानेन) विश्वतो वृत्वा परितः बहिर्बहिः भूमिम् अत्यतिष्ठत् (अवतिष्ठति)।

अर्थात् पृथिवी को 1.24 के प्रमाण से बाहर-बाहर से 1000 x 2000 x 2000 अङ्गुल परिधि का पुरुष (आवरण गोल) घेरे रहता है।

अतः पृथिवी की परिधि = 1000 x 2000 x 2000 x 24 / 25 अङ्गुल = 4 x 10^6 दण्ड।

सूर्य सिद्धान्त के अनुसार पृथिवी का अर्धव्यास 800 योजन किंवा 6400000 दण्ड है जो कि अधोलिखित उद्धरण से स्पष्ट है—

योजनानि शतान्यष्टौ भूकर्णो द्विगुणानि तु।
तदर्द्धगतो दशगुणात् पदं भूपरिधिर्भवेत्।। 57 मध्यमाधिकारे

अतः पृथिवी की परिधि = 2π X 6400000 = 4 x 10^7 दण्ड।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ऋग्वेद हो अथवा प्राचीन ज्योतिष् दोनों ही परम्पराओं में पृथिवी की परिधि का मान आंकिक रूप से समान ही प्राप्त होता है। यहाँ पर की गयी गणना के लिये भारतीय एवं वैज्ञानिक दैर्ध्य (लंबाई) की इकाइयों तथा उनके प्रतिभागों का ज्ञान आवश्यक है जो कि इस प्रकार है—

दैर्घ्य की इकाई 'दण्ड' :

ऋग्वेद काल (4500 - 2500 ई० पू०) से सूर्य सिद्धान्त किंवा भास्कराचार्य (600 ई०) तक या तो

वैदिक यज्ञों में या ज्योतिषीय आवश्यकता के चलते, दैर्घ्य (लम्बाई) का मापन जरूरी रहा है। प्राचीन काल से व्यवहार में प्रयुक्त होने वाले लम्बाई के परिमाण और उनसे उद्भूत परिमाण अधोलिखित हैं—

8 परमाणु	= 1 त्रस्रेणु	24 अङ्गुलि	= 1 हस्त
8 त्रस्रेणु	=1 रेणु	4 हस्त	= 1 दण्ड
8 रेणु	=1 बालाग्र	2000 दण्ड	=1 क्रोश
8 बालाग्र	=1 लिख्य	4 क्रोश	=1 योजन
8 लिख्य	=1युक	3 अङ्गुल	=1 पर्व
8 युक	=1 यव	4 अङ्गुल	=1 मुष्टि
8 यव	=1 अङ्गुल	12 अङ्गुल	=1 वितस्ति
96 अङ्गुल	=1 दण्ड	21 अङ्गुल	=1 रत्नि

(8^7 परमाणु =1 अङ्गुल अथवा 1 परमाणु = 8^7 अङ्गुल)

लम्बाई का मैट्रिक परिमाप 'मीटर' :

1 अगस्त 1793 को फ्रांस में 'मीटर' को मूल रूप से परिभाषित किया गया। इस परिभाषा के अनुसार 'मीटर' पृथिवी का चतुर्थांश, जो भूमध्य रेखा को डंकिर्क नामक स्थान से जोड़ता है, के एक लाखवें हिस्से के बराबर होता है। इसे आधुनिक वैज्ञानिक विश्व में व्यापक रूप से अपनाया गया है। आधुनिक वैज्ञानिक युग में भूमध्य रेखीय परिधि का मापन किया गया है जो कि 24900 मील है। मैट्रिक प्रणाली में परिवर्तित करने पर इसका मान 4×10^7 मीटर ही आता है। अतः पृथिवी की भूमध्य रेखीय परिधि के प्राचीन भारतीय और आधुनिक मानों का आंकिक साम्य यह स्पष्ट करता है कि—1 दण्ड = 1 मीटर।

अब चूँकि अङ्गुल दण्ड का 96वाँ भाग है, अतः 1 अङ्गुल = 100/96 सेंटीमीटर = 1.04167 सेमी०।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर इस पुरुष (आवरण गोल) की पृथिवी तल से ऊँचाई हम ज्ञात कर सकते हैं। प्रथम सूक्त की व्याख्या के अनुसार इस ऊँचाई एवं पृथिवी की त्रिज्या में 1 : 24 का अनुपात है अतः इस ऊँचाई का परिमाण $4 \times 10^7 / 24$ दण्ड या लगभग 5600,000 फीट आता है जो कि आधुनिक विज्ञान के सम्मत बाह्य आवरण (The exosphere) की बाहरी सीमा इङ्गित करती है। अतः इसी आवरण गोल के भीतर ही पृथिवी, सूर्य एवं चन्द्र की गतियों के कारण ऋतु-परिवर्तन, वनस्पति एवं जीवों के क्रमिक विकास आदि सम्भव है।

❑

वेदोपनिषदों में सृष्टि व्युत्पत्ति

पं० मूल चन्द अवस्थी *

वर्तमान काल में सृष्टि, जो अपने कार्य रूप में अवस्थित है, अतीत में सत्ता में नहीं थी। उस समय न असत् था और न सत्। यदि हम कहें कि सृष्टि की उत्पत्ति के पूर्व असत् ही विद्यमान था तो उत्पत्ति के समय सृष्टि सत्ता में कैसे आयी? अतः आभासित होता है सृष्टि अपने कारण रूप में सत्ता में मौजूद थी।

जब सृष्टि अपने विकसित रूप में नहीं थी तो यह भी नहीं कहा जा सकता कि उसकी सत्ता थी अर्थात् सत् रूप में थी। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में सृष्टि की उत्पत्ति के पूर्व की अवस्था का वर्णन इस प्रकार है—

> नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
> किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्।।
> न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
> आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास।।
> तम आसीत्तमसा गूहमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
> तुच्छयेनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम्।। ऋ० 10/129/1-3

उस समय न असत् था न सत्, न रज (परमाणु) और न परम व्योम जो स्थूल जगत् का निवास स्थान है। जब जगत् नहीं था तो न तो मृत्यु और न अमरत्व ही थे। दिन और रात्रि के कोई सङ्केत नहीं थे। यदि कोई सत्ता थी तो केवल एक बिना किसी आधार के अपने ही स्वभाव से वर्तमान थी और उसके अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं थी।

गहन और गूढ़ अन्धकार जैसे वातावरण में उस सत्ता ने तप किया और उस परम सत्ता के तप से सृष्टि संरचना की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। वेद ने उस सत्ता को हिरण्यगर्भ की संज्ञा दी। हिरण्यगर्भ ही सृष्टि के पहले वर्तमान था, वही जगत् का स्वामी है, उसी के निमित्त से सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति हुई और वही द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथिवी को धारण किये हुए है—

---

* प्रबन्धक, आर्य कन्या डिग्री कालेज, इलाहाबाद, उत्तरप्रदेश

हिरण्यगर्भःसमवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।

स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।। ऋ० 7/3/1

यजुर्वेद के 31वें अध्याय का वाचक पुरुष सूक्त है। इसमें परमात्म पुरुष की व्यापक सत्ता का वर्णन है। यह परम पुरुष, सर्वत्र व्यापक, सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान् है। वह केवल अपने एक अंश से ब्रह्माण्ड की रचना करता है। यह ब्रह्माण्ड उसके निमित्त मात्र से विरचित होता है, विकसित होता है और अन्त में प्रलय को प्राप्त होता है। परब्रह्म पुरुष को वेदों ने अकर्ता और अकाम कहा है। शंका होती है कि जब वह अकर्ता-अकाम है तो फिर सृष्टि की रचना की कामना कैसे करता है। महाभारत के एक श्लोक का उद्धरण इस प्रसंग में दिया जाता है—

निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथा लौह प्रवर्तते।

सत्ता मात्रेण देवेन तथा चायं जगज्जनः।।

जैसे बिना इच्छा वाले चुम्बक के स्थित रहने मात्र से लोहा प्रवृत्त होता है, वैसे ही परम देव की सत्ता मात्र से ही जगत् की उत्पत्ति आदि होती है। यह दिव्य पुरुष केवल एक पाद से इस ब्रह्माण्ड की संरचना करता है इसके तीन पाद अमृत हैं और दिव्य लोक में हैं—**पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।।** यजु० 31/3

इसी परमात्म सत्ता से विराट् की उत्पत्ति होती है। विराट् तत्त्व में ही ब्रह्माण्ड और उसके सभी अङ्गों और पदार्थों के बीज मूल रूप में सन्निहित हैं। इसी विराट् तत्त्व से आकाश, वायु, जल, अग्नि और पृथिवी की निष्पत्ति होती है। जैसे हिरण्यगर्भ में चेतन तथा अचेतन तत्त्व समाहित हैं वैसे ही विराट् में अचेतन तथा जड़ पदार्थों के बीज समाहित हैं। इसी विराट् तत्त्व से वह पुरुष ब्रह्माण्ड और पिण्डों के अवयव उत्पन्न करता है। पुरुष सूक्त सृष्टिव्युत्पत्ति की प्रक्रिया का वर्णन सर्वहुत यज्ञ के रूप में करता है। परमपुरुष अपने तप द्वारा सृजित सर्वहुत यज्ञ द्वारा आकाश में गति करने वाले, पृथिवी पर रहने वाले आरण्य और ग्राम्य पशु उत्पन्न करता है। मानव की उत्पत्ति के पूर्व उसके जीवन यापन की सारी सामग्री उस पुरुष के निमित्त मात्र से भूमण्डल पर उपस्थित हो जाती है और मानव के व्यवहार हेतु ज्ञान, प्रज्ञान का आविर्भाव ऋक्, यजुष्, साम, और अथर्ववेद की ऋचाओं के रूप में श्रेष्ठ, अकलुष, निर्मल बुद्धि वाले ऋषियों की हृदय गुफा में उद्भासित हो जाता है।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम्।

पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्याश्च ये।। ऋ० 10-9.8

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।

छन्दाँऽसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।। यजु० 31/6-7

इसी सर्वहुत यज्ञ में, वसन्त, ग्रीष्म, शरद् इत्यादि ऋतुओं का आविर्भाव होता है। पुरुष यज्ञ के द्वारा अन्य यज्ञ विश्वकर्मा के रूप में करता है। वेद ने कहा–वह महान् पुरुष सम्पूर्ण तमस् से परे है, अभेद्य है।

उसी को जानकर संसार के मृत्यु रूपी दुःखों से मुक्ति पायी जा सकती है और कोई मार्ग भव-भय से मुक्ति का नहीं है।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्या पन्था विद्यतेऽयनाय। यजु० 31/18

ईश्वर के ऋत, सत्य और तप से सम्पन्न सर्वहुत यज्ञ द्वारा सृष्टि का सृजन और सृष्टि में सूर्य चन्द्र दिवा-रात्रि, समुद्र, अर्णव इत्यादि का आविर्भाव होता है।

ऋतं च सत्यं चाभीद्धा त्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत। ततः समुद्रो अर्णवः।।

ततः समुद्रादर्णवादधि संवत्सरोऽजायत। अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्यमिषतो वशी।

सूर्या चन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमधो स्वः।।

ऋ० 10/10/8

ऋत निरपेक्ष सत्य है, सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक नियम हैं। इनमें परिवर्तन नहीं होता। सत्य सापेक्ष नियम हैं। इनमें परिस्थिति एवं व्यवहार का परिवर्तन होता है। ऋत और सत्य नियमों के परिपालन में जो दैहिक उग्र कष्ट होता है, उसे तप कहते हैं। यज्ञ श्रेष्ठतम कर्मों को कहते हैं। यज्ञ शब्द यत् और जुः से मिलकर बनता है। यत् के अर्थ गतिशील और जु के अर्थ स्थायी होते हैं। आधुनिक विज्ञान में यत् को Electron और जु को Proton कहेंगे। इन्हीं यत् (Electron) और जु (Proton) के सहारे सृष्टि का विकास होता है।

ऐतरेय उपनिषद् में सृष्टि रचना के विषय में वर्णन है। सृष्टि रचना के पूर्व केवल एक आत्मा ही था और अन्य किसी वस्तु का सङ्केत भी न था। आत्मा ने ईक्षण किया—लोकों का सृजन करूं। उसने अम्भस्, मरीचीः, मर तथा आपः लोकों का सृजन किया।

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत् किंचन मिषत स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति।

स इमांल्लोकानसृजत। अम्भो मरीचीर्मरमापो ऽदोम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठाऽन्तरिक्षं मरीचयः।

पृथिवी मरो या अधस्तात्ता आपः। ऐतरेय उप० 1-2

तैत्तिरीय उपनिषद्, ब्रह्मानन्द वल्ली में सृष्टि का विकास इस प्रकार है—

उसी ब्रह्म से आकाश हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से औषधियाँ, औषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से पुरुष—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नाद्रेतः। रेतसः पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्रह्म (ईश्वर, हिरण्यगर्भ, प्रजापति रूपों में) सृष्टि रचना का निमित्त कारण है। वह शब्द गुण से रहित, स्पर्श से रहित, अरूप, अन्वय, अविकारी, रस से रहित, गुण रहित, नित्य, अनादि, अनन्त और कार्य प्रकृति (महत्तत्व) से परे है—

अशदमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।

अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवम् निचाय्य तन्मृत्यु मुखात्प्रमुच्यते। कठ० 15

आइए अब सृष्टि की संरचना के द्वितीय उपादान कारण प्रकृति के विषय में वेदोपनिषदों एवं शास्त्रों के कुछ उद्धरण प्रस्तुत करें। किसी भी निर्माण में निमित्त कारण के साथ उपादान कारण (Material cause) की भी आवश्यकता होती है। ईश्वर की सत्ता के साथ-साथ मूल प्रकृति भी स्वयं भू, अनादि, अनन्त एवं सनातनी है। यह न असत् है न सत् है, न उभयरूपा है। यह अनिर्वाच्य है, जड़ और व्यक्ताव्यक्त होते हुए भी सनातनी है। प्रकृति का दूसरा नाम माया है—

नासद् रूपा न सद्रूपा माया नैषोभयात्मका।

सद सदश्चायमनिर्वाच्या मिथ्या भूता सनातनी।।

नाम और रूप से रहित यह जगत् जिस सत्ता में ठहरता है उसे प्रकृति कहते हैं, मोहक होने के कारण इसी को माया कहा जाता है और इसके स्वामी ईश्वर को मायी—

छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतभव्यं यच्च वेदा वदन्ति।

अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो माय्या संनिरुद्धः।

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्।

तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्।। श्वेता० 4/9-10

मूल प्रकृति सत्, रज और तम तीन गुणों का संयोग है। सांख्य का निर्वचन है—

सत्रजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान्, महतोऽहंकारः, अहङ्काराद् पञ्च तन्मात्राणि उभयमिन्द्रियम्। पञ्च तन्मात्रेभ्यः पञ्च महाभूतानि, पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गुणाः।

जब सत्, रज, तम, तीनों गुण साम्यावस्था में होते हैं तो उसे मूल प्रकृति कहते हैं। मूल प्रकृति में जब ईश्वर द्वारा ईक्षण होता है तो महत्तत्त्व की निष्पत्ति होती है। महत्तत्त्व से अहंकार, अहंकार से पञ्च तन्मात्राएं और दोनों प्रकार की इन्द्रियों की निष्पत्ति होती है। पञ्चतन्मात्राओं से पञ्चमहाभूत स्थिति में आते हैं और इनके साथ पुरुष (ईश्वर) की सत्ता और जीवात्मा से यह जगत् कार्य रूप में सञ्चरण करता है। यह पचीस गुण इस प्रकार हैं—

1. मूल प्रकृति 2. महत्त्व 3. अहंकार 4. शब्द 5. स्पर्श 6. रूप 7. रस 8. गन्ध = पञ्चतन्मात्राएँ

9. नेत्र 10. श्रोत्र 11. रसना 12. घ्राण 13. त्वचा = पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ

14. वाक् 15. पाणि 16. पाद 17. उपस्थ 18. पायु = पञ्चकर्मेन्द्रियाँ

19. आकाश 20. वायु 21. अग्नि 22. जल 23. पृथिवी = पञ्चमहाभूत

24. जीवात्मा 25. परमात्मा = पुरुष

ब्रह्माण्ड की यह संरचना इन्हीं 25 उपादानों से होती है। जीवात्माओं के पिण्डों में भी इन्हीं 25 तत्त्वों का समावेश है, इसीलिए यह शास्त्रोक्ति है—**यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे।**

इस सृष्टि संरचना का प्रयोजन तीसरी सत्ता अर्थात् जीवात्माओं को शुभाशुभ कर्मों का फल प्रदान करना है। जीवात्माएँ अनेक हैं, चेतन हैं, स्वयंभू हैं, उनका नाश नहीं है। उनमें इच्छा, द्वेष प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान का समावेश है। मानव ब्रह्माण्ड का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। इसी मानव योनि में जीवात्मा अपने शुभ-अशुभ, सञ्चित एवं क्रियमाण कर्मों का फल भोगता है और उसे अभ्युदय और निःश्रेयस् का अवसर इसी योनि में मिलता है। वह सम्भूति, असम्भूति, विद्या, अविद्या के फलों को भोगते हुए जीवन यापन करता है। इसी मानव योनि में उसे अपनी सत्ता का आभास होता है और अपनी सामर्थ्य का भी। उसे विदित होता है—इस चमत्कार पूर्ण सृष्टि में उसके मित्र ईश्वर के पास जो आनन्द है उसके पास नहीं, उसे प्राप्त करने की सामर्थ्य भी उसमें नहीं। वह चिल्ला उठता है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।

तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।। ईश० 15

इस चमकते हुए पात्र ने सत्य का मुख ढक रखा है। हे पूषन्, हे परमात्मन् इसका मुख खोल दीजिए जिससे सत्य धर्म का दर्शन कर सकूं।

ज्ञात हुआ कि इस ब्रह्माण्ड में ईश्वर, जीव और प्रकृति की शाश्वत सत्ताएँ विद्यमान हैं, वे स्वयंभू हैं, अनादि हैं, अनन्त हैं, उनमें दो चेतन और तीसरी प्रकृति जड़ है। उनके परस्पर सम्बन्ध को इस ऋचा ने उद्भाषित किया है—पुरुष और पुरुष विशेष ईश्वर दो पक्षी प्रकृति रूपी वृक्ष पर समान रूप से बैठे हैं। उनमें एक जीवात्मा रूपी पक्षी वृक्ष के फलों का आस्वादन करता है और दूसरा ईश्वर फलों का आस्वादन न करता हुआ केवल साक्षी रूप में रहता है। जीवात्मा भोक्ता है इसलिए उसे सुख-दुख झेलने पड़ते हैं। ईश्वर भोक्ता नहीं इसीलिए उसके पास आनन्द ही आनन्द है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वादवत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशय शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः।।

श्वेताश्वतर उपनिषद् 4.7

❑

वैदिक वाङ्मय में सृष्टि विज्ञान

डॉ० चन्द्रकान्त द्विवेदी *

वेद ज्ञान का विपुल भण्डार हैं। अनुभवयुक्त ज्ञान का नाम ही विज्ञान है। प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण से जिस वस्तु का ज्ञान नहीं हो पाता उसे जानने का साधन वेद हैं—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता।।

सृष्टि के आरम्भ में विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ वेद में मनुष्य के जीवन यापन के लिए भौतिक विज्ञान के सिद्धान्त और सङ्केत पाये जाते हैं, जिनका गहन मन्थन वैज्ञानिक और प्राविधिक अन्वेषण के द्वारा मानव जीवन को समुन्नत बना सकता है। वैदिक पदार्थ तत्त्व विवेचन प्रतीकात्मक है। उन प्रतीक अर्थों का विस्तार इतिहास-पुराण और स्मृति ग्रन्थों में मिलता है। आवश्यकता है खोजी दृष्टि की। अगर खोज की दृष्टि पैनी है और जिज्ञासु का सङ्कल्प दृढ़ है तो अभीष्ट सिद्धि मिलेगी ही।

मानव संस्कृति की सबसे प्राचीन पुस्तक वेद ऐसे मन्त्रों से भरे पड़े हैं, जिनसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि मन्त्र द्रष्टा ऋषि सृष्टि के मूल उपादानों के ऊहा-पोह और प्रकृति की विभिन्न क्रियाओं के कारण एवं गुण-कर्मों की वैज्ञानिक प्रक्रिया से अवगत थे।

आर्यों का सर्वप्रथम आविष्कार अग्नि है। अग्नि का आविष्कार, ऋषि अथर्वा ने किया था— **अग्निर्जातोऽथर्वणा।** यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता में भी मन्त्र है—**अथर्वा त्वा प्रथमो निरमन्थदग्ने।** अग्निप्रकाश एवं ज्योति स्वरूप है। अकेले ऋग्वेद में 1400 मन्त्र अग्नि परक है।

मनु आदि परमाचार्यों का कथन है कि—**भूतं भवद् भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति।** अर्थात् सब कालों के ज्ञान विज्ञान वेद ही से सिद्ध होते हैं। निरुक्तकार यास्क ने स्पष्ट कहा है कि—**न हयेषु प्रत्यक्षमस्ति, अनृषेरतपसो वा-** 1.13.12। ऋषि और तपस्वी के आन्तरिक मन्त्रार्थ का कोई प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। अतः हम सामान्य जनों को उस पर टीका टिप्पणी करने का अधिकार नहीं बनता है। हमारे वैदिक ऋषि बहुत पहले ही कह चुके हैं कि पृथिवी अपनी धुरी पर घूमती हुई अन्तरिक्ष में दौड़ रही है, उसमें अग्नि जल रही है और

---

* सहायक निदेशक, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ

उसमें जल है।[1] ग्रह नक्षत्र आकाश परस्पर की आकर्षण शक्ति के सहारे टिके हैं। ऋग्वेद में आकाश में उड़ने वाले विमानों तथा उच्च कोटि के चिकित्सा विज्ञान का उल्लेख है—"जिस प्रकार पक्षी का पंख कट कर गिर जाता है उसी प्रकार खेल राजा से सम्बन्धित स्त्री विश्पला का पैर युद्ध में कट कर गिर गया था। शीघ्र ही लौह निर्मित कृत्रिम जंघा का प्रत्यारोपण कर दिया गया, जिससे रातों-रात वह पुनः आक्रमण करने योग्य हो गयी।[2]

ऋग्वेद प्रथम मण्डल के 116 से 118 सूक्त में अश्विनी कुमारों के स्तुति क्रम में अनेक वैज्ञानिक चमत्कारों का वर्णन है। वैदिक वाङ्मय में विज्ञान जैसी खोज में अपना सर्वस्व समर्पित करने वाले विद्या वाचस्पति श्री मधुसूदन ओझा, स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती एवं स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि महान् विचारकों के विचार से कुछ सङ्ग्रह कर आप के सम्मुख रखने का प्रयास यह लेख है। भारतीय महर्षियों की इस अतुल सम्पत्ति का विशेष मनन इस युग में आवश्यक हो गया है, लेकिन वैज्ञानिकों की वैदिक भाषा, उसकी प्रक्रिया तथा उसके अर्थ को सम्यक् रूप से समझना अत्यन्त श्रमसाध्य विषय है। वेद में सम्पूर्ण विज्ञान यज्ञ के रूप में प्रकट किया गया है। यज्ञ और यज्ञशालाओं के अभाव में इस पर कुछ कहना उसी प्रकार हास्यास्पद होगा, जिस प्रकार बिना प्रयोगशाला (लैबोरेटरीज) और प्रयोग के किसी वैज्ञानिक तथ्य का विश्लेषण परीक्षण। वेद मन्त्रों में जो यज्ञ के सिद्धान्त हैं उनमें प्रथम "प्रकृति यज्ञ" जो प्रकृति में सदैव होता रहता है, द्वितीय अनुष्ठेय या कृत्रिम यज्ञ, जो मनुष्यों द्वारा किया जाता है। प्रकृति यज्ञ में विज्ञान के सिद्धान्त एवं अनुष्ठेय यज्ञ में उनका प्रयोग बताया गया है।

सृष्टि विज्ञान वेद विद्या का द्वितीय नाम है। सृष्टि की रहस्यमयी प्रक्रिया की व्याख्या वेद में नाना विधाओं के रूप में उपलब्ध है। सृष्टि और वेद विज्ञान अनन्त है। विराट् और अणु दोनों क्षेत्रों में आज विज्ञान की तथ्यात्मक स्वीकृति है। अणोरणीयान् महतो महीयान् की एकता का दर्शन करने वाले ऋषियों का स्पष्ट मत है कि इन दोनों का मूल कोई अनन्त, अव्यक्त अक्षर तत्त्व है। हमारे तत्त्ववेत्ता ऋषि इस बात पर एक मत थे कि कुछ बनता नहीं है, केवल रूपान्तरित होता है, अतः इस सृष्टि के बनने का कोई प्रश्न नहीं है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। महान् वैज्ञानिक 'डाल्टन' की ऐटमिक थ्योरी का भी यही आशय है कि पदार्थ का नाश नहीं होता है। यदि पदार्थ अनन्त है तो उसे अनादि भी होना चाहिए। कुछ विचारक तो इस दृश्यमान् जगत् को भी स्वप्न्वत् एवं काल्पनिक मानते हैं। कुछ का मत है कि —

(1) संसार परिवर्तन शील है, इसलिए अवास्तविक है।

(2) यह संसार काल्पनिक है, क्योंकि इसमें वास्तविक सुख नहीं है।

(3) यह वास्तविक नहीं है, क्योंकि इसके सिद्धान्त वास्तविक नहीं है।

यह जो संसार है और सदैव प्रलय और सृजन के चक्र में आता है, वर्तमान सत्र की सर्जना कब और कैसे हुई, इस पर ऋग्वेद के नासदीय, हिरण्य गर्भ एवं पुरुष सूक्तों में तथा ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् एवं

स्मृति ग्रन्थों में विशद विचार है।

नासदीय सूक्त के अनुसार सृष्टि के पूर्व प्रलय काल था। उस समय पञ्च महाभूत और उससे उत्पन्न होने वाली सृष्टि नहीं थी। वह एक अभावमय स्थिति थी। तब न जन्म था, न मरण, न दिन, न रात का ही अस्तित्व था। कारण प्रकृति के सिवाय उसका कोई भी विकृत रूप महाप्रलय की अवस्था में नहीं था। पञ्चभूतों के प्रादुर्भाव होने से पूर्व जो उनका सबसे निकटवर्ती कारण रूप है उसे ही अम्भ या जल जाना जाता है। माया युक्त मात्र वही एक अलख निरञ्जन ब्रह्म था। परमशक्ति अथवा ऊर्जा रूप में मात्र वही था। मायावी अन्धकार (अज्ञान) का गहन प्रसार था। अन्धकार तो माया का ही विकार है, उसी में सम्पूर्ण संरचना सूक्ष्म रूप से लीन थी। रात्रि और दिन का ज्ञान भी नहीं था। वह एक स्वधा प्रकृति के साथ बिना वायु के प्राण रूप में स्फूर्तिमान् था। उससे भिन्न निश्चय ही कुछ भी नहीं था।

सायणाचार्य ने इस मन्त्र के अपने भाष्य में 'स्वधया' का अर्थ 'माया' माना है। श्वेताश्वतर उपनिषद् के अनुसार 'माया' ही प्रकृति है **मायान्तु प्रकृतिं विद्धि।** पुरुष वाचक 'एकम्' शब्द से पुरुष में आत्मा और परमात्मा दोनों का बोध है। इससे स्पष्ट है कि इस कार्य जगत् में ईश्वर, जीव और प्रकृति के अतिरिक्त कुछ भी नहीं था।

प्रथम वह अविनाशी तत्त्व एक तपस्, एक प्रकाश अथवा ऊर्जा रूप में क्रियाशील हुआ। इस परमब्रह्म, अव्यक्त में कालान्तर में सृष्टि को उत्पन्न करने की इच्छा हुई। उसकी यह सिसृक्षा या निर्माण-इच्छा सृष्टि को उत्पन्न करने में बीज रूप में सिद्ध हुई—**कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्,** ऋग्वेद 10.129.4

इस मन्त्र से स्पष्ट है कि प्रकृति में ईश्वर प्रदत्त गति से, जिसे वैज्ञानिक गति शक्ति (Energy) कहते हैं, आन्दोलित होकर कार्य रूप में परिवर्तित हो जाया करती है। इस सिद्धान्त को क्रान्ति, क्रान्तिदर्शी विद्वान् जानते हैं। मन्त्रान्त में कारण प्रवृत्ति और कार्य-जगत् में भाई-भाई होने का सम्बन्ध प्रदर्शित होता है। प्रकृति तो साक्षात् नित्य है और कार्य जगत् के प्रवाह भी नित्य हैं। इसका आशय यह भी हो सकता है कि ईश्वर का सङ्कल्प-सृष्टि रचना का हुआ और अव्यक्त जगत् व्यक्त रूप में आ गया। इन तीनों ईश्वर, जीव और प्रकृति की किरणें तिरक्षी फैली हैं। नीचे भी थीं, ऊपर भी फैली हैं। वीर्यधारक (जीव) थे, वे महान् थे। इधर प्रकृति थी, उधर प्रयत्न था। षष्ठ, सप्तम मण्डल प्रश्नात्मक है—यथार्थ को कौन जानता है। कौन यहाँ कह सकता है कि यह सृष्टि कहाँ से आई और कहाँ से विविध प्रकार की सृष्टि हुई। इसकी व्युत्पत्ति के बाद देव उत्पन्न हुए, इसलिए कौन जानता है कि यह जगत् जहाँ से प्रकट हुआ है, अर्थात् सृष्टि बनने का ज्ञान मनुष्यों को नहीं हो सकता, क्योंकि देवता भी सृष्टि रचना के बाद उत्पन्न हुए हैं।

ऋग्वेद के 'हिरण्यगर्भ-सूक्त' और 'पुरुष सूक्त' में सृष्टि की रचना और विस्तार का वर्णन है। सूक्त के प्रथम मन्त्र में—"हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे" अर्थात् पहले हिरण्यगर्भ ही उत्पन्न हुआ। प्रजापति और हिरण्यगर्भ समानार्थी हैं। परमात्मा के स्रष्टा रूप को रामायण, महाभारत और पुराणों में प्रजापति कहा गया है और उसे पितामह ब्रह्मा के नाम से सम्बोधित किया गया है। दक्ष प्रजापति जो पितामह ब्रह्मा के मानस पुत्र माने गये हैं,

का उल्लेख भी आठवें मन्त्र में है—**यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद्दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्।**

पुरुष सूक्त को विराट् पुरुष सूक्त भी कहते हैं। यह वेदों का अति महत्त्वपूर्ण सूक्त है। ऋग्वेद के अतिरिक्त अन्य वेदों में भी इस सूक्त का उल्लेख है। ऋग्वेद के 16 मन्त्रों वाले इस सूक्त में जन्तु जगत् की उत्पत्ति के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण कथन है। इस सूक्त में सृष्टि निर्माण को एक यज्ञ बताया गया है। सम्भवतः यह यज्ञ कर्म का प्रतीक है। सामाजिक कार्य कुशलता हेतु चार पृथक् क्षमताओं से युक्त चार वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र का उल्लेख है। तेरहवें मन्त्र में विराट् पुरुष के मन से चन्द्रमा, नेत्र से सूर्य, मुख से अग्नि और प्राण से वायु उत्पन्न होने का वर्णन है।

पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्–विराट् पुरुष का अनन्त विस्तार कल्पना से परे है। यह दृश्यमान् जगत् तो उसका चतुर्थांश ही है। विराट् ब्रह्माण्ड उसी में समाहित है। वह जड़ चेतन सबमें व्याप्त है उससे परे कुछ भी नहीं है।

उसी वैदिक विज्ञान का सविस्तर पल्लवन स्मृति ग्रन्थों में भी है। मनुस्मृतिकार भगवान मनु के अनुसार—भू आदि लोकत्रय की सृष्टि करने की इच्छा से प्रेरित मन सृष्टि करता है। उससे आकाश उत्पन्न होता है, उस आकाश का गुण शब्द है।

मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिसृक्षया।
आकाशो जायते तस्मात्तस्य शब्दं गुणं विदुः।। मनु० 1.75

विकारोत्पादक उस आकाश से सर्वविध गन्धों को धारण करने वाली पवित्र एवं शक्तिशाली वायु उत्पन्न होती है, वह वायु स्पर्श गुण वाली मानी गई है।

आकाशात्तु विकुर्वाणात्सर्वगन्धवहः शुचिः।
बलवाञ्जायते वायुः स वै स्पर्शगुणो मतः।। मनु० 1.76

विकारोत्पादक वायु से देदीप्यमान एवं अन्धकार नाशक ज्योति (तेज) उत्पन्न होती है। वह रूप गुण वाली कही गई है।

वायोरपि विकुर्वाणाद्विरोचिष्णु तमोनुदम्।
ज्योतिरुत्पद्यते भास्वत्तद्रूपगुणमुच्यते।। मनु० 1.77

विकार जनक ज्योति से रस गुण वाला 'जल' उत्पन्न होता है, पुनः 'जल' से 'गन्ध' गुण वाली भूमि उत्पन्न होती है। ये सभी पञ्चभूत (आकाश-वायु-ज्योति-जल-भूमि) सृष्टि के आदि के हैं।

ज्योतिषश्च विकुर्वाणदापो रसगुणाः स्मृताः।
अद्भ्यो गन्धगुणा भूमिरित्येषा सृष्टिरादितः।। मनु० 1.78

सांख्य शास्त्र के अनुसार 'सत्व'-'रजस्'-'तमस्' द्वारा सृष्टि का निर्माण माना गया है। सांख्य शास्त्र के निर्माता कपिल मुनि सगर के समकालीन थे। शास्त्रानुसार सगर ब्रह्मा की 20वीं पीढ़ी में थे जबकि उनकी

40वीं पीढ़ी में राम पैदा हुए थे। अतः त्रेता के प्रारम्भ का उनका काल है। सांख्य दर्शन में प्रकृति और पुरुष के भेद को 'साक्षात्' माना गया है।

सृष्टि की उत्पत्ति के पूर्व प्रकृति में सत्, रज, तम समान अनुपात में पर असंश्लिष्ट (Non Combined) स्थिति में थे। उनमें अधिष्ठाता के ईक्षण (Energy) अर्थात् ईश्वर प्रदत्त गति से हलचल पैदा की गई और उसका मिलन विभिन्न अनुपातों में हुआ, जिसका प्रथम परिवर्तित रूप 'महत्' है। सत्व प्रधान महत् से—'समष्टि चित्' उपजता है, जो भिन्न-भिन्न जीवों में बढ़कर उनमें सद्गुण, सन्तोष, निरभिमान, धैर्य व उत्साह प्रदान करता है।

रजस् प्रधान महत् से समष्टि बुद्धि उत्पन्न होकर जीव मात्र में बढ़ती है और उनमें कर्म प्रवृत्ति, क्रियाशीलता, शक्ति, मन्यु आदि गुणों का सृजन करती है।

अहंकार भी तीन गुणों वाला होता है, जिससे 16 तत्त्वों का जन्म होता है। सत्व प्रधान अहंकार से मन उत्पन्न होता है। रजस् प्रधान अहंकार से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—कर्ण, त्वचा, चक्षु, रसना और घ्राण तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ—वाणी, हस्त, पाद, शिश्न एवं गुदा बनते हैं। तमस् प्रधान अहंकार से पाँच तन्मात्रायें—शब्द, रस, स्पर्श, रूप एवं गन्ध उत्पन्न होती है।

तैत्तिरीय आरण्यक में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि—इन पाँचों तन्मात्राओं से क्रमशः 5 स्थूल भूत आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी पैदा होते हैं। इनका निर्माण भी एक दूसरे से होता है—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवीः।

पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नाद्रेतः। रेतसः पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।

उक्त 5 तन्मात्राओं से 5 भूत तथा इन 5 भूतों से सम्पूर्ण सृष्टि के अन्य पदार्थ बनते हैं।

सांख्यकार के अनुसार इन सबके मूल में जो सत्, रज एवं तम हैं वे गुण नहीं हैं। वे गुण द्रव्य हैं, द्रव्याश्रित गुण नहीं हैं जो एक-दूसरे की सहायता से अवयवों को उत्पन्न करते हैं।

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।
अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः।। सांख्यकारिका—12

द्वैतवादियों के अनुसार सृष्टि प्रकृति के मूल तत्त्व से निकली है और वह उसी में समा जाती है। हमारे सभी दार्शनिक मत एवं धर्मग्रन्थ भी वैदिक सृष्टि विज्ञान के ही पोषक हैं।

वैदिक विज्ञान के मूल तत्त्व : ऋत और सत्य
(पदार्थ-विद्या के विशेष सन्दर्भ में)

प्रो० कृष्णलाल *

आधुनिक विज्ञान की सभी गवेषणाओं का लक्ष्य सृष्टि के तत्त्वों के मूल तक पहुँचना है। विज्ञान समस्त सृष्टि में क्या, क्यों और कैसे की खोज करता है। सभी पदार्थों में कोई मूल तत्त्व, अपरिवर्तित गुण की खोज करके विज्ञान यथार्थ की गहराई तक उतर कर सूक्ष्मेक्षिका द्वारा मूल सूत्र को ढूँढता है। एक ओर इससे जहाँ नये तथ्य उद्घाटित होते हैं, वहीं उस सूत्र को मानवता के उपकार में लगाया जा सकता है।

वेद के अनुसार सृष्टि का मूल सूत्र ही ऋत और सत्य है जो सब ओर समिद्ध ताप या उष्णता से उत्पन्न होते हैं। उन्हीं से व्यक्त संसार से पहले अव्यक्त प्रकृति रूप रात्रि उत्पन्न होती है (विद्यमान रहती है) और गतिशील सूक्ष्म कणों के रूप में व्यापक जल बनता है।[1]

ऋत वह मूलभूत तत्त्व है जो निरन्तर अपने स्वाभाविक रूप में गतिशील रहता है। वह गति प्रत्येक पदार्थ की गति, सापेक्ष गति भी हो सकती है, वह काल की अबाध गति भी हो सकती है और वही प्रत्येक पदार्थ या तत्त्व के केन्द्र में विद्यमान परमाणुओं की गति भी हो सकती है। सार यह कि इस गति के बिना सृष्टि की कल्पना भी नहीं की जा सकती। सृष्टि से पूर्व की स्थिति में एक परमेश्वर होता है जो स्थिर अपरिवर्तनीय है। उस समय की स्थिति में सत् असत् का विश्लेषण हो ही नहीं सकता।[2] जिसे उपरिनिर्दिष्ट मन्त्र में समुद्र अर्णव कहा गया है उसके मूल में भी गति (ऋ-ऋत) तत्त्व विद्यमान है। इसे ही एक अन्य स्थल पर सब देवों (तत्त्वों) का मिलना अथवा गति करना कहा गया है।[3]

उपर्युक्त ऋत के साथ-साथ सत्य भी सृष्टि के आधार में स्थायी तत्त्व है। ऋत गतिशील या गति प्रदान करने वाला तत्त्व है तो सत्य वास्तविकता है, अस्तित्व है—(सन्तमर्थमाययति)। सम्भवतः दोनों तत्त्वों के इस मौलिक तथा सभी पदार्थों के आधार में समान महत्त्व के कारण बहुत स्थानों पर वेद में ही इन दोनों का प्रयोग पर्यायवाची रूप में भी हुआ है।

---

* प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली (भू0पू0)

अथर्ववेद (12, 11) के अनुसार पृथिवी को धारण करने वाले ये दो प्रमुख तत्त्व हैं। सत्य जहाँ बृहत् महान् या व्यापक है, वहीं ऋत उग्र, कठोर या शाश्वत है।[4] 'एक अन्य मन्त्र' में कहा गया है कि पृथिवी सत्य के द्वारा थामी गई है, द्युलोक भी सत्य के द्वारा थामा गया है, ऋत अर्थात् निरन्तर गति से आदित्य अपने स्थान पर स्थिर है, इसी प्रकार ऋत से ही सोम (चन्द्रमा) द्युलोक में स्थित है।[5]

ऋत गति है क्योंकि सभी आदित्यादि ज्योति पिण्ड अपने-अपने मार्ग में निश्चित गति करते हैं। इस गति के प्रतीक रूप में ऋत की व्याख्या निरुक्त में जल के रूप में सब ओर पहुँचने वाला बताकर की गई है।[6] ऋत के मूल में गत्यर्थक √ऋ धातु है। सदा एक ही स्थिति में निर्विकार रहने वाले परमेश्वर की तुलना में समस्त व्यक्त सृष्टि में गति मूल तत्त्व है। साम्यावस्था में सृष्टि हो ही नहीं सकती। जब सत्व, रजस्, तमस् तीनों गुणों की साम्यावस्था में विक्षोभ होता है, तभी सृष्टि का आरम्भ होता है। विक्षोभ अथवा हलचल गति का ही दूसरा नाम है। यह गति प्रत्येक तत्त्व के एक-एक कण में विद्यमान है जिसके नाभिक अथवा केन्द्र में निरन्तर प्रोटॉन, न्यूट्रॉन और इलेक्ट्रॉन गति करते रहते हैं। वैज्ञानिकों ने इनसे भी सूक्ष्म परमाणुओं का पता लगाया है जिन्हें न्यूट्रीनो नाम दिया गया है। इन न्यूट्रीनों का प्रतिकण भी होता है। इन दोनों में से एक अपने अक्ष पर दक्षिणावर्त्त घूमता है तो उसका प्रतिकण वामावर्त घूमता है। यह अत्यधिक ऊर्जा का कण है। इसकी गति प्रकाश की गति के समान होती है।[7]

एक मन्त्र में नदियों (धाराओं) की गति को बताने के लिए ऋत शब्द प्रयुक्त हैं और सूर्य को सत्य का विस्तार करने वाला कहा गया है।[8] क्या यहाँ नदियों से सूक्ष्म कणों की धाराओं की गति अभिप्रेत नहीं है? अन्यथा भी ऋत गति का द्योतक तो है ही।

जैसा कि ऊपर बताया गया है, ये ऋत और सत्य दोनों ही नाम वेदों में ही अनेक स्थानों पर समानार्थक हो गये हैं। एक मन्त्र में सत्य के साथ असत्य के अर्थ में अनृत के प्रयोग से इस तथ्य की पुष्टि होती है। वह मन्त्र आपः (व्यापक सृष्टि-जल) के सम्बन्ध में बताता है कि सूक्ष्म वाष्प-कणों के रूप में यह जल सदा मध्यमस्थान (अन्तरिक्ष) में व्याप्त (आप्) रहता है और वहीं अपनी व्याप्ति के द्वारा वरुण (व्यापक परमेश्वर) सबका राजा होकर पहुँचा रहता है और वहीं से समस्त जनों के सत्य और असत्य आचरणों को देखता रहता है।[9]

वैदिक दृष्टि में सत्याचरण के साथ-साथ सत्य वास्तविक तत्त्व भी है। तभी तो अन्यत्र कहा गया है कि प्रजापति ने सत्य और असत्य (अवास्तविक) दोनों को अलग किया और केवल सत्य (वास्तविकता) में श्रद्धा (विश्वास) का आधान किया, अनृत (अवास्तविक, मिथ्या) में नहीं।[10]

पदार्थों की ऊपरी, बाह्य रूप-रचना देखकर जिसे हम वास्तविक समझ बैठते हैं, वास्तविक तत्त्व वह नहीं है। उस वास्तविक तत्त्व को जानने पर पहचानने के लिए ऊपरी आवरण हटाकर उसके पीछे देखना पड़ता है। तब वास्तविक सत्य तत्त्व का ज्ञान होता है। वही तत्त्व सृष्टि के सभी पदार्थों के मूल में है।[11]

अग्नि भी अपने स्वरूप से और अपने दाहक तथा दान और आदान अर्थात् सभी कुछ लेकर भस्म करने वाले तत्त्वों से युक्त है और क्रान्त (स्थूल दृष्टि से न देखे-जाने योग्य) कार्य करता है। इसलिए वह

सत्य है और अद्‌भुत कीर्ति वाला है।[12] विज्ञान उसके इस स्वरूप को समझ उसके विविध प्रयोग करता है। अग्नि का स्वरूप सत्य इसलिए भी है क्योंकि विद्युत् और सूर्य में भी यही रूप होने के कारण उन्हें भी अग्नि ही कहा गया है।[13]

इन सभी पदार्थों या मौलिक भौतिक तत्त्वों में एक ऋत सदा स्थायी सूत्र है और अनृत मिथ्या तत्त्व कौन-सा है, इसकी खोज करता है। वहाँ प्रेरणा दी गई है कि पृथिवी और आकाश को प्रत्यक्ष जानने वाले विद्वान् इस तथ्य का अन्वेषण करें क्योंकि विज्ञान का रहस्य इस अन्वेषण में छिपा हुआ है।[14]

इससे अगले ही मन्त्र में फिर ऋत की खोज का स्वर मुखर हुआ है क्योंकि वहाँ फिर प्रश्न है कि हे देवों अथवा मूल तत्त्वों, तुम्हारे ऋत (शाश्वत नियम) का स्थान क्या है और सर्वव्यापक वरुण (आवरक तत्त्व) की दृष्टि कहाँ है? हम महान् अर्यमा (शत्रुओं के नियामक सूर्य) के किस सत्य मार्ग से दुरूह ग्रन्थियों का उत्क्रमण करें।[15] निश्चय ही वह शाश्वत नियम का मार्ग है।

ऋत ही ऐसा तत्त्व है जो पदार्थों को उनके मूल रूप में स्थिर रखता है। इस मूलभूत स्थिरता, शाश्वत रूपता का नाम ऋत है। इसके विपरीत पदार्थों का परिवर्तनशील रूप अनृत है। यह रूप आयु से सीमित है। वा० सं० 7.40 के मन्त्र **एष ते योनिऋतायुभ्यां त्वा** की व्याख्या करते हुए शतपथ में कहा गया है कि ब्रह्म ही ऋत है, ब्रह्म ही मित्र है, ब्रह्म ही ऋत है। वरुण ही आयु है, वरुण संवत्सर है (क्योंकि वह परिवर्तनशील है), वरुण ही संवत्सर है, आयु है।[16]

बृहस्पति, परमेश्वर (बृहतां पाता वा पालयिता वा) भी ऋतप्रजात (ऋ० 2.23.15) है क्योंकि उससे ही ऋत, शाश्वत नियम का जन्म होता है। अग्नि को भी ऋतप्रजात कहा गया है क्योंकि वह ऋत का वाहक है (ऋ० 1.65.5) उसके मूल में शाश्वत नियम निरन्तर रहता है, जल से सम्बद्ध विद्युत रूप अग्नि में भी वही शाश्वत तत्त्व विद्यमान रहता है। ऋ० 10.67.1 में भी बुद्धि को ऋतप्रजाता कहा गया है क्योंकि वही उत्तम स्थिति में ऋत को उत्पन्न करती है। उत्कृष्ट रूप में बुद्धि, अध्यात्म अथवा विज्ञान के माध्यम से ऋत का ही अन्वेषण करती है। इसी क्रम में उषा को भी ऋतपा और ऋतजा कहा गया है क्योंकि वह शाश्वत नियम का पालन करती हुई चलती है।[17]

ऋत को सभी पदार्थों की आद्य शक्ति के रूप में देखा गया है।[18] यह शक्ति विनाशकारक भी है। वैज्ञानिक इस विषय में निश्चित ज्ञान रखते हैं कि ऋतरूप परमाणुओं के विखण्डन में कितनी शक्ति निहित है जो विनाशक भी हो सकती है। यही नहीं, ऋत के, अर्थात् प्रत्येक पदार्थ के मूल सूक्ष्म तत्त्व के धारण स्थान सुदृढ़ और सुनिश्चित होते हैं। एक-एक पदार्थ-शरीर के लिए वे ही बहुत आह्लादक अर्थात् उसे उसके रूप में धारण कर महत्त्व प्रदान करने वाले होते हैं। अन्न भी उस ऋत का फल है और ऋत से ही गौएं (सूर्य-किरणें) ऋत में (शाश्वत नियम में) प्रविष्ट होती हैं।[19] सार यह कि वेद के अनुसार प्रत्येक पदार्थ और उसकी गति में मूल तत्त्व के रूप में ऋत विद्यमान है। विस्तार के कारण बहुत रूपों वाले पृथिवी और अन्तरिक्ष को पृथिवी बताकर उन्हें गम्भीर कहा गया है क्योंकि उनमें विद्यमान प्रत्येक तत्त्व का अभी तक पूर्ण ज्ञान नहीं हो सका है। ये दोनों ही परम गौएं कही जाती हैं जो ऋत अर्थात् शाश्वत तत्त्व के लिए (उसके नियमानुसार)

दोहन करती हैं अर्थात् असंख्य पदार्थों को उत्पन्न करती रहती हैं (प्रकट करती हैं)।[20]

एक मन्त्र में अग्नि (परमेश्वर) को सम्बोधित करके कहा गया है कि अविनाशिनी, अखण्ड रूप में बहने वाली, मधुर जलों वाली दिव्य नदियाँ (अर्थात् सर्वत्र व्याप्त जलकण) ऋत या शाश्वत नियम से प्रेरित होकर सदैव बहने के लिए धारण की गई है, निरन्तर गति करती है।[21]

जिन नदियों का वर्णन ऊपर किया गया है, ये सामान्य जल की नदियाँ नहीं हैं। ये अमर हैं और अबाधित हैं। इससे यह सङ्केत मिलता है कि ये सृष्टि के आरम्भ से ब्रह्माण्ड में व्याप्त सूक्ष्म जलकणों (आपः) की धाराएँ हैं जो ऋत, शाश्वत नियम, निरन्तर गति से प्रेरित है। यह गति ऐसी है जैसी युद्ध के लिए सदैव तैयार घोड़े की होती है, अर्थात् निरन्तर गति है। ऋत निरन्तर गति का ही नाम है।

सूर्य रूपी पौरुष युक्त बलिष्ठ अग्नि वृषभ अर्थात् वर्षा के रूप में कामनाओं का वर्षक है। वह भी ऋत से अर्थात् निरन्तर गति रूपी शाश्वत नियम से लिपटा हुआ अर्थात् युक्त है। वह स्पन्दित न होता हुआ अथवा स्तिमित गति से विचरण करता है। सबकी आयु को धारण करने वाला वह वर्षक पृश्नि अन्तरिक्ष रूपी ऊध का दोहन करता है और शुक्र अर्थात् बलिष्ठ जल की वृष्टि करता है।[22]

इससे अगले ही मन्त्र में ऋत (नियमित गति) के साथ अंगिरसों (वायु सहित विद्युत) गौओं (किरणों), उषा, सूर्य और अग्नि का सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि इस ऋत के द्वारा ही अंगिरस विद्युत् मेघ का भेदन करते हुए उसे (खाली करके) दूर फेंक देते हैं और (गतिशील) किरणों के साथ संयुक्त होकर प्रशंसित होते हैं, वे नेतृत्वगुणयुक्त (ऋतपालक) उषा के पास रहते हैं और जब (उषा का तीव्र प्रकाश रूप) अग्नि प्रकट होता है तो सूर्य दिखाई देता है।[23] अग्नि, सूर्य, उषा-तीनों अग्नि रूप होने के कारण ऋत (शाश्वत गतिमय नियम) से ही सम्बद्ध हैं। तब प्राणियों के सुख के लिए उनकी यह क्रिया-प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। मन्त्र से ही मेघस्थ विद्युत, वायु और अग्नि का गतियुक्त स्थायी सम्बन्ध स्पष्ट होता है।

बहुत काव्यात्मक शब्दों में एक मन्त्र में प्रश्न किया गया है कि पहले वाला (पुराना) ऋत कहाँ गया और नया कौन उसे धारण करता है? द्युलोक और पृथिवी ये दोनों ही मेरे लिए उस तत्त्व को जानती हैं (और बताती हैं)।[24]

मरुत् (विभिन्न स्तरों पर विभिन्न प्रकार से चलने वाली वायुएँ) ऋतसाप हैं अर्थात् ऋत से संयुक्त हैं। वे ऋत अर्थात् शाश्वत नियम के अनुसार चलती हैं। इस ऋत के द्वारा ही वे सत्य को प्राप्त होती हैं। मेघ, वर्षा, विद्युत् आदि के माध्यम से उनका सत्य स्वरूप प्रकट होता है, उनके वास्तविक कार्य उनके दीर्घकालिक हित से प्रकट होते हैं। कारण यह है कि वे शुचिजन्मा हैं, उनका जन्म ही पवित्रता से पवित्रता के लिए हुआ है अतः वे पवित्र हैं।[25] अथवा वे ज्वलनशील या ज्वलनसहायक तत्त्वों से युक्त हैं।[26]

उषाओं को ऋत (शाश्वत नियम) से युक्त घोड़ों अर्थात् किरणों के द्वारा सब लोकों पर फैल जाने वाली कहा गया है।[27] किरणों की यह गति ही ऋत है—यह ऐसा ऋत है जिससे विज्ञान ज्योतिःपिण्डों की दूरी मापता है। विज्ञान के शाश्वत नियम के अनुसार सदा से ये उषायें एक-सी हैं; अतः इनके लिए यह कहना

असम्भव है कि इनमें से कौन सी पुरानी है और वह कहाँ है? वे सब एक जैसी चमक वाली चलती हैं और जीर्ण न होने वाली वे नये पुराने के भेद से नहीं जानी जातीं।[28] विज्ञान भी इन्हीं शाश्वत रूपों और नियमों की खोज करता है। उषाओं के पीछे एक ही तत्त्व की समानता है जिसे ऋत कहा जाता है। उनके प्रकाश में, गति में, काल में, स्वरूप में वही एक समान तत्त्व विद्यमान रहता है। उसे ही सत्य कहा जाता है।

इस प्रसंग में उषा का 'ऋतावरी' विशेषण ध्यान देने योग्य है जिससे स्पष्ट है कि उषा ऋत अथवा शाश्वत नियम अथवा सत्य को धारण करने वाली है और उससे ही प्रकाशित होने वाली या उसको अपने व्यवहार से प्रकाशित करने वाली है। यह ऋत अथवा सत्य उषा के मूल रूप सूर्य से ही अनुप्रेरित है। अनेक वेदमन्त्रों में उषा/उषाओं के प्रसंग में 'ऋतावरी' विशेषण का प्रयोग हुआ है।[29] इसी प्रकार विद्युत् और अन्तरिक्ष ऋतावरी हैं।[30] द्युलोक और पृथिवी भी ऋतावरी है।[31] क्योंकि सबके पीछे ऋत अथवा सत्य-नियम कार्य कर रहा है। ये दोनों बलिष्ठ हैं, देवों-विभिन्न दानादिगुणयुक्त पदार्थों को उत्पन्न करने वाली (और इस प्रकार) ये यज्ञ को आगे ले जाने वाली बढ़ाने वाली हैं।

इसी प्रकार सूर्य और पवन अथवा रस और ज्योतिरूप अश्विनौ भी ऋत अथवा शाश्वत नियम से बढ़ने वाले बताये गये हैं।[32] मित्रावरुणौ अर्थात् सूर्य और वायु भी सत्यनियम से बढ़ने वाले हैं।[33]

सूर्य के विभिन्न रूप यथा वरुण (व्यापक प्रकाश वाला और अन्धकार-रोधक), मित्र (मित्र के समान हितकारी और सुखकर) तथा अर्यमा (शत्रुओं को नियन्त्रित करने वाला) ऋत से युक्त है, अपनी क्रियाओं और गति में ऋत का स्पर्श करने वाले, गतिशील जनों को आगे ले जाने वाले, शोभनदानी और शोभन नेतृत्व करने वाले हैं।[34]

इस प्रकार वेद में ऋत और सत्य सभी देवों अथवा दानादिगुणयुक्त प्राकृतिक पदार्थों के मूल में बताये गये हैं। उनके पीछे शाश्वत नियम और सतत गति की प्रच्छन्न प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है।

सन्दर्भ सङ्केत :

1. ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः।। ऋ0 10.190.1.
2. नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्। ऋ0 10.129.1
3. तमिद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे। ऋ0 10.92.6
4. सत्यं बृहद् ऋतुमुग्रं.............पृथिवीं धारयन्ति।
5. सत्येनोत्तभिता भूमिः सत्येनोत्तभिता द्यौः। ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधिश्रितः।। ऋ0 10.85.1
6. ऋतमित्युदकनाम। प्रत्यृतं भवति। नि0 205
7. Every particle is accompanied by another particle neutrino. It is high energy particle, Its speed is equal to light speed. (Atomic energy-Macmillon and Co. Ltd., London).
8. ऋतमर्षन्ति सिन्धवः सत्यं तातान सूर्यः। ऋ0 1105.12
9. यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यन् जनानाम्। ऋ0 7.49.3
10. दृष्ट्वा रूपे व्याकरणाद् सत्यानृते प्रजापतिः। अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापति। वा0 सं0 1977

11. हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।। वा0 सं0 40.17
12. अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः।। ऋ0 1.1.5
13. अप्येते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते। निरुक्त 7.16
14. अमी ये देवाः स्थन त्रिष्वा रोचने दिवः।
कद्व ऋतं कदनृतं क्व प्रत्ना व आहुतिर्वित्तं मे अस्य रोदसी।। ऋ0 1.105.5
15. कद्व ऋतस्य धर्णसि कद्वरुणस्य चक्षणम्। कदर्यम्णो महस्पथाति कामेम दूढ्यः।। ऋ0 1.10506
16. ब्रह्म वा ऋतं ब्रह्म हि मित्रो ब्रह्मो ह्यृतं वरुण एवायुः संवत्सरो हि वरुणः संवत्सर आयुः। श0 ब्रा0 4.1.4.10
17. ऋ0 1.113.12
18. ऋतस्य हि शुरुध सन्ति पूर्वीः। ऋ0 4.23.8
19. ऋतस्य दृव्हा धरुणानि सन्ति पुरूणि चन्द्रा वपुषे वपूंषि।
ऋतेन दीर्घ मिषणन्त पृक्ष ऋतेन गाव ऋतमा विवेशुः।। ऋ0 4.23.9
20. ऋताय पृथिवी बहुले गभीरे ऋताय धेनू परमे दुहाते।। ऋ0 4.23.10
21. ऋतेन देवीरमृता अमृक्ता अर्णोभिरापो मधुमद्भिरग्ने।
वाजी न सर्गेषु प्रस्तुभानः प्र सदमित्सवितवे दधन्युः।। ऋ0 4.3.12
22. ऋतेन हि ष्मा वृषभश्चिदक्तः पुमाँ अग्निः पयसा पृष्ठ्येन।
अस्पन्दमानो अचरद्वयोधा वृषा शुक्रं दुदुहे पृश्निरुधः।। ऋ0 4.3.10
23. ऋतेनाद्रिं व्यसन् भिदन्तः समङ्गिरसो नवन्त गोभिः।
शुनं नरः परिषदन्नुषासमाविः स्वरभवज्जाते अग्नौ।। ऋ0 4.3.11
24. क्व ऋतं पूर्व्यं गतं कस्तद् बिभर्ति नूतनो वित्तं मे अस्य रोदसी।। ऋ0 1.105.4
25. ऋतेन सत्यमृतसाप आर शुचिजन्मानः शुचयः पावकाः।। ऋ0 7.56.12
26. शुचिः शोचतेर्ज्वलति कर्मणः। निरु0 601. यद् (अग्नेः) शुचि (रूप) तद्दिवि (न्यधत्त) श0 ब्रा0 2.2.1.14
वीर्यं वै शुचि यद्वा अस्य (अग्नेः एतदुज्ज्वलत्येतदस्य वीर्य शुचि। श0 ब्रा0 2.3.18)
27. यूयं हि देवीऋतयुग्भिरश्वैः परिप्रयाथ भुवनानि सद्यः ।। ऋ0 4.51.5
28. क्व सिदासां कतमा पुराणी यया विधाना विदधुर्ऋभूणाम्।
शुभं यच्छुभ्रा उषसश्चरन्ति न विज्ञायन्ते सदृशीरजुर्याः।। ऋ0 4.51.6
29. ऋतावरि–ऋ0 2.11, ऋतावरी–ऋ0 6.619, ऋ 3.54.4, 3.61.6, ऋ0 4.52. 2, ऋतावरीम्–ऋ0 5.80.1; ऋतावरी–ऋ0 3.56.5
30. ऋ0 1.160.1
31. देवी देवेभिर्यजते यज त्रैरमिनती तस्थतुरुक्षमाणे।
ऋतावरी अद्रुहा देवपुत्रे यज्ञस्य नेत्री शुचयद्भिरकैः।। ऋ0 4.56.2
32. (ऋतावृधा) तु अश्विनौ ऋ0 1.47.1 यद्व्यश्नुवाते सर्व रसेनान्यो ज्योतिषान्यः। निरुक्त 12.1
33. (ऋतावृधौ) ऋ0 1.2.8
34. ते हि सत्या ऋतस्पृश ऋतावानो जने जने।
सुनीथासः सुदानवोऽहोश्चिदुरुचक्रयः।। ऋ0 5.67.4

❐

Ancient India's Contribution To Cosmology

Prof. D.R. Sharma *

Here is an eye-opener to the richness of ancient Indian thought on cosmology. Citing parallels between ancient ideas, intuited by the seers of old, and modern scientific facts, derived from experiments in the laboratory as well as from 'thought experiments',

The galaxy called the Milky Way in which our solar system is situated, contains about 100 billion stars. One can easily see it as a broad band of stars running across the sky on any moonless night. It takes light, travelling at the speed of 300,000 kilometers per second, 100 000 years to cross the Milky Way. Yet it is just a tiny spot in the entire Universe because there are no less than 100 billion galaxies in the visible Universe—that part of the Universe which is within the reach of the modern telescopes. The visible Universe is merely a fraction of the actual! It is mind boggling when we learn that this vast incomprehensible Universe is still continuously expanding.

When we look at the Universe, we are seeing it as it was in the past. If the nearest star from the Earth, Proxima Centuari were to disappear today, we will come to know about it only after four years- the time it will take light to reach us. So we could be seeing stars which don't exist at all! When we talk about the possibility of life on planets other than the Earth, we are considering life on other planets in our solar system only. What about the possibility of life in the entire Universe? The famous British physicist Arthur Eddington gave us the formula. According to him, at least one per cent of the stars should have a planet like ours that could support life. The calculation is easy. The observable Universe could contain at least billion billion some kind of life—supporting places.

* Vice-Chancellor, Vikram University, Ujjain, Madhya Pradesh [Retd.]

Einstein's greatest mistake

Till 1929, when Edwin Hubble observed that the distant galaxies are moving away from the Earth and thus indicating that the Universe is expanding, the Western world had implicit faith in their theology according to which the Universe was created in 4004 B.C. and since then is in a static state. On all accounts such a recent origin of the Universe should have raised doubts in some minds at least, but nobody is known to have raised the issue. Even a great scientist like Einstein could not free himself from the theological belief. On the basis of the equations of his general theory of relativity, Einstein could have been the first to prove scientifically that the Universe is expanding. However, his belief in the static Universe was so strong that he went out of his way to modify his equations by introducing an imaginary factor known as the 'cosmological constant' to avoid the right conclusion. In 1932, when Alexander Friedman, the Russian physicist and mathematician, using Einstein's equations, proposed a model of the expanding Universe, Einstein withdrew his 'cosmological constant' and declared that it was the greatest mistake of his life.

Recently, some scientists have tried to revive the idea of the 'cosmological constant', but that is for the purpose of sorting out the age of the Universe and that too in a manner that will affect only the rate of expansion of the Universe. It is mentioned here merely to point out that scientific views are changeable. There is no finality about a scientific theory. Stephen Hawking says. "No matter how many times the results of the experiment agree with some theory, you can never be sure that the next time the result will not contradict the theory. You can disprove a theory by finding even a single observation that disagrees with the prediction of a theory." On the other hand, great philosophical truths survive all the time. A philosophy such as that of Bhagvad Geetā, good for all the people for all the time, was termed as 'perennial philosophy' by Aldous Huxley.

Big Bang

A definite modern theory of the origin of the Universe was formulated only in 1960s by Stephen Hawking and others. According to this theory called the Big Bang theory, the Universe originated by the huge cosmic explosion in singularity i.e., a point with infinite temperature, infinite density and infinitesimal volume generally called 'zero' volume. The singularity theorem was originally proposed by Roger Penrose of Oxford University. At singularity all the equations break down. It is the ultimate unknowable in science. Some call it as an interface between natural and supernatural. We have to bear in mind that the Big

Bang created not only all the matter and energy of the Universe, but time and space as well. The singularity 'mysticism' is not acceptable to some cosmologists who are keen to frame new theories of the origin of the Universe which do not involve singularity. The Universe has been expanding continuously ever since its origin, about 15 billion years ago. It is believed that the rate of its expansion will slow down and the Universe will begin to contract and ultimately come to end. The end of the Universe is known as a Big Crunch. It is the return of the Big bang in reverse. Just as the Universe came into existence from singularity, it will end in singularity. The theories which do away with singularities explain the origin of the Universe out of nothing and when such a Unvierse comes to an end it leaves nothing. We shall refer to one such theory later.

Ancient Wisdom

Without going into technicalities and many other details, we can say that the three basic tenets of modern cosmology are : (1) The Universe is very old and had an origin about 15 billion years ago. (2) It has been expanding ever since its origin. (3) It will continue to expand for the next ten billion years or so. Then it will begin to contract and come to an end. It has surprised many, particularly the Western thinkers that all this and much more was already known to the Indians from time immemorial. Even before the modern scientists arrived at the above conclusions, Swami Vivekananda who visited America in the last decade of the nineteenth century, spoke about ancient Indian cosmology at several places there. He went to the extent of telling his American audience that if they found any difference in the Vedic theory of Cosmos and what was then known to science, it was their science that was wrong. How prophetic were his words! Not only in the Vedas, but in several Purāṇas and tāntric literature we have cosmological descriptions some of which can stand the test of modern science. The idea of periodically expanding and contracting Universe which involves time and space of vast proportions is a feature of Indian cosmology. The sages gave the name 'Kalpa' to this unimaginable time-span between the beginning and end of one creation. Fritjof Capra says : "The scale of this ancient myth is staggering; it has taken human mind two thousand years to come up again with a similar concept."

The fact that the Universe is expanding is clearly indicated by the very word 'Brahmāṇḍa' which is derived from the verb 'Bṛh' which means to expand. There are a number of verses in Bhagvad Geetā where Yogeshvar Kṛṣṇa declares that He creates, sustains and dissolves the Universe. It is clearly stated in several verses that creation and dis-

solution of the Universe is a cyclic phenomenon.

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते।। Geeta, 9.10

"This material nature which is one of My energies, is working under My direction, O son of Kuntī, producing all moving and non-moving beings. Under My direction, this Cosmos is created and annihilated again and again."

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्।। Geeta, 9.18

"I am the goal, the supporter, the Lord, the witness, the abode, the shelter, the friend, the origin, the dissolution, the foundation, the treasure-house and the seed which is imperishable." The Lord is said to be treasure-house, because all life after dissolution takes shelter in Him.

There is a remarkable statement about Indian cosmology in a recent book entitled 'Does God Play Dice? The New Mathematics of Chaos' by Ian Steward. He says : "The Hindus, for example, ascribe to chaos a more subtle role than mere formless confusion, and recognize the underlying unity of order and disorder. In classical Hindu mythology the Cosmos passes through three major phrases : creation, maintenance and destruction - mirroring birth, life and death. Brahmā is the God of creation, Viṣṇu the God of maintenance (order) and Śiva the God of destruction (disorder). But Śiva's personality is multifaceted. Śiva is he who walks on the wild side, the lone hunter, the dancer, the yogin who withdraws from the human society, the ascetic covered with ash, the untamed. The distinction between the order of Viṣṇu and the disorder of Śiva is not between good and evil. It represents instead, two different ways in which divinity manifests : benevolence and wrath; harmony and discord."

Nāsadīya sūkta

Modern cosmologists speak about complete 'void' before creation. In some of the Indian scriptures this void has been appropriately called 'śūnyātiśūnya' or 'mahaśūnya' state. It is impossible to conceptualize the 'void'. If there was no space, no matter and no time before creation, the question is what existed and where? Nāsadīya sūkta comments on this 'void' beautifully and very meaningfully.

नासद् आसीन्नो सद् आसीत् तदानीं नासीद् रजो नो व्योमा परो यत्।
किम् आवरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किम् आसीद् गहनं गभीरम्।।
न मृत्युर् आसीद् अमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तद् एकं तस्माद्धान्यन् न परः किंचनास।।

Ṛg, 10.129.1-2

"Neither non-being nor being was as yet, Neither was any space nor heavens beyond;

What was enveloped? And where? Sheltered by whom? And was there water? Bottomless and unfathomed?

Neither was there death nor immortality. Nor was there any sign then of night and day;

Totally windless, by itself, One breathed; Beyond That, indeed, nothing whatever was."

Nāsadīya sūkta is becoming quite popular with cosmologists. After commenting on it, Francis Dore of Paris University says : "The most advanced contemporary scientific thought finds reflection in the sacred books of Hindu philosophy." However, Dore missed a very subtle and significant point in the sūkta. It says, 'there was no indication of day and night' thereby clearly suggesting that time was also not present in the 'void' and that it originated only with creation-something arrived at by science only in 1960s. It is, therefore, no wonder that while the term 'spacetime' came into vogue only after Einstein's theory of relativity, its Sanskrit equivalent 'deśkāl' has been used in innumerable Indian texts - both very ancient and recent.

The ONE breathed by itself

To my mind, the most astonishing and highly significant lines in the sūkta are the last two according to which, what existed before the creation was the One - That Absolute. It is said to be breathing by itself without air. It was self pulsating. It had no physical cause. In fact, it was the cause of every other thing including the material world. Beyond that there was absolutely nothing else. Now let us consider a close parallel of this loftiest height of intuitional perception of the Indian sages in modern cosmology.

In his historical 1973 article 'Is the Universe a vaccum fluctuation?' Edward Tyron argues that the Universe can be created out of quantum vacuum. However, his calculations

suggested that any universe formed from the vacuum will be very tiny and short-lived. In 1980s Alan Guth and later others took up the idea and showed how such a tiny Universe could survive and become promoted into a real astronomically large cosmos. The mechanism by which it could happen is known as the inflationary scenario. During the brief inflationary period, the Universe, originating as a quantum vacuum, increases exponentially in size. John Gribbin calls it a 'key ingredient of the modern version of the Big Bang theory'. The entire idea about the 'ex nihilo origin of the Universe from the quantum vacuum is speculatory and based on mathematical modeling. Many new versions of the inflamatory theory are being formulated. What is noteworthy, however, is the close parallel between the most ancient Vedic concept and the most modern idea of new cosmology. The analogy is between the vacuum fluctuation and self pulsation in the 'Mahāśhūnya' (nothingness).

Cosmos born of Yajña

In the Indian tradition creation is not a mechanical construction. 'According to Ṛgveda it is a spiritual act - a yajña or sacrifice through which the Absolute reveals its splendour (यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञम् अतन्वत।) The 'ṛt' (cosmic order) and 'truth' are also born of blazing spiritual fire (ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत।) The divine yajña or sacrifice responsible for the emergence of Cosmos has a wonderful parallel in modern cosmology. The pulsating quantum vacuum mentioned above when excited, releases immense energy which gets utilized in the creation of vast number of particles and antiparticles. The important thing is that for every billion antiparticles, one billion and one particles are created. This is the ratio in which particles and antiparticles are believed to have gone into the Big Bang. When they collide, they explode and annihilate each other, leaving unscathed one particle. It is from such surviving particles from every billion and one that all matter and energy in the entire Universe - all galaxies, stars, planets and of course all life including ourselves - were created.

The annihilation of particles and antiparticles produced immense quantity of gamma ray-protons which cooled gradually during the last 15 billion years or so and degenerated into thermal radiation, which fills the whole word today. It was first discovered in 1965 by two Americans, Arno Penzias and Robert Wilson, who shared a Nobel prize for this important discovery. The magnitude of this yajña or sacrifice (in the from of annihilation of particles and antiparticles) necessary for the emergence of the Universe is beyond human comprehension.

Schrodinger's Cat and Multiple Universes

In 1935 Erwin Schrodinger published a thought experiment which later became famous as 'Schrodinger's cat.' This experiment provoked intense debate which is still going on. Theoretical physicists continue to write papers on the subject, but no consensus has yet been reached about the implication of the experiment. Incidentally, in physics thought experiments are as important as experiments carried out in the laboratories. It was partly on the basis of thought experiments that Einstein derived his theory of relativity.

Before coming to his cat, let us first get to know a little about Schrodinger himself because his famous book 'What is Life?' not only attracted the attention of some of the best minds of his generation, but is still read with interest by both scientists as well as philosophers. Schrodinger was greatly influenced by Schopenhauer who is well known admirer of the perennial philosophy of Bhagvad Geetā which he always kept by his bedside. Schrodinger had also read Paul Deussen's 'The System of Yoga' and Richard Garbe's 'Sāṅkhya and Yoga.' Walter Moore writes : ''Erwin was an enthusiastic explorer of Hindu mysticism and in the mountain of his beloved Tirol he sought a philosophical unity of Mind and Nature."

Schrodinger's major contribution to physics was his discovery of 'Wave mechanics' for which he was awarded a Noble prize in 1933. The concept of his cat experiment is very simple, but its implications are profound. Imagine a big box that contains a live cat along with a radioactive material, a detector for recording radioactivity and a sealed bottle containing some highly poisonous gas like cyanide. The experiment is set up for a specific time during which there is 50 per cent possibility of one of the atoms of the radioactive substance decaying. If there is radioactive decay, it will be recorded by the detector. As a consequence, the hammer kept in contact with the detector will fall on the bottle containing the poisonous gas. The bottle will break and the released gas will kill the cat. There is also a 50 per cent chance of the radioactive decay not taking place, resulting in the survival of the cat. So far this is simple and straighforward. However, according to the accepted interpretation of quantum mechanics, the cat in the box has to be in a 'superposition state' i.e., both alive and dead until we look at the result of the experiment! This sounds bizzare, but that is exactly the way this most successful branch of physics works.

Various attempts have been made by scientists to explain the paradox of Schrodinger's cat experiment. We shall refer to only one such attempt which is widely discussed and is relevant to our discussion. According to Hugh Everett both possibilities about

the cat are equally real. In other words, there is a live cat as well as a dead cat in the superposition state as required by the accepted interpretation of quantum mechanics, but these two cats are in two different worlds! If you see a dead cat, your duplicate in the other world sees a live cat. Both you and your duplicate are equally sure that your world is real. John Gribbin says : "It sounds like science fiction, but it goes far deeper than any science fiction and is based on impeccable mathematical equation and logical consequences of quantum mechanics." Everett's interpretation is supported among others by John Wheeler and Bruce Dewitt. There are other cosmological theories which indicate the presence of multiple universes. One of the latest is by Andre Linde, a well known cosmologist who suggest that our Universe is just an expanding bubble in an indefinitely old megauniverse in which universes like ours are eternally appearing.

Multiple universes entered science only after Schrodinger's thought experiment. In Indian mythology, on the other hand, multiple universes are quite common. In Śrīmad Bhāgavatam fourteen universes have actually been named. The description of infinite number of universes in 'Brahma Saṁhitā' seems far more meaningful both philosophically as well as scienitifically.

एकोऽप्यसौ रचयितुं जगदण्डकोटिं
यच्छक्तिरस्ति जगदण्डचया यदन्तः।
अण्डान्तरस्थपरमाणुचयान्तरस्थं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।

"He is an undifferentiated entity in that there is no distinction between the potency and the possessor thereof. In His work of creation of millions of worlds, His potency remains inseparable. All the universes exist in Him, and he is present in His fullness in every one of the atoms that are scattered through the universe, at one and the same time. Such is the primeval Lord whom I adore."

The Supreme Person according to Vedic concept is non-different from His parts. He is complete and absolute and remains so even when complete units emanate from Him. Richard Thompson explains this with an idea in the mathematical theory of sets. He says : "One infinite set can be taken away from another infinite set without depleting it. For example, if we take the set of all odd integers away from the set of all integers, we obtain the set of even integers. If these are then divided by two we are once again left with the set of all integers."

Space Travel

In Indian mythology there are several references to space travel. For example, king Indradyumna who is said to have built the famous temple of Lord Jagānnath in Purī went to 'Satyaloka' for some years. When he returned to the Earth, no one was present to greet him. In fact, no one could recognize him. Modern science recognizes the theoretical possibility of going from one universe to the other. Schewarzschild's solution to Einstein's equations also provide the possibility of connecting two universes by what is called a 'wormhole' which is a tunnel through spacetime linking the two universes. We don't know how king Indrayumna went to Satyaloka, but he had to travel very fast because of very great distance he had to cover. We can explain scientifically why no one could recognize him when he arrived back on the Earth. According to the famous 'twin paradox' of the relativity theory, one of the twin brothers goes into the space at very high speed and returns to the Earth after spending one year. On his return he finds that his twin brother has meanwhile passed ten years of his life. In other words, his one year in space equals ten years on the Earth. Now, suppose the king had gone to 'Satyaloka' at a very high speed and returned after ten years, one hundred years would have lapsed on the Earth. It was, therefore to be expected that none of the king's men would survive that long. So the question of greeting the king on his return to the Earth or recognizing him just did not arise. The twin paradox is not a paradox in the conventional sense. It is a reality because according to the special theory of relativity speed slows down time. This phenomenon can be easily demonstrated on the Earth itself using very accurate atomic clocks.

Time Travel

Time travel means travelling backwards in time or visiting the past. As early as 1895, H.G. Wells published his famous story 'The Time Machine' in which he indicated such a possibility. Although it was published ten years before Einstein's special theory of relativity, Wells, anticipated some aspects of Einstein's time with uncanny accuracy. Godel's solution to Einstein's equations reveals that time travel is not forbidden by the general theory of relativity. Frank Tipler published a paper in the Journal of Physical Review in 1971, in which he explained the mathematics of time travel. Later he described a design of the time machine by which you can visit the past. The secret of time travel is to locate or create CTC (closed timelike curve). We need not go into the technicalities of CTC except to mention that such CTCs does exist in nature and the artificial construction of CTCs is theoreti-

cally possible, but practically almost impossible. But then who had dreamt of a man landing on the moon just a few decades ago!

In his very recent article entitled 'The quantum Physics of time Travel' David Deutsch and Michael Lockwood both of Oxford University stress that common sense may rule out excursions into the past, but the laws of physics do not. They say : "If anything like many universes picture is true—and in quantum cosmology and quantum theory of computation no viable alternative is known—then all standard objections to time travel depend on false models of physical reality." In their article the authors explain how it is possible for a girl to travel in a time machine and visit her grandfather even before he was married to her grandmother. In other words, the girl was not yet born. Now here is a paradox. Suppose the girl kills her grandfather before he marries her grandmother, how could she be born? The authors successfully explain the paradox on the basis of multiple universes. Whether the girl prevents her own birth by killing her grandfather depends on which universe she leaves for her journey into the past. The universe she was born, her grandfther did marry her grandmother, because in that universe he received no visit from his granddaughter. In the other universe, the one to whose past the girl travels to, her grandfather does not marry that particular woman and the girl is never born. Thus, the fact that the girl is traveling in time does not constrain her action.

In Indian mythology, we not only have multiple universe, but at least one specific case of time travel. According to Rāmcharitmānas, Lord Śiva and Devī Pārvatī performed the worship of Vighnavināyaka Gaṇeśa at the time of their marriage. The sage poet Tulasīdasa is quite emphatic about his statement and asks the readers not to entertain any doubt about it. While some people may like to interpret the phenomenon differently, the point is whether we can deny its possibility in the light of most modern science.

Fate of Universe

According to modern cosmology, the fate of the Universe depends on the average density of mater in it. If it is less than a certain critical value, the Universe will continue to expand. In case it is greater than the critical value, the Universe will begin to contract after a few billion years and eventually come to an end in the Big Crunch. The surprising thing is that the average density calculated on the basis of observable data is hardly one percent of the critical value. However, we now know that the Universe also contains what is known as the 'dark matter'. It is called 'dark matter' because you can't see it. Strangely it does not

react like ordinary matter, but it has mass. In fact, there are good reasons to believe that 'dark matter' in the Universe is much more in quantity than the ordinary matter.

It has been mentioned earlier that you may be seeing a star in the sky that does not exist. Here is a case of something that does exist, but you can't see even when it is all around you! This should serve as some food for thought to those rationalists and positivists who believe that reality is ascertainable only through perception by senses.

Age of Universe

Cosmologists differ on the question of the age of the Universe. Due to certain very recent findings, this thorny problem is right back at the top of the agenda of the modern cosmologists. The predictions of our sages in this respect are not very different from those of the modern cosmologists. According to one view of the Indian cosmology, a 'kalpa' consists of one thousand cycles of four yugas, namely Satya, Tretā, Dwāpara and Kali. The Satya yuga lasts 17, 28, 000 years, the Tretā yuga 12,96,000 years, the Dwāpara yuga 8,64,000 years and Kali yuga 4,32,000 years. Thus in each cycle of four yugas there are 43,20,000 years. So one 'kalpa' and therefore the age of the present Universe is equal to 4.32 billion years. According to some, the present 'Sṛiṣṭi Saṁvata' is 197,19,61,667. According to this view the age of the present Universe is about 2 billion years. According to yet another view, the age of the Universe is far greater than the age of 15 billion years predicted by modern cosmologists. This is understandable because this ancient view takes into account the age of all 'kalpas'. Obviously, the modern cosmologists have no means of predicting the age of all the universe beyond the present one.

Means of Knowledge

The question that naturally comes to mind is : How could the Indian sages come to know the secrets of the Cosmos? One thing is definite that they did not depend on empirical observations. They must have perceived the cosmological and many other truths in the state of contemplation or 'Samādhi' achieved by withdrawing their senses, mind and intellect into pure consciousness. Naturally, it is possible for only those rare ones who lead a life of extreme purity and penance. Having realized the truth, the sages in their state of rare ecstasy, poured out the hymns in the form of sublime music. These hymns were much later assembled in the Vedas. In due course of time, systematic interpretation of the Vedas became the aim of the 'Mīmaṁsā' system of philosophy. Intellectual inferences and logical

deductions do play their part in the Indian tradition, but they are secondary and only means of explaining and expanding what has been 'seen' or discovered in a supramental state of consciousness.

Misconception about Science

One of the common misconceptions about science is that it is based entirely on experimental results. The truth is that more often than not, a great scientist thinks first and formulates an idea in his mind and then he or others perform experiments to see whether the experimental results confirm his idea or not. William Blake rightly says : "What is now proved was once imagined." Apart from its basic tenets most of the modern cosmology is mainly speculative in nature. The Nobel laureate Steven Weinberg who described the very early history of the Universe says : "I cannot deny the feeling of unreality in writing about the first three minutes as if we really know what we are talking about."

Mysticism and science are different facets of the same reality. For the sake of brevity, it may be enough to quote Einstein in this respect. He says : "The most beautiful and deepest experience a man can have is the sense of mysterious. It is the underlying principle of all religion as, well as, all serious endeavour in art and in science.....He who never had this experience seems to me, if not dead, then atleast blind. The sense that behind anything that can be experienced there is something that our mind cannot grasp and whose beauty and sublimity reaches us only indirectly and as feeble reflection, this is religiousness."

Physicists even talk of beauty of mathematical equations. If you were to ask one of them what does this mean, he may reply : "Well, if you are a mathematician, you already know it. If you are not, you cannot understand it." However, Subrahmaṇyam Chandrasekhar expresses the profoundness of the phenomenon very nicely. He says : "This shuddering before the beautiful", this incredible fact that a discovery motivated by a search after the beautiful in mathematics should find its exact replica in nature, persuades me to say that beauty is that to which the human mind responds at its deepest and most profound."

It is this mysticism of the Indian and other Eastern philosophies that attracted the attention of some of the best scientists. Amongst the more prominent are Arthur Eddington, Erwin Schrodinger, Werner Heisenberg. Wolfgang Pauli, Neils Borh, Brian Josephson, David Bohm, George Wald, Eugene Wigner, Julius Robert Oppenheimer and perhaps Maurice H. Wilkins. Fritjof Capra's three well known books, namely 'The Tao of Physics', 'The Turning Point and Uncommon Wisdom' are quite widely read. By his writing Capra

has played an important role in the unfolding of a new vision of reality.

In his book 'Uncommon Wisdom' Capra writes : "When I asked Heisenberg about his thoughts on Eastern philosophy, he told me to my great surprise, not only that he had been aware of the parallels between quantum physics and Eastern thoughts, but also that his own scientific work had been influenced at least at the subconscious level by Indian philosophy."

Brian Josephson, a Nobel laureate, when he was being interviewed on his first visit to India is reported to have said that whenever he was stuck up for new concepts or ideas, he thought he should look into the vast ancient literature of India for solution. More examples of this nature could be given, but the point is why, speaking generally, our own scientists have not derived any inspiration from such rich heritage of the country particularly after independence? On the other hand, the general tendency seems to be to run down anything and everything that is Indian. There could be several reasons for this situation, but the most obvious is, that there is something basically wrong with our education system. We seem to lack a national outlook.

I would like to end this article with a quotation from the Harward Nobel laureate Geroge Wald's essay on 'The Cosmology of Life and Mind.' He says : "The Judeo-Christian—Islamic God constructed a Universe and just once. Brahman thinks of a universe and does so in cycles, time without end. And as the Upaniṣads tell us, each of us has a share in Brahman, the Ātman, the essential Self, ageless, imperishable. तत् त्वमसि Thou are That! That is the stuff of the Universe, mind stuff, and yes, each of us shares in it."

❐

Vedic Environment and Ecology

Dr. Bidyut Lata Ray *

The Ṛgveda or 'Veda of verses' is the most ancient and most important text of vedism. The deities of the Ṛgveda are mainly Agni, Indra, Varuṇa, Viṣṇu, Rudra, Savitā, Marut, Sūrya, Vāyu, Soma, Dyāvāpṛthivī, Mitra, Pūṣā, Uṣā, Parjanya, Aṣvin and Yama et. sq[1]. Such divinities relate closely to our environment for which life survives. The vast bio-world discovered from the vedas forms the entire environment. It is quite evident that the Āryans were worshipping the vedic gods and goddesses for the provisions they have made for the living-beings to sustain.

Vedic environment :

(i) Interpretation of Vedic Sūktas :

The Vedic sūktas can be critically interpreted in different ways, since the words used in the vedic hymns have double and triple meanings. To extricate some hidden or secondary meaning from the mantras, a biological approach may be imposed on to explore the whole surroundings in which the man lives. With the hypothesis on the meaning of Agni[2] (fire) Ṛta (order)[3] and Vāk (word of speech)[4], the entire ecological aspects of the vedas have been framed. Agni was the primordial God, originally observed to co-relate matter-energy system. Ṛta forwards the law that governs the physical universe or cosmos. Vāk represents the means of education and transmission of knowledge acquired through the grace of Agni.

(ii) Vedic Conception of the Creation of the Universe :

The vedas depict the Universe which is divided into three parts, each sometimes duplicated and even tripled. They are the Earth, Antarikṣa and the sky.[5] Space is conceived in

* Reader and Head. Deptt. of Sanskrit, R.M. Mahavidyalaya (Utkal University) Orissa.

fact as like an ocean divided into two, three or four seas.[6] For the Sun, the common vedic conception is that it has a bright and a dark face.[7] The nakṣatra or lunar mansions appear perhaps in the most recent parts of the Ṛgveda.[8] The astronomical phenomena are hidden behind mythical forms.

(iii) Oceans and Seas in the Vedas :

The description of four oceans[9] is included in Ṛgveda. Bhūgarbha śāstria[10] has pointed out that the Rājputāna ocean existed 25,000 years ago. This ocean is not found today.

There is no clear knowledge of ocean (called Samudra, "assemblage of water") before the time of the Brāhmaṇas, though there are references to the ocean which surrounds the earth and the eastern and western seas.[11]

Similarly, the vedic kalpasūtras don't have special knowledge of the sea, where the Baudhyan lays down rules regarding customs duty payable on goods imported by sea and refers to the sea-voyages of the Northerners.[12]

(iv) Rivers and Lakes in the Vedas :

Ṛgveda refers to the river 'Sindhu'.[13] Other rivers mentioned in the Vedas are vitastā (Jhelam), Asiknī (Chenāb), Parushnī which is later Irāvatī (Rāvī), Vipaṣā (Beas) and Śutudrī (Satlaj), Āpaya, Dṛṣadvatī, Sarasvatī, Anitābha, Ārjīkiya, Urṇāvatī, Gomatī, Krumu, Yavyāvatī, Śiprā etc.[14] The steams included in the Ṛgveda are Tṛṣtama, Rasā and Vibāli[15]. The river Yamunā (Jamna) itself is seldom referred, while the Gaṅgā only once[16]. Macdonell and Keith[17] identify su-soma as a river described in the Ṛgveda. Su-sartu found in the 'Nadī-stuti' of Ṛgveda has also been identified with a river[18].

(v) Vedic expressions of Counntries, Cities, Towns and Holy places :

Ṛgveda refers to seven continent, Place-name Gayā is found in the Ṛgveda and Atharvaveda. Kurukṣetra[19] is always regarded in the Brāhmaṇa texts as a sacred country. The boundaries of Kurukṣetra are given in a passage of the Taittirīya Āraṇyaka[20]. Macdonell and Keith[21] has identified it with the modern Sirhind. The place of five streams is referred in the Ṛgveda[22]. Other place-names are plakṣa Prasravaṇa, Bhajeratha, Pura and Mahāpura etc[23]. Pura and Mahapura traced in Rgveda, Yajurveda Samhitas and Brahmanas denote 'fort' and a great fortress'.[24]

(vi) Vedic mountains and forests :

Ṛgveda mentions, the word 'Giri'[25] repeatedly. Reference is also made to the trees on the hills, hence called 'tree-haired' (vṛkṣa-keśāḥ), and to the streams proceeding from the

hills to the sea (samudra). The term is frequently coupled with the adjectival 'parvata'[26]. Flow of water from the hills is mentioned in Ṛgveda[27] while the Atharvaveda[28] mentions the snowy-mountains. Rare references of actual mountains are also traced. These mountains are Mujāvant, Trikahud, Himavant[29]. Taittirīya Āraṇyaka[30] mentions Krauñca, Mahāmeru, and Maināga. In the Ṛgveda, soma is described as Maujāvata, 'Coming from the Mujāvants', or as Yāska takes it, 'from Mount Mujāvant'[31]. Sāyāna agrees with Yāska in taking Mujāvant as the name of a mountain[32]. Himavat meaning 'Snowy' is traced in the Ṛgveda[33]. This word refers to the mountains now called 'Himālaya'.

The mountain ranges with their dense forests, valleys, streams, snow-beds, animals, birds, insects and the mangroves set the environmental equilibrium of this creation and which, in turn, provides the living-beings an ecological surrounding to live in.

(vii) Climate in the Vedic hymns :

Vedic texts forward a Monsoon climate in those early days as at present. Ṛgveda denotes the region of the atmosphere between heaven and earth[34]. The atmosphere like the sky (Div) is divided into three regions, but more normally into two, the 'earthly' (Pārthiva) and the 'heavenly' (divya or divah)[35]. The vedic Sūtrakaras[36] divide the year (varṣa) into six seasons as now. Routines were established to perform different works in different seasons which are also being felt to-day. According to yajurveda and vedāṅga jyotiṣa[37], 366 days form a solar year having six seasons.

(viii) Flora and Fauna in the Vedas :

The flora and fauna[38] protrayed in the vedas and vedic texts adhere intimately the cultural and religious life of the ancient people. The vedic animals are the elephants, cows, goats, sheep, horses, asses, cats, tigers, wolves, jackals et sq.[39] The serpent was a much dreaded reptile[40]. Besides these, birds, aquatic creatures and insects of certain species are included in the vedic literature[41]. Right from the times of the Ṛgveda, the frog attracted the attention of the Āryan poets[42]. Bees and honey are very frequently referred to in the sūtras[43].

Ṛgveda mentions a large number of trees, plants, grains and grass in connection with the performance of sacrifices[44]. Among various types of grass, Kuśa and Durvā are often occurred in the sūtras.[45].

(ix) The Earth in the Vedas :

Pṛthivi[46] denotes the 'earth' as the 'broad' one in the Ṛgveda and later, being often personified as a deity both alone and with Div, 'heaven' as Dyāvā-Pṛthivī[47]. Mention is of-

ten made of three earths, of which the world on which we live is the highest. The earth is girdled by the ocean, according to the Aitareya Brāhmaṇa[48]. The word also occurs in the Ṛgveda, though rarely, in the form of Pṛthivī[49].

4. Ecological Aspects of the Vedas :

The word 'Ecology' literally means—'the science of the house'. Ecology is the study of each individual's and each species' or association of species requirements and of their limits of tolerance in relation to environmental factors. More specifically, ecology is the description and analysis of the structure and dynamics of the environment in which living beings exist and of which they are a part[50]. The environment in which biological species live includes both living and non-living things, therefore all the factors that influence the existence of life and reproduction of plants, animals and microbes are the object of ecological studies. Obviously, ecology is the study of the exchange of energy and matter between living beings and the non-living elements of the environment, the analysis and measurements of the multiple aspects of Ṛta in space and time[51].

Ecological aspects of the vedas refer to the five traditional elements of eastern and western Indo-European tradition, earth, water, air, fire and void (ākāśa[52]). Mother earth, pṛthivī often identified with Aditi, the infinite, the "free from bonds", as well as with water, air, fire and ākāsa proceeds from the down-to-earth beginning of everyday reality.[53]

The vedic sūktas like Agni (fire), vāk (word of speech), Savitṛ (life) and Ṛta (the order) illustrate coherently and in a mutually connectecd manner, all the aspects of vedic ecology. The environment mentioned earlier is dynamic in its character maintaining interrelations among individuals and of species among themselves.

The critical ideas, thoughts, concepts, conclusions and technicalities of the ancients are present in every verse of the vedas, Crystallized as myths, pronounced as teachings rendered in poetic form, memorized as sound and metre, spiritualized as invocations and leudations, dedicated as techniques.

References & notes :

1. Macdonell, A.A, Vedic Mythology, Motilal Banarasidass, Delhi, 1981, Reprint, pp 15-138
2. Vannuci, M., op, cit, p. 125.
3. Ibid, pp. 35-36, 40, 70, 89, 104, 113, 119.

4. Ibid, pp. 36, 38, 40.
5. Macdonell, A.A., op. cit., pp. 8-11.
6. Ibid.
7. Ibid.
8. Ray, B.L., op. cit. p. 11.
9. Ibid. p. 12.
10. Ibid.
11. Ṛgveda, I. 47.6; VII, 6.7; IX, 97, 44. Also, Ray, B.L., Op. cit., pp. 3-4.
12. Ram Gopal, India of Vedic Kalpasūtras, Motilal Banarsidass, Delhi, 2nd Edn. 1983, Ch. V. pp, 93-113.
13. Renou, L., Vedic India, Indological Book House, Varanasi, 1971, p. 125.
14. Ṛgveda, III. 23.4; 33.1; X, 75.5. cf. Ali, S.M. The Geography of the Purāṇas, people's publishing house, New Delhi, 3rd edn., 1983, p. 197.
15. Ṛgveda, IV, 30.12. Also cf. Ray, B.L., op. cit., p. 13.
16. Ṛgveda, X. 75.5
17. Ibid. and Also, Vedic Index of Names and Subjects, Vol. II, by A.A. Macdonell and A.B. Keith, Motilal Banarasi dass, Delhi, 1982, p. 460.
18. Ṛgveda, X, 75.5, 75.6
19. Pañcaviṁśa Brāhmaṇa, XXV. 10 Śatapatha Brāhmaṇa, IV, 1, 5, 13; XI 5, 1, 4; XIV 1. 1. 2 Aitareya Brahmana, VII 30 Maitrayahi Samhita, II. 1, 4; IV. 5. 9
20. Ṛgveda, V, 1.1.
21. Macdonell and Keith, Vedic Index of Names and Subjects, Vol. I, op, cit., p. 170.
22. Ibid., p. 468.
23. Ibid., Vol. II, p. 55; 14; 141.
24. Ray, B.L., op, cit. p. 15.
25. Ṛgveda, I. 56.3; 61.14; 63, 1; IV, 20.6; VI, 24; etc.
26. Ibid. I, 56.4; VIII, 64.5. Atharvaveda, IV, 7.8; VI, 12.3; 17.3; IX, 1.18; etc.
27. Ṛgveda, VI, 66.11.
28. Atharvaveda, XII, 1.11.
29. Ray, B.L., Op. cit. p. 16
30. Ibid, and fn. 79.
31. Ṛgveda, X, 34.1. Nirukta, IX. 8
32. Sāyaṇa on Rgveda, I. 161.8
33. Ṛgveda, X, 1'21.4.
34. Ṛgveda, I, 56.5; 62.5, 84.1, 124.5; 168.6; 187.4; II. 40.3; VI, 62.2; etc.
35. Ṛgveda, IV, 53.3; I, 110.6; cf. Macdonell, Vedic Mythology, p. 10.
36. Ram Gopal, op. cit. p. 104 and fn. 49.
37. Murthy, S.R.N., Vedic View of the Earth, D.K. Printworld (p) Ltd., New Delhi, Ist edn. 1997, p. 136.

38. Ray, B.L., "Vedic Flora and Fauna" in VIJ, vol. XXXi-XXXII, pts. i-iv. June-Dec., 1993-94, pp. 69-74.
39. Ray, B.L., Studies in Sanskrit, Indology and Culture, op. cit., p. 18
40. Ibid., p. 17
41. Ibid.
42. Ibid.
43. Ibi., p. 7
44. Ṛgveda, I, 95.10; III. 5.8; VII, 9.3.; 35,7; VIII, 6.20.
45. Ray, B.L., op. cit. p.7.
46. Ṛgveda, VII, 7.2.5; 99.3; V, 85.15; VIII, 89.5; etc.
47. Ibid, IV 56.1; VII, 53.1; etc.
48. Aitareya Brāhmaṇa, VIII, 20.
49. Ray, B.L., op. cit, p. 20 and fn. 184.
50. Vannucci, M., Ecological Readings in the Veda, D.K. printworld (p.) Ltd. New Delhi, Ist Edn. 1994, pp. 88-89, 165.
51. Ibid, pp. 35-6, 40, 70, 89, 104, 113, 119.
52. Macdonell, A.A. op. cit. pp. 8-11.
53. Ray, B.L. "Concept of the Earth in the Veda", in prof. K.V. Sarma Felicitation Volume, Sree Sarada Education Society, Research Centre, Adyar, Madras, P. 1-6.

❐

महर्षि दयानन्द के अनुसार वेद में विज्ञान

डॉ० भवानीलाल भारतीय *

वर्तमान युग में वैदिक चर्चा के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द ने अपने ग्रन्थ-ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में चारों वेद संहिताओं में विवेचित विषयों का विचार करते हुए विज्ञान को प्रमुख विषय घोषित किया। उनके शब्द हैं—

अत्र चत्वारो वेद विषयाः सन्ति। विज्ञान कर्मोपासनाज्ञानकाण्ड भेदात्! तत्रादिमो विज्ञानविषयो हि सर्वेभ्यो मुख्यो ऽस्ति।

अर्थात् चारों वेदों में विज्ञान, कर्म, उपासना तथा ज्ञान का वर्णन है, किन्तु उनमें प्रधान विषय विज्ञान है। महर्षि की दृष्टि में विज्ञान का व्यापक अर्थ लेना उचित है—**तस्य परमेश्वरादारभ्य तृणपर्यन्तपदार्थेषु साक्षाद्बोधान्वयत्वात्।** अर्थात् परमेश्वर से आरम्भ कर लघु तिनके तक पदार्थों का यथार्थ ज्ञान कराना विज्ञान कहलाता है। अभिप्राय यह है कि विज्ञान शब्द की व्यापक अर्थवत्ता है। उनमें आध्यात्मिक और भौतिक (Spritiual and Secular) दोनों प्रकार की विधाओं को लिया जा सकता है।

इस प्रसंग में महर्षि ने मुण्डकोपनिषद् वर्णित परा और अपरा दोनों प्रकार की विद्याओं की चर्चा की है। जब उपनिषद्कार ने ऋगादि चारों वेदों तथा शिक्षा आदि छहों वेदांगों को अपरा कह कर वर्णित किया तो कतिपय विचारकों की दृष्टि में ऐसा करना वेदों को उन उपनिषदों से हेय तथा अनेक कोटि का बताना था जिनमें आद्यन्त ब्रह्मतत्त्व का ही विवेचन हुआ है अतः वे संहिताओं की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। महर्षि दयानन्द ऐसा नहीं मानते। उन्होंने 'अपरा' विद्या को परिभाषित करते हुए लिखा - अपरा वह है जिससे पृथ्वी और तृण से लेकर प्रकृति पर्यन्त पदार्थों के गुणों का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करना। तथापि वे वेद में आध्यात्मिक विद्याओं की उपस्थिति को मानते ही हैं क्योंकि स्वयं उपनिषद्कार (कठ) ने ही यह घोषणा कर दी है कि समस्त वेद उसी परम तत्त्व की विवेचना करते हैं जिसे ऋषियों और तपस्वियों ने ओ३म् कह कर पुकारा है—**सर्वे वेदा यत्पदम्मनन्ति।**

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि महर्षि दयानन्द वैदिक विज्ञान में आध्यात्मिक विद्याओं के अतिरिक्त भौतिक पदार्थ विद्याओं (Natural Sciences) का समावेश भी स्वीकार करते हैं। अपने विचारों की पुष्टि में

---

* प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, महर्षि दयानन्द वैदिक अनुसन्धान पीठ, पञ्जाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ (अवकाश प्राप्त)

उन्होंने ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में संकेत रूप में कुछ ऐसे प्रकरण लिखे जिनमें वेद मन्त्रों के प्रमाण देकर विभिन्न भौतिक विज्ञानों की उपस्थिति सिद्ध की थी। भौतिक विज्ञान से सम्बन्धित ऐसे विषय निम्न हैं—

पृथिव्यादि लोकभ्रमण—सैमेटिक मज़हबों ने यह स्वीकार नहीं किया था कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है। इन मज़हबों ने वैज्ञानिक धारणाओं की सत्यता घोषित करने वाले गैलीलियो तथा ब्रूनो आदि वैज्ञानिकों को चर्च के माध्यम से दण्डित करवाया था। महर्षि का स्पष्ट कथन है कि यजुर्वेदीय मन्त्र **आयंगौ पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः ! पितरं च प्रयत्स्वः** (3.16) स्पष्ट कहता है कि पृथिवी तथा सूर्य आदि पदार्थ निरन्तर भ्रमण करते हैं। गौ से पृथिवी तथा आदित्य का अर्थ लेने में वे निरुक्त (गौरिति 'पृथिव्यानामधेयम्' तथा 'गौरादित्यो भवति') को प्रमाण देते हैं।

धारणाकर्षण विषय—कालान्तर में न्यूटन ने जिस गुरुत्वाकर्षण (Theory of Gravitation) के सिद्धान्त को स्थापित किया। स्वामी जी ने वेदों में उसकी उपस्थिति **यदा ते हर्यता हरि** ऋग्वेद (8.12.28) आदि मन्त्रों के द्वारा बताई।

प्रकाश्य—प्रकाशक विषय के अन्तर्गत महर्षि दयानन्द यह सिद्ध करते हैं कि सूर्य प्रकाशमान पिण्ड है तो चन्द्रमा आदि उपग्रहों को सूर्य का ही प्रकाश मिलता है। इस तथ्य की पुष्टि में उन्होंने **सत्येनोत्तमिता भूमिः सूर्येणोत्तमिता भूमिः** (अर्थात् 14/2/1) तथा यजुर्वेद के निम्न प्रश्नोत्तर शैली के दो मन्त्र प्रस्तुत किये हैं—

कः स्विदेकाकी चरति (23/9) तथा **सूर्य एकाकी चरति** (23/10) इनका भाव यह है कि सूर्य अपनी कीली पर एकाकी घूमता है, सूर्य के प्रकाश से चन्द्रमा प्रकाशित होता है, शीत की औषधि अग्नि है तथा भूमि साकार वस्तुओं का सबसे बड़ा आधार स्थान है।

गणित विषय—वेदों में गणित विद्या मूल रूप में विद्यमान है, इस तथ्य की पुष्टि में महर्षि ने यजुर्वेद के 18वें अध्याय के 24 तथा 25वें मन्त्र—**एका च मे तथा चतस्रश्चमे** प्रस्तुत किये जिनसे अङ्कगणित की सिद्धि होती है। यजुर्वेद के **इयं वेदिः परोऽन्तः पृथिव्याः अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।** (23/62) के मन्त्र को उद्धृत कर उन्होंने रेखागणित की वेद मूलकता सिद्ध की। आगे चल कर जब शुल्व सूत्रों की रचना हुई तो उनमें विभिन्न प्रकार की यज्ञ वेदियों की रचना का प्रकरण आया। यह सारा विषय रेखागणित से सम्बन्धित है।

नौविमानादि विद्या—महर्षि दयानन्द की मान्यता थी कि प्राचीन आर्यों को समुद्र में नौकायन तथा आकाश में विमान संचालन जैसी विधाओं का ज्ञान था। इस तथ्य की पुष्टि में उन्होंने ऐतिहासिक प्रमाण तो जुटाये ही, वैदिक मन्त्रों से जलचर जीवों की भाँति समुद्र पर नौकाओं को चलाने तथा पक्षी की भाँति आकाश में विमानों को उड़ाने के सिद्धान्तों की भी पुष्टि की। स्वमत की पुष्टि में उन्होंने अन्यून 11 मन्त्र प्रस्तुत किये हैं।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का वरूण सूक्त आकाशचारी पक्षियों तथा समुद्र पर विचरण करने वाली नौकाओं का उल्लेख करता है—

वेदा यो वीनां पदम् अन्तरिक्षेण पतताम्। वेद नावः समुद्रियः।। ऋग्वेद 1.25.7

ज्योतिष के सिद्धान्तनुसार बारह मासों की गणना तथा चार वर्ष बाद आने वाले अधिक मास का उल्लेख

उसी स्थल पर प्राप्य है—

वेदमासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः। वेदा यो उपजायते।। ऋग्वेद 1.25.8

महर्षि ने तो युवं पेदवे ऋग्वेद के इस मन्त्र के आधार पर तार विद्या का मूल भी वेदों में बताया।

आयुर्वेदोक्त वैद्यक शास्त्र—चिकित्सा शास्त्र तथा तत्सम्बद्ध शरीर विज्ञान, मनोविज्ञान, औषधि विज्ञान, रोगों के उत्पन्न करने वाले कृमियों का विज्ञान जैसे विषयों का अथर्वेद के अनेक मन्त्रों में उल्लेख हुआ है। भूमिका में तो महर्षि दयानन्द ने संकेत मात्र के लिए यजुर्वेद का निम्न एक मन्त्र प्रस्तुत किया है—

सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु। (6/22)

वस्तुतः आयुर्वेद मूलक वेद मन्त्रों के विवेचन में तो एक पूरा ग्रन्थ ही लिखा जा सकता है।

यहाँ यह लिखना आवश्यक है कि जब महर्षि दयानन्द ने वेदाधारित विज्ञान की चर्चा चलाई तो अनेक विद्वानों को यह रुचिकर प्रतीत नहीं हुई। जो वेदार्थकर्त्ता वेद मन्त्रों को याज्ञिक कर्मों में विनियुक्त देखने के पक्षपाती थे वे भला यह कब सहन करते कि वेदों में विज्ञान के शाश्वत तत्त्वों को तलाशा जाय। याज्ञिक शैली के काव्यकारों में अग्रगण्य सायणाचार्य का पक्ष लेते हुए पं० बलदेव उपाध्याय ने दयानन्द के वेदोक्त विज्ञान के सिद्धान्त पर प्रहार करते हुए लिखा—**अपंर चामी वेदेषु नवीनानामपि आधुनिकैः पाश्चात्यविज्ञानवेदिभिः प्रकाशयं नीतानामा- विष्काराणां धूम्रयान- वायुयान- तड़िच्छकटस्वग्राहनदीनां नैव कल्पितां सम्भावनां, अपितु वास्तिविकीं सत्तां वेदे मन्यन्ते। सर्वेषामाविष्कृतानां आविष्कारिष्यमाणानां च विज्ञान तत्त्वानामाकरो वेद एवेति तेषामभिमतं मतमिवावलोक्यते। परं तु एषोऽपि सिद्धान्तो नैव विद्वज्ज्नमनोर मः** (वेदभाष्यभूमिका संग्रह- प्रस्तावना पृ० 20 वि० सं० 1991) अर्थात् ये लोग (महर्षि दयानन्द और उनके अनुयायी) वेदों में आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान यथा धूम्रयान (स्टीम ऐंजिन), वायुयान, मोटर कार आदि की सत्ता की वेदों में केवल कल्पना ही नहीं करते अपितु उसे सत्य मानते हैं। इनका मत है कि वेद विज्ञान के उन सब तत्त्वों का भण्डार है जो आविष्कृत हो चुके हैं अथवा भविष्य में होने वाले हैं। किन्तु यह मत विद्वानों को उचित नहीं लगता। (वेदभाष्यभूमिका संग्रह- प्रस्तावना)

अपने एक अन्य ग्रन्थ 'आचार्य सायण और माधव' में उन्होंने इसी बात को पुनः दोहराया "महर्षि की सम्मत्ति में वेदों में विज्ञान के द्वारा आविष्कृत समस्त पदार्थ (रेल, तार, वायुयान) आदि की सत्ता बतलाई जाती है। तब क्या वेद की महिमा इसी में है कि विज्ञान की समग्र वस्तुओं का वर्णन उसमें उपलब्ध हो? वेद आध्यात्मिक ज्ञान की निधि हैं। भौतिक विज्ञान की वस्तुओं का वर्णन उनका वास्तविक उद्देश्य नहीं है। ऐसी दशा में यौगिक प्रक्रिया के अनुसार इन चीजों को वेदों के भीतर बतलाना उचित नहीं जान पड़ता। इस प्रकार महर्षि की पद्धति को हम सर्वांश में स्वीकार नहीं कर सकते।" (पृ० 123)

पं० बलदेव उपाध्याय ने स्वामी दयानन्द द्वारा वेदों में वैज्ञानिक सत्यों की सत्ता सिद्ध करने की तो आलोचना की किन्तु वे स्वयं यह मानते हैं कि अथर्ववेद में **सेनापत्यादि प्रधानपुरुषजयकर्माणि, शत्रूत्सादितस्य राज्ञः पुनः स्वराष्ट्र प्रवेशकानि, राज्याभिषेकः कृषि पुष्टि कराणि, शास्त्राद्यभिधातुज रुधिरप्रवाहनिरोधकानि, वात**

पित्त श्लेष्म भैषज्यानि, शिरोऽक्षिनासिकाकर्णजिह्वाग्रीवादि रोगभैषज्यानि, सुखप्रसवकर्माणि आदि विषयों का विवेचन है। यदि अथर्ववेद में सेनापति कर्म, राज्याभिषेक, कृषि को पुष्ट बनाने, शास्त्रों की चोट से शरीर में होने वाले प्रवाह को रोकने के विभिन्न इन्द्रियों के रोग तथा उनका उपचार, सुख पूर्वक प्रसव होना आदि विषयों का उल्लेख है तो इन्हें विज्ञान से भिन्न कैसे कहा जा सकता है?

आश्चर्य है कि जिनका वेदाध्ययन में विशेष प्रवेश नहीं रहा वे लोग भी पं० बलदेव उपाध्याय के स्वर में स्वर मिला कर दयानन्द के वेदविज्ञान सिद्धान्त की आलोचना में प्रवृत्त हुए। डॉ० रामधारीसिंह 'दिनकर' ने अपने ग्रन्थ 'संस्कृति के चार अध्याय' में लिखा—"महर्षि दयानन्द ने देश में एक नूतन अन्धविश्वास को जन्म दिया है। उनके पूर्व भी वेद हिन्दुओं के पूज्य ग्रन्थ थे और आज भी हैं किन्तु पूज्य होने के माने यह तो नहीं कि वेद में त्रिकाल का ज्ञान समाहित है। महर्षि ने कहा कि वेद में केवल धर्म की ही बातें नहीं हैं, उसमें विज्ञान की भी सारी बातें प्रच्छन्न हैं.........वेदों को सभी ज्ञानों का कोश मानने से लोगों के ज्ञानोन्मेष में बाधा भी पड़ी।" पृ० (469)

सच्चाई यह है कि वेदों में विज्ञान की अवस्थिति के महर्षि दयानन्द के हार्द को आलोचकों ने समझा ही नहीं। उन्होंने यह कहीं नहीं कहा कि वेदों में विज्ञान का जिस रूप में वर्णन हुआ है वह प्रथम और अन्तिम है। इसलिए वैज्ञानिक आविष्कारों की सतत् वृद्धि तथा नवीन ज्ञानोन्मेष में वैदिक विज्ञान कहीं भी बाधा नहीं देता। महर्षि का अभिप्राय तो मात्र यह बतलाना ही था कि विविध भौतिक विज्ञानों का मूल वेदों में देखा जा सकता है तथा समयान्तर में इन्हीं से प्रेरणा लेकर विभिन्न भौतिक विद्याओं के अचार्यों ने स्व-स्व शास्त्रों में नूतन शोध तथा अनुसंधान के क़ार्य किये। वेदों में विज्ञान की उपस्थिति महर्षि दयाननद का कोई निज का कल्पना प्रस्तुत मत नहीं था। सर्वाधिक प्राचीन स्मृतिकार राजर्षि मनु ने भी वेद के सर्वविघामयत्व-विभिन्न ज्ञान-विज्ञान की निधि होने की घोषणा निम्न प्रकार से की थी—

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्र विदर्हति।।
चातुर्वण्यं त्रयोलोकाचत्वाराश्रमा पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति।।

सेनापति के कर्त्तव्य, राज्य शासन की पद्धति, दण्डनीति तथा सर्वलोकों को अनुशासन में रखने की विद्या वेद शास्त्र के ज्ञाता को ही प्राप्त होती है। चातुर्वर्ण्यव्यवस्था, तीनों लोकों की अवस्थिति तथा ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमों के कर्त्तव्यों का विधान वेदों से ही प्रसिद्ध होता है। अतीत, वर्तमान और भविष्य के लिए भी वेद का ज्ञान ही मार्गदर्शक है। अतः यह मान लेना अनुचित है कि वेदों में विज्ञान की अवस्थिति बता कर महर्षि ने भविष्य की वैज्ञानिक उपलब्धियों को अवरुद्ध कर दिया। अनेक आक्षेपकर्त्ता व्यंग्यात्मक स्वर में कहने लगे कि यदि महर्षि अणुबम और टेलीविजन के युग में पैदा हुए होते तो वे इन आविष्कारों की विद्यमानता भी वेदों को बता देते। वस्तुतः महर्षि दयानन्द ने नूतन आविष्कारों का मार्ग कदापि अवरुद्ध नहीं किया था। यदि

ऐसा होता तो वे भारत के नवयुवकों को यूरोप में विकसित होने वाले नवीन कला कौशल, नई तकनीक तथा विज्ञान के नवीनतम सिद्धान्तों की जानकारी लेने के लिए जर्मनी भेजने की पेशकश क्यों करते।

द्रष्टव्य–जर्मनी के प्रो० वाइज से उनका पत्र व्यवहार।

सत्य तो यह है कि दयानन्द के वैदिक विज्ञान के तत्त्वार्थ को एक अन्य वेदज्ञ योगी अरविन्द ने यथार्थतः समझा था। तभी तो दयानन्द के वेदानुशीलन की तथ्यात्मकता तथा वेदों में विद्यमान विज्ञान के मूल तत्त्वों की उपस्थिति विषयक उनके विचारों की सच्चाई उद्घोषित करते हुए अरविन्द ने लिखा—

There is nothing fantastic in Dayanand's idea that the Veda contains the truth of science as well as truth of religion. I will add my own conviction that the Veda contains other truths of science, the modern world does not at all possess, and in that case Dayanand has rather underestimated than over estimated the depth and range of the Vedic wisdom. (Bankim, Tilak and Dayanand.)

अर्थात् महर्षि दयानन्द के इस विचार में कि वेद में न केवल धर्म के अपितु वैज्ञानिक सत्यों का भी मूल मिलता है, कुछ भी आश्चर्य की बात नहीं है मेरा तो अपना विश्वास है कि वेदों में विज्ञान के उन सत्यों का प्रतिपादन भी है जिनसे वर्तमान जगत् अनभिज्ञ है। इस प्रकार महर्षि दयानन्द ने तो वैदिक ज्ञान की गहराई या विस्तार को जताने में न्यूनोक्ति ही की है, अत्युक्ति नहीं। दिनकर जी के ध्यान में अरविन्द का उक्त कथन आया था, किन्तु उन्होंने सच्चाई को स्वीकार न कर इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया कि अरविन्द ने दयानन्द का समर्थन कैसे किया?

महर्षि ने विज्ञान को पदार्थविद्या कहा—

ध्यातव्य है कि महर्षि दयानन्द ने आधुनिक भौतिक विज्ञान के लिए एक उपयुक्त शब्द 'पदार्थविद्या' का प्रयोग किया है जैसा कि हम देख चुके हैं महर्षि विज्ञान के भीतर सभी प्रकार के आध्यात्मिक, सामाजिक तथा भौतिक विज्ञानों का समावेश मानते हैं अतः उनके द्वारा निरूपित वेद में विज्ञान के अध्ययन की सीमा भी विस्तृत हो जाती है। हम यदि वेद निरूपित सामाजिक विज्ञानों की चर्चा को अपने विवेचन से बाहर ही रखें तब भी विज्ञान की अनेक शाखाएँ एवं प्रशाखाएँ वेदों में अपनी उपस्थिति अंकित कराती हैं। यथा—

वैदिक युद्धविद्या—आज तो युद्ध विज्ञान (Military Science) एक व्यवस्थित शास्त्र है किन्तु संस्कृत साहित्य में इस विषय पर समरांगण सूत्रधार जैसे अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। यजुर्वेद के **प्रेता जयता नर** (7/46) तथा अथर्ववेद के **उत्तिष्ठत संनध्यध्वमुदारा केतुभिः सह** (11/10/9) जैसे मन्त्र वैदिक युद्ध विज्ञान का संकेत देते हैं।

औषधिविज्ञान—इसे आयुर्विज्ञान के अन्तर्गत ही मानना चाहिए। अथर्ववेद में औषधियों तथा उनके गुणों की विस्तृत चर्चा मिलती है। गर्भाधान, प्रजनन, केशवर्धन, दीर्घायु प्राप्ति आदि से सम्बन्धित औषधियों की चर्चा चतुर्थ वेद में विस्तार से हुई है। औषधिसूचक मन्त्र यजुर्वेद (12/75-101) में द्रष्टव्य है।

वैदिक कृषिविज्ञान—**सीरा युञ्जन्ति कवयो, युनक्त सीरा वि युगा, शुनं सुफाला, घृतेन सीता मधुना**

समक्ता (यजुर्वेद 12/67-70) आदि मन्त्रों में कृषि विज्ञान की चर्चा है। कृषि के साथ गोरक्षा का सम्बन्ध है। ऋग्वेद का **माता रुद्राणां दुहिता वसूनां** मन्त्र गाय की उपयोगिता का वर्णन करता है। विभिन्न अन्नों तथा कृषि उत्पादों के लिए यजुर्वेद का 18वाँ अध्याय द्रष्टव्य है।

प्राणिविज्ञान—यजुर्वेद के चौबीसवें अध्याय में तो संसार में पाये जाने वाले विभिन्न कीट, पतंग, पशु, पक्षी, विविध प्राणी समुदाय का उल्लेख मिलता है।

भूगर्भ विद्या तथा धातु विज्ञान—अश्मा, मृतिका, गिरि, पर्वत, सिकता (यजुर्वेद 18/13) तथा लोहा, सीसा एवं त्रपु (यजुर्वेद 18/13) का उल्लेख भूगर्भ विद्या तथा धातुविज्ञान का मूल है।

महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेद (7/62/2 तक) तथा सम्पूर्ण यजुर्वेद का भाष्य किया। अवशिष्ट वेदों का भाष्य वे नहीं कर पाये थे। उनके इस वेद भाष्य में यत्र-तत्र विज्ञान सम्बन्धी जो सन्दर्भ आये हैं उनका पृथकशः अध्याय अपेक्षित है।

सर्वाधिक वैज्ञानिक सन्दर्भ अथर्ववेद में आये हैं। यहाँ चिकित्सा विज्ञान, मनोविज्ञान, कामविज्ञान, स्वप्नविज्ञान, कृषिविज्ञान, औषधिविज्ञान जैसे अनेक भौतिक विषय विस्तारपूर्वक वर्णित्त हुए हैं। यजुर्वेद के शिव संकल्पात्मक मन्त्र (34/1-6) मानव मन की रहस्यमय प्रकृति तथा उसकी विविध प्रवृत्तियों का विवेचन करते हैं। अथर्ववेदीय चिकित्सा विज्ञान पर विस्तृत अनुसन्धान अपेक्षित है। एतद् विषयक मन्त्रों के यथार्थ अभिप्राय को न समझने का एक दुष्परिणाम यह निकला कि भाष्यकारों ने इनमें जादू, टोना, मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि अभिचार कृत्य, झाड़-फूंक जैसे ग्राम्य उपचार तथा कृत्या प्रयोग जैसे अन्ध-विश्वासों का अस्तित्व मान लिया। रोगों के उपचार भी तभी सफल होते हैं जब रोगी की मानसिक शक्ति को उत्तरोत्तर सुदृढ़ रखा जाये तथा मनोविज्ञान का जानकार चिकित्सक इसमें आशा, विश्वास तथा स्वस्थ होने की इच्छा को जीवित रखे। वेद वर्णित विज्ञान के रहस्य का उद्घाटन उस समय अधिक सुकर होगा जब विभिन्न विज्ञानों के विशेषज्ञ अपने विषयों की परिपूर्ण जानकारी को लेकर वैदिक विज्ञान के अनुसंधान में प्रवृत्त होंगे। इसके साथ उनसे यह भी अपेक्षा रहेगी कि वे वेदार्थ का उत्कृष्ट ज्ञान रखते हों। एक अन्य बात कहना भी आवश्यक है, महर्षि दयानन्द ने विज्ञान को जहाँ पदार्थ विद्या कहा है वह शब्द सर्वथा भौतिक विज्ञान के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। इससे भिन्न पं० मधुसूदन ओझा तथा उनके अनुयायी वैदिकों ने वैदिक विज्ञान के नाम पर जो मनःप्रसूत वायवीय कल्पना जाल बुना है वह शशश्रृंगवत् मिथ्या है।

विस्तृत अध्ययन के लिए

1. वेद और विज्ञानवाद—प्रेमचन्द काव्यतीर्थ
2. वेद और पश्चिमी विज्ञान—ब्रह्मानन्द त्रिपाठी
3. पं० गुरुदत्त विद्यार्थी ग्रन्थावली।

Upaniṣads: Texts of Science

Dr. Varanasi Ramabrahman *

Upaniṣads are treasure houses of Indian wisdom. They, together with Brahmasutras and Bhagawadgitā are traditionally commented upon theologically linking with God and hence religion. Thus we have Advaita view of Saṅkara, Visistādvaita view of Rāmānuja, Dwaita view of Madhwa and Saktādvaita view as chief and popular views and sects are created around each of them. Vedānta Darśana and Advaita Siddhānta have their roots in the Upaniṣads.

Upaniṣads together with Vedānta and Advaita philosophy can also be viewed and understood from modern scientific point of view. Such a view reveals the scientific content of the wisdom of Upaniṣads which can be beneficially applied in the fields like physiological, psychology and artificial intelligence.

Upaniṣads propose the existence of Ātmā and they are source of Ātmājñāna. Ātmājñāna consists of the theory of the origin, structure, function, cessation and control of mind in the four conscious states in which it works and ceases to work. Ātmājñāna also provides us with the details of the source of psychic or mental energy whose changes and transformations enable us to know, perceive, understand/experience and be aware of all these processes.

Table I give some Upaniṣad Māha Vākyas and their scientific meanings. Chart I shows the architecture of mind. Chart II gives details about the four conscious states and the structure and role of mind in these states.

Ātmā is Brahmapadārtha. The presence of Ātmā provides us with mental energy (chitśakti) and mental time space (Prajñānam). Ātmā is chitśakti's source. Because of this

---

* Lecturer in Physics, M. G. G. A. College, Chalakkara, New Mahe, Pondicherry

chitśakti only we are able to be aware of our body, mind, we are able to know, we are able to experience and also to react.

From Ātmā chitśakti issues out and gets reflected in Medhā as 'Māyā'. Thus Māyā is reflected chit energy and is virtual. Māyā is also known as 'Chidābhāsa' or 'Praṇavam'.

Māyā, the current of awareness pervades the whole body. It bifurcates and transforms into 'Divya' and 'Swara'. Divya's Jnān Śakti gets as four antaḥkarṇas-manas, Buddhi, Chittam and ahamkāram. 'Swara' the Prāṇaśakti divides itself into pañchaprāṇas-Prāṇa, Āpāna, Vyāna, Udāna and Samāna.

From Chart I we know that our mental functions are combined operations involving Ātmā, Māyā, antahkarṇas, paṇchaprāṇas, Jñanendriyas and Karmendriyas.

Physics is natural science which deals with actions and interactions concerning matter and energy in Time and Späce. Thus physics discipline can be a tool to probe and understand the above-mentioned mental functions in terms of matter, energy and Time in the body space.

Thus we can say Ātmā is a biooscillator which generates psychic energy pulses which are responsible for mental energy materially (chitśakti) and also for mental Time Space as 'Prajñānam'. Māyā is a series of reflected and virtual chit energy pulses which flow throughout the body enabling us to be onscious beings. Thus chitśakti first transforms as Māyā and then Māyā transforms as Jñānaśakti and Prāṇaśakti creating the antahkaraṇas and paṇchaprāṇas respective activating Jñānandriya and Karmendriyas respectively. And hence causing various conscious states.

In these conscious states mind functions enabling us to learn various languages, subjects, skills, knowledges, perceptions, experiences, understandings, Vedāntas, reflections, meditations etc.

Manas is the antahkaraṇa that connects us to the outside world through sense organs (Jñānendriyas) and cognition of objects take place. Manas stores these cognitions as Jagat within and retrieves from it when necessary the cognitions as thoughts (Bhāvas).

These cognitions simultaneously cause corresponding experiences to us. These are called vāsans. Vāsanās are sensed, stored and retrieved by the antaḥkarāṇa chittam.

The antaḥkarāṇa Buddhi gives us the ability for intellectual operations. The antaḥkarāṇa Ahaṃkāram gives us self-consciousness. Self-consciousness is a bunch of thoughts about the individual of oneself like features of body, gender, job, social status.

loves, hatreds, mental qualities etc.

Prāṇaśakti activates karmendriyas (action-organs), which act or react according to the perception within or without when knowing an object (viṣaya). Thus Ātmājñāna expounded by the Upaniṣads provides the software of mental functions.

Our learnings, skills and actions and interactions using mind are already given by the Upaniṣads and Vedānta as energy (chit energy) transformations in mental time space known as awareness (Prajñānam) provided by Ātmā.

Thus physics of the Upaniṣads can be termed as software of mental functions which helps us to understand better physiological psychology—the physics and chemistry of psychology i.e. mind and its functions in terms of macromolecules like proteins. Proteins as hormones and other varities help us in knowing, perceiving, understanding/experiencing and provide awareness of all these happenings.

Ātmājñāna of the Upaniṣads gives us the design and software of these biochemical interactions, actions and reactions involving proteins which are the hardware of mental functions. A correlation of these software and hardware will form a very good topic for research which helps us in understanding mind and its functions in terms of biochemicals.

Artificial intelligence is a branch of science which designs and fabricates machines which mimic human activites—physical and mental. Robotics and Natural language comprehension are the two wings of artificial intelligence.

Advaita Siddhānta is popular as Vedānta. We think that Vedāntins alone use Advaita Philosophy. But Advaita Siddhānta was equally successfully and usefully used by Saṃskṛt grammarians. Śabdabrahma Theory of Patañjali and Sphota-Vāda of Vākyapadīyam are also developed making use of Advaita Siddhānta. When we think of Advaita we presume that it proposes the oneness of Jivātmā and Paramātamā only.

But Advaita also tells us the oneness of the knower and the known in knowing. The tripuṭi of knower, known, knowing is dissolved into knowing which is experience of Rasa which gives Bliss. But the oneness of the knower, the known in knowing has greater implications for natural language comprehension.

The division of modes of language learning as Parā, Paśyanti, madhyamā and Vaikharī which are awareness, sense, perception and utterance respectively in the teacher and knowing (listening), perceiving, experiencing/understanding in the awareness of the taught opens new vistas in the research of Natural Language Comprehension field. This aids to modern human knowing, perceiving, understanding/experiencing and awareness-machines.

Thus the wisdom present in the Upaniṣads as Ātmājñāna can be successfully used in the understanding and development of modern science.

Table I
Meanings of Upaniṣad Mahāvākyas

1. अहं ब्रह्मास्मि : The real identify of I is with Divinity which is unoccupied awareness
2. तत्त्वमसि : Self (Individual) and Divine consciousness are same in nature and function
3. अयमात्मा ब्रह्म : Ātmā is Divine conscioueness
4. प्रज्ञानं ब्रह्म : Transcedental mental time space is unoccupied awareness in Divine consciousness
5. रसो वै स : Realisation of Essence of Mahavakyas is Divine Experience
6. आनन्दो ब्रह्म : Unoccupied Awareness in Bliss.
7. सर्वं खल्विदं ब्रह्म : All antarjagat is made of Divinity

Chart I
Architecture of Mind

आत्मा

माया चिदाभासा प्रणवम्

दिव्यम्-ज्ञानशक्ति

अन्तःकरणानि

मनस् - Perception
बुद्धि - Intellectual functions
चित्तम् - Experience recording and recollection
अहंकारम् - Self-conscioueness

मनस्

ज्ञानेन्द्रियाणि

Action knowing

स्वरम् प्राणशक्ति

पञ्चप्राणाः

प्राण अपान
व्यान उदान
समान

कर्मेन्द्रियाणि

Reaction according to knowledge

Chart II

States of Consciousness

जाग्रत सुषुप्ति

Mind is present if willed. Sense and action organs are alert and ready to function. Through meditation we reach this state also known as विभ्रान्तदृष्टिः

सुषुप्ति

Mind is absorbed in Maya. Sense and action organs are not in functional state. No awareness of without or within Visayas or Vasanas. Also known as प्रलयम्

आत्मा

माया

अन्तःकरणानि– Mind

पञ्चप्राणाः

ज्ञानेन्द्रियाणि
Sense Organs

कर्मेन्द्रियाणि
Action organs

जाग्रत

Mind is present. Sense and action organs are active and are in working state. All learnings take place in this state. Meditation is started in this state. Also known as बहिर्मुखदृष्टिः

स्वप्न

Mind is present. Sense organs are in dormant state. Action organs are alert and will function if necessary. Meditation becomes one-pointed in this state. Also known as अन्तर्मुखदृष्टि

वैशेषिकदर्शने विज्ञानम्

डॉ० शशिप्रभा कुमार *

अशेषजनोज्जिजीविषया आसृष्टेराहितप्रचाराणामाम्नायानामभिरक्षणदीक्षितैः अध्यक्षितपरावरैः परमर्षिभिरनुगृहीतेषु शास्त्रेषु दर्शनेषु अन्यतमं तावत् कणादोपज्ञं वैशेषिकदर्शनं नाम।[1] अस्य शास्त्रत्वं तु पदार्थविवेचनव्यग्रतयैव सिध्यति, दर्शनत्वञ्च महर्षेः कणादस्य सिद्धदर्शनरूपेण धर्मेण[2] सर्वेषामपि प्रतिपाद्यविषयाणां प्रत्यक्षतुल्यवैशद्यविधानात्। (तदित्थंभूतस्य दर्शनशास्त्रस्य वैशेषिकस्य सर्वोऽप्यर्थः प्रतिपाद्यतया विषयः-पदार्थान् शब्दतदर्थरूपान् सर्वान् परिगणय्य तेषां साधर्म्यं वैधर्म्यञ्च सर्वप्रकारमुपपाद्य सर्वत्र धर्मधर्मिविवेकं विधाय कस्य कुत्रान्वययोग्यतेति परिशीलनं सुकरयति) अतएव खल्वत्र काचिद् वैज्ञानिकी प्रवृत्तिरपि संलक्ष्यते, तस्याः सङ्केतरूपेण दिग्दर्शनमेवास्य लघुनिबन्धस्य प्रयोजनम्।

सृष्टेः प्राक्कालादारभ्य हि मानवोऽस्य विचित्रव्यवस्थितविश्वस्य गूढरहस्यानवबोद्धुं स्वभावसमुत्सुकः। अतः खलु तदर्थमेव दर्शनविज्ञानयोरुभयोः शास्त्रयोः प्रवृत्तिः जाता-यद्यप्यनयोः दृष्टिकोणे विवेचनविधौ च मौलिकमन्तरं विद्यते तथापि द्वावेव जगतो मूलतत्त्वानां गहने सूक्ष्मे च विवेचने व्यावृताविति किञ्चन तारतम्यमपि तत्र विद्यत एव। तत्रेदमपि उल्लेख्यं यद्दर्शनस्य क्षेत्रं तु विज्ञानाद् व्यापकतरं वरीवर्ति-विज्ञानं तु जडजगत्पर्यन्तमेव सीमितमस्ति, दर्शनञ्च चेतनाचेतनस्य सकलसंसारस्य विश्लेषणं विदधातुमुपक्रमते। अपि च विज्ञाने वस्तूनां विवेचनं प्रयोगात् प्रत्यक्षपरीक्षणाद् वा क्रियते दर्शने च विचारान्वीक्षणाभ्याम्। वैज्ञानिकस्य कार्यक्षेत्रं तु तस्य प्रयोगशाला, निरवकाशा प्रकृतिः, नक्षत्रखचितमाकाशं वा भवति परं दार्शनिकस्य कार्यक्षेत्रं तु तस्य मस्तिष्कमेवेति सः खलु चिन्तनमननाभ्यामेव वस्तुविवेचनं विदधाति। अतएवोच्यते यद्यत्र तु विज्ञानस्येयत्ता भवति, तत एव दर्शनस्यारम्भो भवति[3] इदमेव संसूच्यते 'फिज़िक्स' (विज्ञानं) 'मैटाफिज़िक्स' (दर्शनं) पदाभ्यामपि यतो हि अत्रापरस्य पदस्यार्थ एव 'विज्ञानस्य पश्चात्' इति उभौ परस्परं पूरकौ। प्रख्यातेन वैज्ञानिकेन कौम्टेमहोदयेन सत्यमेवाभिहितं यद्विज्ञानस्य कार्यं तु नियमानामन्वेषणं निर्माणं च वर्तते परं दर्शनस्य दायित्वं तु तेषामेव नियमानां व्याख्याने विवेचने च संनिहितम्। अतो नेदं विस्मयावहं यत्पुरातनकाले वर्तमाने च बहवो वैज्ञानिका दार्शनिकाः दार्शनिका वा वैज्ञानिका आसन्निति। भारतभुवि अवतीर्णेषु एतादृशेष्वेव दार्शनिक-वैज्ञानिकेषु महर्षेः कणादस्याभिधानमग्रगण्यमत्र[4] नास्ति सन्देहस्यावसरः। द्रव्य-गुण कर्मादिरूपेण सर्वमपि पदार्थं

* एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली

विभज्य प्रपञ्चज्ञानं प्रदर्श्य सर्वमेतद् दर्शनाधीनमिति गमयन्नप्ययं कणादः वैदिकदर्शनपरमलक्ष्यभूते मोक्षात्मनि निःश्रेयसे तत्त्वज्ञानपर्यवसानं प्रतिबोधयन् भारतीयदर्शनविज्ञानयोः सर्वलोकसम्माननीयं स्थानमलंकरोति।

कणादप्रवर्तितं हि दर्शनं 'वैशेषिकम्' अभिधीयते इतरशास्त्राणामपेक्षयास्य वैशिष्ट्यबोधकमिदमभिधानम्। तस्य वैशिष्ट्यं तु अभ्युदय-निःश्रेयसयोः, साधर्म्य-वैधर्म्ययोः दृश्यादृश्ययोरुभयोरपि पक्षयोः तत्त्वज्ञानम्। गुणगुण्यादिभेदे, देहात्मभेदे, जीवात्मबहुत्वे, ईश्वरयाथात्म्ये, आम्नायप्रामाण्ये, आचारतत्त्वे चाकुण्ठितगतिः कणादः स्वीयया वैज्ञानिक्या विवेचनपद्धत्या अन्यान्दर्शनकृतः सर्वथैवातिशेते, अतएवेदं 'वैशेषिकं' नाम शास्त्ररत्नं सर्वसम्मान्यं सर्वाध्येयञ्च। एवंभूतस्यास्य शास्त्रस्य विशिष्टविचारे प्रतन्यमाने क्रमेण नानाविधा निष्कर्षाः पदं निदधीति निश्चप्रचमेवैतत्। परं नात्र विस्मरणीयं यत्साक्षात्कृतधर्माणो महर्षयः संसारस्याऽसारस्य मूलतत्त्वं चिख्यापयितुं प्रवृत्ताः, तैस्तु प्रायोगिकपरीक्षणान्युपकरणानि विनैव स्वीयया अन्तर्दृष्ट्या लब्धं ज्ञानं सर्वत्र लोककल्याणार्थं प्रतिपादितम्, तत्र तेषां तत्त्वार्थशोधन्या अमलया दृशा पदे पदे यदपूर्वं वैज्ञानिकचिन्तनं व्यधायि तस्य सङ्केतरूपनिदर्शनमेवात्राभीष्टमिति, तद्यथा—

पदार्थविज्ञानम्

वैशेषिकं मूलतः पदार्थशास्त्रमिति प्रथितम्-तदनेनास्य दृश्यजगतो विभाजनं सप्तपदार्थेषु विहितम्, तेषां ज्ञानमेव निःश्रेयस् साधनमिति प्रतिपादितम्। अतः खलूक्तम्—**काणादं पाणिनीयं च सर्वशास्त्रोपकारकम्।**

अस्यायमभिप्रायो यद्यथा शब्दतत्त्वशोधनविषये व्याकरणान्तरतः पाणिनीयस्य प्रकर्षः तथा पदार्थ-तत्त्वशोधनविषये कणादसरणेरेव प्रकर्ष इति। तत्रास्तित्वाभिधेयत्वज्ञेयत्वानि पदार्थसामान्यलक्षणम्। तत्र वैशेषिकाचार्याणां मतेन विश्वस्य सकलान्यपि तत्त्वानि सप्तपदार्थेष्वेवान्तर्भवन्ति, नान्यत् किञ्चित् परिशिष्यते। एतेषां पदार्थानां निरूपणस्योद्देश्यं समग्रस्य जगतो विश्लेषणमिति तैः प्रतिज्ञातम्, तत्र चानुभूतिरेव प्रमाणत्वेनाङ्गीकृतो[5] पदार्थानां तेषां स्वरूपाणां च सयुक्तिकं साङ्गोपाङ्गं विश्लेषणं यथाऽस्मिन्शास्त्रे समपद्यत तत्तु विश्वचिन्तनस्येतिहासे सर्वथाऽप्रतिमम्। अतोऽत्र वैज्ञानिकचिन्तनपद्धतेः समावेशः श्लाघनीयः।

भूत/भौतिकविज्ञानम्

प्रायशो भारतीयदर्शनमध्यात्मपरमिति हि प्रसिद्धिः परं वैशेषिकदर्शनस्य वैशिष्ट्यमिदं यदनेन भौतिकविश्वस्य विश्लेषणमेव प्राधान्येन विहितम्। तदनुसारं सप्तपदार्थेषु प्रथमस्य द्रव्यस्यादिमानि पञ्च भूतानीति कथ्यन्ते—**भूतत्वं नाम बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वम्।**[6] इमान्येव पञ्च भूतानि पञ्चेन्द्रियग्राह्याणां विशेषगुणानामाश्रयाणि। स्थूलमिदं विश्वं पञ्चभिर्बाह्येन्द्रियैर्गृह्यते अतो भूतानि तेषामाधारीभूतानां पञ्चद्रव्याणां मौलिकमन्तरं निरूपयन्ति।[7] घ्राण-रसना-चक्षु-त्वक्-श्रोत्राणि इन्द्रियाणि तैः ग्राह्याः गन्ध-रस-रूप-स्पर्श-शब्दाश्च गुणाः अस्माकं सामान्यमनुभवमेव सुदृढं कुर्वन्ति, एतेषां पञ्चगुणानां समवायिकारणानि हि पृथिवी-जल-तेजो-वाय्वाकाशभूतानि। तदित्थं वैशेषिकदर्शनस्य पञ्चमहाभूतसिद्धान्तमतीव व्यवस्थितं सुसंगतं च।[8] तत्रेदं

मुख्यतयोल्लेख्यं यदेतेषु पञ्चसु भूतेषु आरम्भकसंयोगस्तु प्रतिषिद्ध एव, कार्यगुणानां कारणगुणपूर्वकत्वात् परमनारम्भकस्तु संयोगो न प्रतिषिद्ध इति।[9] (अतः खलु मानुषादिशरीराणां पार्थिवत्वमेवाभिमतं न हि पाञ्चभौतिकत्वम्।[10] तत्रान्येषां चतुर्णां भूतानां सहकारित्वं तु स्वीकृतं परं न आरम्भकत्वम्)।

परमाणुविज्ञानम्

विश्वस्य विचारसरण्यां प्राचीनतमः परमाणुवादः वैशेषिकदर्शनेन एव विवेचितः तन्मते पृथिवी-जल-तेजो-वायूनां चतुर्णां सावयवानां द्रव्याणां नित्या निरवयवा अतीन्द्रिया परमसूक्ष्मा अन्त्यावयवाः परमाणव एव। ते च परमाणवश्चतुर्विधाः स्वीकृताः - पार्थिवाः, जलीयाः तैजसाः वायव्याश्च। एतेषां परमाणूनां सिद्धिहेतोः कणादेन कार्यत्वं नित्यत्वहेतोश्च सत्त्वमकारणवत्त्वञ्च[11] हेतुरूपेणोपन्यस्तम्। परमाणूनां परस्परसंयोगेन हि द्वयणुकत्र्यणुकचतुरणुकक्रमेण स्थूलकार्यद्रव्याणि उत्पद्यन्ते।

तदित्थं वैशेषिकदर्शनेनैव सर्वप्रथमं परमाणुवादः सुसाधितः विज्ञानमूलकस्यास्य सिद्धान्तस्य च सम्यक् विकासो विहितः। आधुनिकवैज्ञानिकविश्लेषणैश्च परमाणुवादः प्रतिहतः स्यान्नाम परमनेन वैशेषिकविचारसरण्या महत्त्वं न अपक्षीयते, अपितु वर्तमानवैज्ञानिकानां चिन्तनेन सह तस्य तुलनात्मकसमीक्षणार्थं[12] पुष्कलसामग्री प्राप्यते खलु।

रसायनविज्ञानम्

पार्थिवगुणानां गन्धरसरूपस्पर्शानां पाक-प्रक्रियविवेचनप्रसंगे वैशेषिकाचार्यैः रासायनिकप्रक्रियाया[13] मूलसङ्केतः प्रस्तुतः। तन्मते हि 'पाको नाम विजातीयस्तेजः संयोगः' स च नानाविधो भवितुं शक्यते-गन्धजनको, रसजनकः, रूपजनकः, स्पर्शजनको वा। पार्थिवकार्याणामिव तैजससंयोगा अपि बहुविधा भवन्तीति तैः सुष्ठु प्रतिपादितम्।[14] किरणावलीकारस्तु सौरं तेजोऽपि पाकहेतुं मन्यते।[15]

वैशेषिकसूत्रकारेण कणादेनेदमपि निरूपितं यज्जले तेजःसंयोगात् विविधानि परिवर्तनानि जायन्ते तत्र च तेषां मध्ये विद्युतो विस्फूर्जथुरेव लिङ्गमिति।[16] अपि चान्येषामपि पार्थिववस्तूनां तेजःसंयोगादेव द्रवत्वमाविर्भवति,[17] तच्च न जलवत् सांसिद्धिकमपितु नैमित्तिकं भवति।

वैशेषिकग्रन्थेषु पाकप्रक्रियाया निरूपणप्रसङ्गे पीलुपाकवादस्य समर्थनं कृतमस्ति, तदनुसारं पाकः पीलुषु परमाणुषु वा भवति, नावयविनि, तत्र मानाभावात् तद्विपरीतं नैयायिका पिठरपाकवादिनोऽभिधीयन्ते।[18] पाकप्रक्रियायां क्षणविभागोऽपि[19] सूक्ष्मतया आकलिकतस्तत्रेति तेषां वैज्ञानिक्याः सूक्ष्मेक्षिकाया संपुष्टं प्रमाणम्।

धातुविज्ञानम्

वैज्ञानिकदृष्ट्या वैशेषिकदर्शनस्येदं प्रतिपादनमपि मौलिकतया निर्देश्यं यदनुसारेण सुवर्णादिधातवस्तत्र

तैजसा सम्मताः, यथाह कणादः—

त्रपुसीसलोहरजतसुवर्णानां तैजसानामग्निसंयोगाद् द्रवत्वमद्भिः सामान्यम्। वै० सू० 2/1/7

सूत्रेणानेन कणादः स्पष्टं धातूनां तैजसत्वं व्याहरति। तत्र प्रमाणं प्रतिपादयन् शंकरमिश्रः कथयति यत् प्रबलेनाग्निसंयोगेनापि सुवर्णस्य द्रवत्वं न विनश्यति पार्थिवानां तु कार्याणां जन्यजलानां वा द्रवाग्निसंयोगेनोच्छिद्यत एव, अतोऽनेन व्यतिरेकिणानुमानेन सिद्ध्यति यत् सुवर्णं न पार्थिवमपितु तैजसमेव।[20]

अत्रेयमाशंका भवति यत्सुवर्णं तैजसं चेत्तर्हि कथं नान्धकारे तस्य प्रत्यक्षं भवति, तत्रैव समाधीयते-

भूसंसर्गवशाच्चास्य रूपं नैव प्रतीयते।[21]

अथ सुवर्णं तैजसं चेत्तत्र रसानुभवः कथं भवति? तत्रापि पार्थिवांशसंयोगात्तत्र समवेता रसादयो गुणा जायन्त इति वैशेषिकाणां सिद्धान्तः।[22] अपि चानेन सुवर्णादीनां तैजसत्वं सिध्यति यदयं धातुवर्गो हि तापस्य सुचालकः, न तु कुचालकः अतस्तेजसः सजातीय एव न विजातीय इति। अपरञ्च धातुवर्गः तापमन्तर्भोक्तुमल्पीयानेव सक्षमः अधातुतत्त्वन्तु विजातीयत्वेन तापमधिकमन्तर्भुनक्ति। तथाहि यावता तापस्य संसर्गेण जले काष्ठादिके वा यावदौष्ण्यं जायते तावता एव तापेन धातुषु बहुगुणमौष्ण्यं भवति, अतोऽपि सिध्यति यत्सुवर्णादयस्तैजसा एवेति।[23] एवं वैशेषिकदर्शनपरम्परायां सुवर्णादयो धातवः तैजसा मन्यन्त इति।

कर्मविज्ञानम्

स्वाभिमतस्य तृतीयपदार्थस्य कर्मणो विवेचनप्रसंगे वैशेषिकाचार्या विविधकर्माणां गतीनां वापि सूक्ष्मं विश्लेषणं व्यदधुः। तत्र पञ्चविधकर्मनिरूपणातिरिक्तं जलस्य स्यन्दनं नाड्यारोहणञ्च, गुरुत्ववतो द्रव्यस्य पतनं च[24] सटीकं साधितम्। नोदन-अभिघात-वेगाख्यसंस्काराश्च कर्मणो प्रेरका हेतवः, गमन-भ्रमण-कम्पनादीनि कर्मविभागाश्च सविस्तरं विवेचिताः।[25] संयोगविभागावपि कर्मजनकरूपतया निरुपितावत्र, कर्मणो परिमाणमापनस्यापि प्रयासो विहितः[26] वैशेषिक्यां कर्मप्रक्रियायां प्रतिपादितेषु संस्कारस्य त्रिषु भेदेषु वेगस्य विवेचनं तु सर्वथा न्यूटनाविष्कृतैः कर्मनियमैः साम्यमावहति।[27]

वैशेषिकदर्शने विवेचितस्य कर्मणो विषये सर्वप्रमुखं तथ्यमिदं प्रतीयते यत्तत्र नैकेषामविज्ञातहेतूनां कर्मणां वर्गीकरण 'मदृष्टकारितम्' इति शीर्षके विहितम् तद्यथा—मणिगमनं, सूच्यभिसर्पणम्, वृक्षाभिसर्पणम्, अग्नेरुर्ध्वज्वलनं, वायोस्तिर्यक्पवनमणूनां मनसश्चाद्यं कर्म, अपसर्पणमुपसर्पणमशितपीतसंयोगाः कार्यान्तरसंयोगाश्च।[28] एवमेव महाभूतानां भूगोलकादीनां प्रक्षोभनं चलनं चुम्बकीयाकर्षणादीनि, सर्वाण्यपि अव्याख्येयानि कर्माणि अदृष्टान्तर्गतं व्यवस्थितानि[29] अनेन वैशेषिकाचार्याणां सत्यनिष्ठा स्वीकृतिः ततश्च वैज्ञानिकी प्रवृत्तिरेवाभिलक्ष्यते। अपि च वेगजन्यकर्मणां विवेचनेन तेषां वैज्ञानिकज्ञानं[30] प्रमाणीभवति।

ध्वनिविज्ञानम्/शब्दविज्ञानम्

आकाशद्रव्यस्य विशेषगुणरूपे शब्दविवेचनप्रसंगे वैशेषिकाचार्यैः शब्दो द्विविधः स्वीकृतः—ध्वन्यात्मकः, वर्णात्मकश्च। ध्वनिलक्षणः शब्दः भेरीदण्डसंयोगेन भेर्याकाशसंयोगेन वा उद्भवति। वक्तुः मुखात् श्रोतुः श्रोत्रपर्यन्तं शब्द-सन्तानस्य गतिहेतोरत्र वीचितरङ्गकदम्बमुकुलन्याययोः।[31]

कदम्बकोरकन्यायादुत्पत्तिः कस्यचिन्मते।। कारिका 166 निरूपणमपि सर्वथा विज्ञानसम्मतं प्रतिभाति—तत्राकाशे शब्दसन्तानस्य गतिस्तु वायुसंयोगेन सम्भवतीति[32] प्रतिपादनञ्चाधुनिकं मतं समर्थयति। तत्र शब्दस्त्रिविधः प्रतिपादितः—संयोगजो विभागजः शब्दजश्च, शब्दस्यानित्यत्वञ्च संसाधितम्।

वनस्पतिविज्ञानम्

वैशेषिकदर्शनं प्रकृतिपरायणं[33] दर्शनमिति स्वीक्रियते यतो ह्यनेन बाह्यप्रकृतेरेव निरीक्षणं-विश्लेषणं प्रामुख्येन प्रतिपादितम्। तत्र-तत्र वैशेषिकग्रन्थेषु वृक्षवनस्पतीनामपि वर्णनं लभ्यते यथा हि चतुर्णां भूतद्रव्याणां मध्ये पार्थिवशरीरं वर्णयन्तो वैशेषिककारा उद्भिजशरीरस्य यद्वर्णनं विदधति तत्र तृण-गुल्म-लतादीनां निर्देशं कुर्वन्ति। अनेनैव स्पष्टीभवति यत्ते वृक्षेषु न केवलं चैतन्यमङ्गीचक्रुः परं जीवन-मरण-स्वप्न-जागरण-रोग-भेषजप्रयोगादिकं[34] प्राणवायोश्च सम्बन्धं, वृद्धि-भग्नक्षतसंरोहणं[35] चापि न्यदर्शयन्निति। तदित्थं वनस्पतिविज्ञानस्य मूलमान्यतायाः[36] सूक्ष्मसङ्केतो वैशेषिकदर्शने लभ्यते यद् वृक्षेषु चैतन्यं जीवनञ्चास्तीति नास्त्यत्र सन्देहावसरः।

शरीरविज्ञानम्

'आत्मनो भोगायतनं शरीरम्'[37] इति लक्षयन्तो वैशेषिकाचार्याः चतुर्विधानां शरीराणां विवेचनं कुर्वन्ति, तत्रापि च पार्थिवशरीराणि योनिजायोनिजप्रभेदेन द्विविधानि वर्णितानि। पुनरपि योनिजानि द्विविधानि-जरायुजानि अण्डजानि च, अयोनिजानि चापि स्वेदजोद्भिजभेदेन द्विविधान्येवेति। मनुष्याणां चतुष्पादानां पशूनां च शरीराणि जरायुजानि भवन्ति, पक्षिणां सरीसृपाणां जन्तूनां चाण्डजानि, कृमिकीटादीनां शरीराणि स्वेदजानि, तृणगुल्मादीनां चोद्भिजानीति।[38] तत्र योनिजशरीराणां वृद्धिप्रक्रिया वस्तुतः परमाणूनां संघटनविघटनयोरेवाश्रिता, यतो हि परमाणुषु पाकेन ऊष्मणा वा शरीरं जायते, ततश्च अदृष्टवशात् शरीरस्य आत्मना संयोगो भवति तदनन्तरं गर्भस्थस्य शिशोः शरीरं मात्रा भुक्तस्यान्नस्य परिपाकेन पुष्टीभूय विकसति—एतासां प्रक्रियाणां प्रतिपादनेन वैशेषिकाचार्यैः शरीरविज्ञानस्यापि सूक्ष्मसङ्केताः प्रस्तुताः।

मनोविज्ञानम्

वैशेषिकदर्शने यद्यपि जाग्रदवस्थाया मानवीयोऽनुभव एव प्रमाणत्वेन पर्यालोचितः तथापि तत्र ज्ञान-प्रक्रियानिरूपणस्थले मनसो स्वरूपं, स्मृति-सुषुप्ति-स्वप्नादीनां सूक्ष्मविश्लेषणम् यत् प्राप्यते तेन विज्ञायते

यन्मनोविज्ञानस्यापि आरम्भिकत्वानि अत्र संनिहितानि। मनो हि नाम नवमद्रव्यत्वेन स्वीकृतमत्र, निद्रादशायां तस्य पुरीतति प्रवेशः[39] खलु वैशेषिकदर्शनस्य मौलिकम् अवदानम्। स्वप्नसिद्धान्ते तु प्रशस्तपादेन त्रिविधकारणानाम् उल्लेखो कृतः—संस्कारपाटवं, धातुदोषः, अदृष्टञ्च। एतानि हि क्रमशो मानसिक-शारीरिक-अनिर्वचनीयानि कथयितुं शक्यन्ते, पाश्चात्यमनोवैज्ञानिकैः वर्तमानयुगे प्रतिपद्यमानस्वप्नविवेचनेन च प्रायशो संगच्छन्ते।

तदेवमुक्तप्रकारेण संक्षिप्तसङ्केताकलनाज्ज्ञायते। यद्वैशेषिकदर्शने विज्ञानं प्रभूततया वरीवर्ति। 'विज्ञानं' हि व्युत्पत्तिदृशा विशिष्टं ज्ञानं रूढिदृशा च विशिष्टां ज्ञानविधां सूचयति। उभाभ्यामेव रीतिभ्यां दृष्टे सति वैशेषिक-दर्शने महर्षेः कणादस्य तदनुयायिनामाचार्याणां च वैज्ञानिकी परिशीलनपद्धतिः विशदीभवति। यद्यप्येतदपि सत्यं यदत्र न सन्ति वैज्ञानिकदृष्ट्या प्रयोगपरीक्षितानि प्रामाणिकानि तथ्यानि, परं दर्शनशास्त्रस्यास्य मौलिकं प्रयोजनं तु तत्त्वज्ञानम् तेन च निःश्रेयससाधनमस्ति एवं युगान्तरतः प्राप्तप्रचारस्यास्य वैशेषिकदर्शनस्याद्यत्वे वैज्ञानिकयुगे पुनरपि प्रसारो भूयादित्यहं कामये।

सन्दर्भ सङ्केत :

1. वैशेषिक दर्शनम्, रसायनभाषोपेतम्, भूमिकायां, पृ0 1
2. आर्षं सिद्धदर्शनञ्च धर्मेभ्यः। वै0 सू0 9/2/13
3. फिजिक्स एण्ड फिलॉसफी, जेम्स जीन्स, पृ0 17
4. प्राचीन भारत के वैज्ञानिक, ओ0 पी0 जग्गी, पृ0 157-58
5. संविदेव भगवती वस्तूपगमे नः शरणम्। न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, (न्याय सू0 2/1/36)
6. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ0 96 (कारिका 26)
7. The fivefold conception of Nature, Dixit, L.P. Bharatiya Vidya, vol. 34, p. 160
8. The Indian Doctrine of Five Elements, Indian Journal of the History of Science, Vol. I. p. 63.
9. वै0 सू0 4/2/2, 2/1/24, 8/2/4
10. Potter, Karl H. Encyclopaedia of Indian Philosophies, Vol. II, p. 88.
11. वै0 सू0 4/1/1, 4/1/2
12. Indian Wisdom, Monier Williams, p. 83
13. प्राचीन भारत के वैज्ञानिक कर्णधार, सत्यप्रकाश सरस्वती, पृ0 293
14. न्यायबोधिनी, तर्कसंग्रहटीका, पृ0 17-18
15. किरण0, पृ0 57-58
16. अपां संघातो विलयनं च तेजः संयोगात्।
    तत्र विस्फूर्जथुरेव लिङ्गम्। वै0 सू0 5/2/8-9
17. वै0 सू0 1/6
18. पदार्थीयदिव्यचक्षुः, पृ0 35-36
19. कणादरहस्यम्, पृ0 61-62
20. उपस्कार, पृ0 120
21. न्यायलीलावती, पृ0 155

22. प्र0 पा0 भा0, पृ0 24
23. वैशेषिक दर्शनविद्योदयभाष्यम्, पृ0 427
24. वै0 सू0 5/2/3-5
25. वैशेषिक दर्शन में पदार्थ-निरूपण, शशिप्रभा कुमार पृ0 439-444
26. Position Science of the Ancient Hindus, B.N. Seal, pp. 136-146
27. वैशेषिकसिद्धान्तानां गणितीयपद्धत्या विमर्शः, पृ0 82
28. वै0 सू0 5/2/7, 13, 17
29. प्र0 पा0 भा0 पृ0 273 एवं न्यायकन्दली, पृ0 740
30. History of Philosophy : Eastern & Western, RadhaKrishnan, pp. 460-461
31. वीचितरङ्गन्यायेन तदुत्पत्तिस्तु कीर्तिता।
32. शब्दोऽम्बरगुणः........स्थानवायुसंयोगापेक्षमानात् स्थानाकाशसंयोगात् वर्णोत्पत्तिः। प्र0 पा0 भा0 पृ0 237
33. Nature Philosophical School, Frauwallner, E.P. VII
34. किरणा0 पृ0 57-58
35. उपस्कार, पृ0 289
36. Plant Life, Milne & Milne, Introduction, p. 1
37. न्यायकन्दली, पृ0 82
38. Studies in N.V. Metaphyesics, S.N. Bhaduri, p. 148-149
39. Indian Pshychology J.N. Sinha, Vol. II, p. 32-33

□

विज्ञानस्य तन्त्रविद्यानां च सामाजिकी स्थितिः

डॉ० गणेश उमाकान्त थिटे *

आङ्ग्लशासनकाले बहवः भारतीयविद्याभ्यासकाः देशाभिमानप्रेरिताः सन्तः प्राचीनभारतेतिहासस्य आधुनिकमूल्यानां दृष्ट्या गौरवं कृतवन्तः। लोकतन्त्रं, स्त्रीपुरुषसमानता, वैज्ञानिकी जीवनसरणिः, राष्ट्रवादः इत्यादीनि आधुनिकानि मूल्यानि वैदिकसाहित्ये च कथं विद्यन्ते इति दर्शयितुं ते महान्तं प्रयत्नमकुर्वन्। सर्वोऽप्येष यत्नः तेषां देशप्रेम्णः स्वातन्त्र्ययुद्धप्रयत्नस्य च भागः इव आसीत्। स्वातन्त्र्यप्राप्तेरनन्तरं प्रायः पञ्चाशदधिकेषु वर्षेषु गतेषु अपि आधुनिकैः देशाभिमानिभिः संस्कृतविद्भिः सा एव विचारसरणिरद्यापि अनुस्रियते इत्येषः विशेषः अवलोकनार्हः। प्राचीनभारते महती वैज्ञानिकी तान्त्रिकी च प्रगतिरासीत् इति तेषां विचारः। आधुनिके काले ये ये वैज्ञानिकाः विशेषाः ते सर्वेऽपि संस्कृतसाहित्ये उल्लिखिताः सन्ति इत्ययं तेषां प्रतिपादनस्य सारांशः। परमत्रेदम् अवधार्यं यत् पाश्चात्त्यदेशेषु यस्य अन्वेषणस्य प्रादुर्भावो जातः तद् विषये यदा भारतीयभाषासु विद्यमानेषु वृत्तपत्रेषु तद्विषयकं लेखनं भवति तदा एव तद् अन्वेषणं संस्कृतसाहित्येऽपि आसीत् इत्येतादृशं प्रतिपादनं भवति। संस्कृते विद्यमानस्य ज्ञानस्य अभिज्ञानार्थं पाश्चात्त्यैः कृतस्य अन्वेषणकार्यस्य आधारः आवश्यकः भवति इतीयं वस्तुस्थितिरेव एतादृशस्य वैज्ञानिकलेखनस्य कृत्रिमतां द्योतयति। पाश्चात्त्येभ्यः पूर्वं न किमपि वैज्ञानिकमन्वेषणं केवलं संस्कृतभाषाध्ययनद्वारा केनापि संस्कृताभ्यासकेन कदापि कृतम्। संस्कृताभ्यासकानां विज्ञानापेक्षया वृत्तपत्रद्वारा प्रसिद्धौ अधिका रुचिः। अत एव विमानानि, पर्यावरणं, संगणकः, प्रदूषणं, एड्स इत्यादिषु विषयेषु संस्कृतसाहित्येऽपि ज्ञानमासीत् इति प्रदर्शयितुं प्रयत्नो भवति। वस्तुतः कस्मिन्नपि शास्त्रे बहु ज्ञानं भवति; तच्च सर्वं सामान्यजनानां कृते उपयोगि नास्ति न च तस्य सर्वस्य ज्ञानस्य वृत्तपत्रदृष्ट्या मूल्यं वर्तते। परं वृत्तपत्रेषु झटिति प्रसिद्धिम् इच्छन्तः संस्कृतसाहित्ये विज्ञानमन्वेषयन्तः जनाः नैतत्, ज्ञातुं प्रभवन्ति।

प्राचीनभारते विज्ञानस्य तन्त्रज्ञानस्य च इतिहासं यदि वयं विमृशामः तर्हि दूरमवलोकयितुं शक्यते यत् प्रारम्भे केचन विद्वांसः एतयोः विषययोः सम्यक्कार्यं चक्रुः। परं तद्विषयिणी परम्परा न प्रगतिपथं गता। यतः उत्तरकालवर्तिनः विद्वांसः टीकोपटीकादिलेखने एव बद्धादराः आसन् न तु नूतनज्ञानोत्पादने। सर्वेषु प्रमाणेषु शब्दप्रमाणं श्रेष्ठत्वमभजत। तेन प्राचीनपण्डितानां विचाराणां स्पष्टीकरणं समर्थनं च इत्येतयोरेव कार्ययोः

* प्रवाचकः, संस्कृतविभागः, पुणेविद्यापीठम्, पुणे, महाराष्ट्रम्

उत्तरवर्तिनः विद्वांसः तत्परतामभजन्। एतेन अन्वेषणबुद्धेः लोपः संजातः। आद्याः ऋषयः सर्वज्ञाः इतीयं कल्पना अत्यन्तं विज्ञानविरुद्धा। संस्कृतभाषायां रिसर्च्, डिस्कव्हरी, इन्वेन्शन, ओरिजिनॉलिटी इत्यादिशब्दानां कृते बोधकाः शब्दाः न सन्ति यतः सा कल्पनैव नासीत्तदानीम्। कस्यापि पुरुषस्य ग्रन्थस्य वा सार्वकालिकं प्रामाण्यं शास्त्रे नावीन्यस्य कृते बाधकं भवति। विज्ञाने तावत् प्रत्यक्षप्रमाणस्य महत्त्वं वरीवर्ति। चार्वाकदर्शने इदमेकमेव प्रमाणं स्वीक्रियते। तस्य दर्शनस्य भारतदेशे उपेक्षा संजाता। तेन वैज्ञानिकप्रगतेः आशा भग्ना। अद्वैतवेदान्ते प्रत्यक्षप्रमाणं गौणम्। तेन सर्वप्रसिद्धस्य जगतः मिथ्यात्वं स्वीकृत्य सर्वेषामप्रसिद्धस्य ब्रह्मणः सत्यत्वं स्वीक्रियते ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्येत्युक्त्वा। विज्ञानदृष्ट्या "जगत्सत्यं ब्रह्म मिथ्या" इत्येव वस्तुस्थितिः स्वीक्रियते। चार्वाकदर्शनविषयकः चार्वाकमतानुयायिनां कोऽपि स्वीयः ग्रन्थः न उपलभ्यते। प्रत्यक्षैकप्रमाणशरणता नास्तिक्यबुद्धिम् उत्पादयति प्राचीनग्रन्थानां विषये। नास्तिक्यं नाम किंचित् पापम् इति रूपेण वर्ण्यते सर्वैरास्तिकैः। चार्वाकदर्शनस्य, नास्तिक्यबुद्धेश्च उपेक्षया वैज्ञानिकस्य अन्वेषणस्य द्वारं सर्वदा पिहितमेव संजातम्। तेन विज्ञानक्षेत्रे महान् अन्धकारः प्रगतेरभावः, परकीयानां सर्वदा आक्रमणं, तद्द्वारा च भारतीयानां पराभवः इत्येतादृशी स्थितिः बहुषु वर्षशतकेषु भारतदेशेनानुभूता। इमाम् ऐतिहासिकीं परिस्थितिमवगणय्य संस्कृतसाहित्ये विज्ञानस्य प्रगतिं वर्णयतां संस्कृतपण्डितानां केवलं न्यूनगण्डः स्फुटीभवति।

वैज्ञानिकानां तन्त्रविद्यावतां च या सामाजिकीस्थितिः संस्कृतसाहित्ये वर्ण्यते सा प्रायः संशयग्रस्ता संदिग्धा च प्रतिभाति। उदाहरणार्थं भैषज्यनिपुणानां वैद्यानां सामाजिकी स्थितिः अतीव नीचैः आसीत् इति ज्ञायते। "तस्माद् ब्राह्मणेन भेषजं न कार्यम्" इति श्रुतिवचनं (तैत्तिरीयसंहिता 6.4.9.2.) स्पष्टार्थम्। तैत्तिरीयसंहितायामेव (6.4.9.2.) इत्थं कारणमस्मिन् विषये प्रदत्तं यत् "अपूतो ह्येषोऽमेध्यो यो भिषक्।" महाभारतानुसारं (12 परिशिष्टं 1.149.21) भिषक्, बाणानां कर्त्ता, ज्योतिर्विद् इत्यादयः सर्वे शूद्रसमाः। भैषज्यकर्म नाम किंचिद् उपपातकम् इति बोधायनधर्मसूत्रे (2.2.5) उक्तम्। कौशल्यपूर्णकर्मकराः, भिषजश्च नरकं यान्ति इति पद्मपुराणे (2.87.86) उच्यते। औशनसस्मृतेरनुसारं (26) महिषी, ब्राह्मणश्च इत्येतयोः पुत्रः भिषग् भवति। भिषजः सकाशादन्नग्रहणं न कार्यम् इति याज्ञवल्क्यस्मृतौ (1.162) उक्तम्। पितृकर्मणि पुरोहितरूपेण भिषक् न निमन्त्रयितव्यः इति मनुस्मृतिः (3.152) वदति। भिषजः दर्शनमपि परिहार्यमिति भविष्य-पुराणं (4.5.291) कथयति। एतादृशाः सर्वे सन्दर्भाः वैद्यानां वैद्यकशास्त्रस्य च नीचैः सामाजिकीं स्थितिं द्योतयन्ति।

अन्येषां वैज्ञानिकानां तन्त्रविदां च स्थितिरपि एतादृशी नीचैरेवासीत्। ते सर्वेऽपि वर्णसंकरोद्भवाः शूद्राः इति वर्ण्यन्ते स्म। ब्राह्मणः नरः अम्बष्ठा स्त्री च इत्येतयोः संकरजः पुरुषः कांस्यधातुकर्म कुर्यात् इति वर्णनम्। कीनाट—"जातीयः पुरुषः ताम्रधातुकर्म कुर्यात्। निर्मण्डलकजातीयः नरः शरान् कुर्यात्। रथकारजातीयः दारुकर्म कुर्यात्। स्यन्दोलकजातीयः सूची-कर्तरी-निर्माणकर्म कुर्यात्। क्षत्रियः मागधी च इत्येतयोः पुत्रः उल्मुकः इत्युच्यते। स लोहकर्म कुर्यात्। धिग्वणजातीयः संनाहपर्याणादि निर्मितिं कुर्यात्। कैवर्तजातीयः मत्स्यग्रहणं नाविककर्म च कुर्यात्। चर्मकारः पादत्राणानि शिरस्त्राणानि च कुर्यात्।

बुरुडजातीयः नरः वंशकृत्यानि कुर्यात्। (एतेषां सर्वेषां सन्दर्भाणां कृते पश्यत शेषकृष्णकृते

शूद्राचारशिरोमणौ प्रथमं परिच्छेदम्।) एते सर्वे सन्दर्भाः विज्ञानस्य तन्त्रज्ञानस्य च भारते सामाजिकं स्थानं द्योतयन्ति। एतादृशाः सर्वेऽपि विषयाः तेषु कुशलाः कर्मकराश्च समाजे न्यूनतमं स्थानं भजन्ति स्म। किन्तु वैदिकी विद्या या वास्तवजीवनेन सह सुतराम् असम्बद्धा सा श्रेष्ठतमा मन्यते स्म। तस्यां च विद्यायां पारङ्गताः ब्राह्मणाः श्रेष्ठाः इति स्वीक्रियते स्म। वेदविद्याया अध्ययनं निष्प्रयोजनं कर्तव्यं ("ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्येतव्यो ज्ञेयश्च"—व्याकरणमहाभाष्यस्य पस्पशाह्निके) इति कल्पनैव तस्य अध्ययनस्य अनुपयोगार्हत्वं प्रकटीकरोति। ब्राह्मणाश्च श्रेष्ठाः यतः ते परमानुपयोगिन्याः वेदविद्यायाः अध्येतारः। वेदाध्ययनम् अलौकिकं पवित्रं च अन्यदध्ययनम् अपवित्रं, लौकिकं च इति धारणा वरीवर्ति। एतदेव प्रधानं कारणं विज्ञानस्य तन्त्रविद्यायाश्च ह्रासस्य मध्ययुगीने भारतदेशे। आधुनिककाले तु तत्त्वतः जातिव्यवस्था उच्छिन्ना, चातुर्वर्ण्यं भग्नप्रायम्, अध्ययनविषयेषु मुक्तः प्रवेशः, आधुनिकविषयाणां मुख्यतमं स्थानं, वेदादिसंस्कृतभाषास्थानां विषयाणामुपेक्षा भारतदेशस्य विज्ञानक्षेत्रे प्रवेशार्थम् अनुकूलां परिस्थितिं जनयन्ति।

मानवीयविचारसरण्या इतिहासे त्रीणि अवस्थान्तराणि दृश्यन्ते-यातुः धर्मः विज्ञानं च। एतेषां विषयः जगति कार्यकारणसम्बन्धस्य स्पष्टीकरणेन सह वर्तते। प्रायः कार्यकारणयोः साम्यं दृश्यते। तेन यत्र यत्र साम्यं तत्र तत्र कार्यकारणभावः इति भ्रान्ता विचारसरणिः यातुः इति उच्यते। अर्थात् ये यातौ विश्वसन्ति ते तत्र भ्रान्तिं न जानन्ति। अगतिकतया वा यातुम् आश्रयन्ति। यथा कृष्णाः मेघाः पर्जन्यवृष्टिं कुर्वन्ति अतः कृष्णवस्त्राणां परिधानं कृत्वा यदि नृत्यं क्रियते तर्हि पर्जन्यवृष्टिः भवेदित्ययं विश्वासः तादृशं कर्म च यातुः। सर्वे अन्धविश्वासाः यातुरेव। यातुः विचारस्य अत्यन्तम् आदिमावस्थां सूचयति। यदा च एतादृशं यातुकर्म अपेक्षापूर्तिं न करोति इति अनुभवः जायते तदा कार्यकारणभावस्य नियन्त्रणं कुर्वाणा काचित् शक्तिः स्यादिति विश्वासः उत्पद्यते। इयं शक्तिरेव ईश्वरः इति रूपेण स्वीक्रियते। सा शक्तिः कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा कर्तुं च समर्था विद्यते। सा कार्यकारणभावम् ईष्टे। तस्याः कृपया अनभ्राद् आकाशादपि पर्जन्यवृष्टिः जायते, अतिपर्जन्येऽपि शुष्कतया गन्तुं शक्यते। सा संकटानि जनयति निवारयति च। अतः तस्याः विषये भक्तिः कर्तव्या। एतत् सर्वं धर्मः इति उच्यते। विज्ञाने तावत् कार्यकारणभावस्य निर्णयः, निरीक्षणं, प्रयोगान् च अनुष्ठाय क्रियते। यातौ विज्ञाने च ईश्वरस्य कृते स्थानं नास्ति। यातुकाराः वैज्ञानिकाश्च आत्मविश्वासपूर्णाः भवन्ति। परं यातुकाराणां आत्मविश्वासः प्रामादिकः अत एव दम्भपूर्णः वैज्ञानिकस्य च प्रामाणिकः अत एव सत्यः भवति।

वैदिकं वेदोत्तरवर्ति च साहित्यं यातु-धर्मप्रधानं वर्तते। विज्ञानसंबन्धिषु ग्रन्थेषु अपि यातुः धर्मः, विज्ञानं च इत्येतेषां त्रयाणां संकुलं मिश्रणं वर्तते। कुत्र यातुः, कुत्र धर्मः, कुत्र च विज्ञानम् इति एतेषु विषयेषु निर्णयार्थं महती सावधानता अपेक्ष्यते। भावनावशेन मनसा प्रमादेन वा निर्णयः न कार्यः। कालविपर्यासः न कार्यः। आधुनिकाः विषयाः प्राचीनग्रन्थेषु न आरोपणीयाः। यथा यदि कुत्रचित् देवालये ष्ठीवनं, मलमूत्रविसर्जनं वा न कार्यम् इत्युच्यते तर्हि अस्य अर्थः देवालये स्वच्छता भवतु इति नास्ति अपि तु अनेन प्रकारेण देवतायाः अपमानः न कार्यः इति। सुश्रुतसंहितायां (सूत्र 19.23) सव्रणेन रुग्णेन शुचिना भाव्यम् इत्युक्तम्। अस्य अर्थः तेन "स्वच्छेन" भाव्यम् इति नास्ति, किं तु पवित्रेण भाव्यम् इति वर्तते। यतः तस्मिन् एव स्थाने सः रुग्णः देवानां, गुरूणां, ब्राह्मणानां च पूजां कुर्याद् इत्यपि उक्तम्। एतादृशं धार्मिकम् आचरणं कुर्वाणः सः रुग्णः शुचिः

भवेत् दुष्टेभ्यः रक्षोभ्यः च आत्मानं परित्रातुं शक्नुयात्। इत्थं संस्कृतग्रन्थानां पठनसमये अस्माभिः सावधानैः भाव्यम् आधुनिकदृष्ट्या अर्थनिर्णयश्च परिहार्यः। यथा यद्यपि पाणिनिः शालातुर (लाहोर) संबद्धः तथापि सः पाकिस्तानवासी इति निर्णयः असमीचीनः यतः यद्यपि लाहोर, अधुना पाकिस्ताने वर्तते तथापि पाणिनेः काले पाकिस्तानं नासीत्। तथैव अथर्ववेदे उल्लिखिताः क्रिमयः सूक्ष्मजन्तवः इति वक्तुं न शक्यते यतः अथर्ववेदकाले सूक्ष्मदर्शकयन्त्रं नासीत्। सूक्ष्मजन्तवः सूक्ष्मदर्शकयन्त्रं विना न द्रष्टुं शक्यन्ते। अतः ते रक्षा-स्वरूपाः दुष्टशक्तीनां प्रतीकाः काल्पनिकाः प्राणिनः इति एव निर्णेतव्यम्।

संस्कृतसाहित्ये वर्तमानानि विज्ञानानि तान्त्रिकज्ञानानि च अन्धश्रद्धाभिः धार्मिककर्मकाण्डैश्च पूर्णानि सन्ति। चरक-सुश्रुत-वाग्भटादीनाम् आयुर्वेदविषयकेषु ग्रन्थेषु विज्ञानरहितं बहु साहित्यं वर्तते। यथा अष्टाङ्गसंग्रहे (शारीरे 12.33) चरकसंहितायां (इन्द्रियस्थाने 5.8.4) रोगसूचकानां मृत्युसूचकानां वा स्वप्नानां अशुभस्वप्नशान्तिकर्माणि वर्णितानि आयुर्वेदीयेषु बहुषु ग्रन्थेषु रुग्णात् भिषजं प्रति आगच्छतां दूतानां विषये (यथा चरकसंहितायाम् इन्द्रिये 12.9) रुग्णं प्रति गच्छतः भिषजः कृते च शकुनानां विषये (यथा चरकसंहितायाम् इन्द्रिये 12.26) वर्णनं वर्तते। आयुर्वेदे ग्रहाः रोगकारणानि इति वर्ण्यन्ते। तेषां च कृते बलिविधानमपि वर्तते। यथा सुश्रुतसंहितायां उत्तरे 27.4.5)। अधुना तु एते सर्वे ग्रहजन्याः बालरोगाः (यथा 'देवी', 'पोलिओ') प्रायः उत्खाताः आधुनिकेन वैद्यकशास्त्रेण। परं बहुषु शतकेषु एतादृशरोगाणाम् उपचारस्वरूपेण केवलं किञ्चिद् यातुधर्मात्मकं कर्मकाण्डं क्रियते स्म। सहस्रशः च बालाः म्रियन्ते स्म आजीवनं वा पङ्गुत्वं प्राप्नुवन्ति स्म। वृक्षायुर्वेदः, हस्त्यायुर्वेदः इत्यादिग्रन्थेषु वृक्षाणां, हस्तिनां विषयेऽपि एतादृशानि यातुधर्मात्मकानि कर्मकाण्डानि उपलभ्यन्ते (अस्य विषयस्य कृते मम Medicine : Its magicorelagions aspects, according to vedic and later literature, Pune, 1981, इत्ययं ग्रन्थः द्रष्टव्यः)। वास्तुशास्त्रं, संगीतं, शिल्पम् इत्यादिषु विषयेषु लिखिताः ग्रन्थाः अपि यातुधर्मात्मकविशेषैः परिपूर्णाः सन्ति (अस्य विषयस्य कृते मम शिवतत्त्वरत्नाकरविषये 'Journal of the oriental Institute, Baroda, XXX, Sept-Dec. 1980, P. 32-40 इत्ययं लेखः द्रष्टव्यः। धर्मस्य कृते तत्त्वज्ञानस्य च कृते यन्महत्त्वं भारतीयैः प्रदत्तः तत् विज्ञानस्य तन्त्रज्ञानस्य च कृते न प्रदत्तमिति दृश्यते।

एतस्य परिणामः भारते महान्तं कालं यावत्तमोयुगं प्रसृतम्। ब्रिटिश-जनानाम् आगमनानन्तरं तथा च पाश्चात्त्य-पद्धतिमनुसृत्य यदा शिक्षणव्यवस्था प्रारब्धा तदनन्तरमेव अस्य तमोयुगस्यान्तः संजातः। आभियान्त्रिकी-विद्या, वैद्यकशास्त्रम् इत्यादिषु विषयेषु बहवः महाविद्यालयाः स्थापिताः। स्वातन्त्र्यप्राप्तेरनन्तरं तत्र अधिकैव प्रगतिः जाता। अधुना भारते विज्ञानतन्त्रज्ञानयोः उपेक्षा न भवति। पुरा वैयाकरणाः प्रथमे विद्वांसः इति जनाः मन्यन्ते स्म (ध्वन्यालोकः द्रष्टव्यः)। अधुना वैयाकरणाः उपेक्ष्यन्ते। अधुना विवाहावसरे वरेषु अभियन्ता, वैद्यकशास्त्रज्ञो वा प्रथमं स्थानं लभते वैयाकरणः च अन्तिमम्।

❐

परिशिष्ट-1

त्रिदिवसीय राष्ट्रीय सङ्गोष्ठी विवरण

वैदिक वाङ्मय में विज्ञान

युगाब्द 5001 तदनुसार 1999-2000 ईस्वी को संस्कृत वर्ष घोषित करने के लिए डॉ० मुरली मनोहर जोशी, माननीय मंत्री, मानव संसाधन विकास, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी तथा महासागर विकास, भारत सरकार नई दिल्ली, के प्रति संस्कृत जगत् कृतज्ञ है। संस्कृत वाङ्मय में विज्ञान के प्रबल पोषक डॉ० जोशी की अनुकम्पा से संस्कृत के उन्नयन का कार्य द्रुततर गति से प्रवर्तित है। संस्कृत साहित्य में विज्ञान की स्थापना हेतु अनुष्ठित वैदिक वाङ्मय में विज्ञान विषयक राष्ट्रीय संगोष्ठी संस्कृत भारती के सहयोग से **डॉ० उर्मिला श्रीवास्तव**, रीडर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, आर्य कन्या डिग्री कालेज, इलाहाबाद के कुशल संयोजकत्व में सम्पन्न हुई।

महर्षि दयानन्द की मान्यता थी कि वेद विश्व संस्कृति का मूल है। इसके मनन–चिन्तन से ही मानव जाति का कल्याण सम्भव है। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा घोषित संस्कृत वर्ष के अन्तर्गत आर्थिक सहायता से 'वैदिक वाङ्मय में विज्ञान' विषय पर त्रिदिवसीय शोध संगोष्ठी आर्य कन्या डिग्री कालेज, इलाहाबाद के प्रांगण में आयोजित की गई। 9 सितम्बर से 11 सितम्बर 2000 तक चलने वाली यह संगोष्ठी 5 विभिन्न सत्रों में विभक्त थी जिसमें वैदिक साहित्य और विज्ञान दोनों ही वर्गों से विद्वान् उपस्थित हुए। इस संगोष्ठी हेतु लगभग 13 प्रदेशों के 60 विशेषज्ञ विद्वानों ने अपने गवेषणापरक शोध पत्र प्रेषित किये।

इस संगोष्ठी का उद्देश्य जनमानस की इस भ्रांति को दूर करना था कि संस्कृत वाङ्मय केवल धर्म, मोक्ष, पूजा, पाठ, ज्योतिष् को ही प्रतिपादित नहीं करता है अपितु इन सबके पीछे एक सुनिश्चित वैज्ञानिक तथ्य भी निहित है। आज पाश्चात्य जगत् विज्ञान योग आदि के सम्बन्ध में संस्कृत साहित्य की ओर आकृष्ट हो रहा है। यद्यपि संस्कृत साहित्य में वैज्ञानिक दृष्टिकोण सम्बन्धी पर्याप्त कार्य हुए हैं तथापि अभी शोध की संभावनाएं अनन्त हैं।

9 सितम्बर को महाविद्यालय प्रांगण में पवित्र हवन कार्य के पश्चात् संगोष्ठी का उद्घाटन गन्ना विकास एवं चिकित्सा शिक्षा मंत्री, उत्तर प्रदेश सरकार डॉ० नरेन्द्र कुमार सिंह गौर, मुख्य अतिथि ने दीप

प्रज्वालन से किया। उद्घाटन समारोह की अध्यक्षता डॉ० नीतीश कुमार सान्याल, कुलपति, राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय ने की। विशिष्ट वक्ता के रूप में पूर्व कुलपति, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन उपस्थित थे। उद्घाटन भाषण श्री चमू कृष्ण शास्त्री, अखिल भारतीय संघटन मंत्री, संस्कृत भारती, दिल्ली ने प्रस्तुत किया।

कार्यक्रम का प्रारम्भ डॉ० भगवत् शरण शुक्ल व डॉ० चिरञ्जीवि शर्मा के वैदिक मंगलाचरण से हुआ। डॉ० इला मालवीया अध्यक्षा, सङ्गीत विभाग ने 'संस्कृतवर्षं जनयति हर्षम्' गीत की प्रस्तुति से संस्कृत के सर्वव्यापी एवं सार्वजनीन स्वरूप का परिचय दिया। संस्कृत भारती की कार्यकर्त्री डॉ० रश्मि पुसालकर, वाराणसी ने मधुर स्वर में मातृभूमि वन्दना प्रस्तुत की। संस्कृत भारती के क्षेत्र संघटन मंत्री, श्री संजीव जी ने समग्र अतिथियों को माल्यार्पण किया। पं० मूलचन्द अवस्थी, प्रबन्धक, आर्य कन्या डिग्री कालेज, इलाहाबाद ने आगत अतिथियों एवं प्रतिभागियों का स्वागत किया। पं० लालबहादुर शर्मा, प्रधान आर्य कन्या डिग्री कालेज ने संगोष्ठी की सफलता के लिए शुभाशंसा व्यक्त की। श्री हीरालाल शर्मा, प्रधान आर्य समाज चौक ने संगोष्ठी की भूमिका पर प्रकाश डाला। प्राचार्या, डा० मायारानी श्रीवास्तव ने अतिथियों का धन्यवाद ज्ञापन किया।

श्री चमूकृष्ण शास्त्री, दिल्ली ने संस्कृत भाषा में अपना वक्तव्य प्रस्तुत करते हुए संस्कृत वाङ्मय के प्रसार पर बल दिया जिससे संस्कृत देववाणी न रहकर जनवाणी बन सके और भारत पूर्व की भांति अपने ज्ञान से विश्व को प्रकाशित कर सके। 'वेदों में विज्ञान' के खोज की दृष्टि से उन्होंने बताया कि प्रत्येक आई० आई० टी०, इंजीनियरिंग इन्स्टीट्यूट तथा वैज्ञानिक संस्थानों में एक पद वेदज्ञ के लिए निश्चित हो गया है जिससे प्राचीन ज्ञान-विज्ञान से हम लाभ उठा सकें। प्रो० डी० आर० शर्मा, ने बताया कि आधुनिक विज्ञान जिसे आज खोज कर गर्व का अनुभव कर रहा है उसे हमारे ऋषि-मुनियों ने वेदों के काल में ही मन्त्रबद्ध कर दिया था। हमारा दुर्भाग्य है कि वैज्ञानिकों और संस्कृतज्ञों के मध्य समन्वय न होने से वह ज्ञान लुप्त माना जाने लगा। हाइज़ेनबर्ग जैसे महान् वैज्ञानिक भी क्वान्टमैकेनिक्स सिद्धान्त की समस्याओं को वेदों का आश्रय लेकर ही दूर करते थे। डार्विन भी इस बात को जानते थे कि भारतीय प्राचीन वैज्ञानिक इस सिद्धान्त की खोज कर चुके हैं। इसी प्रकार नासदीय सूक्त नक्षत्र विज्ञान के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है। आइन्सटीन का ब्रह्माण्ड का गतिविषयक सिद्धान्त भारतीय ज्योतिष् के अनुसार गलत था, यह उनको मानना पड़ा था। न्यूटन के सिद्धान्त को भी प्रशस्तपाद ऋषि ने बड़ी सूक्ष्मता से हज़ारों साल पहले ही वर्णित कर दिया था।

प्रो० नरेन्द्र कुमार सिंह गौर ने कहा कि उन लोगों की बुद्धि पर तरस आता है जो संस्कृत को मृत भाषा कहते हैं। जिस भाषा में निरन्तर साहित्य रचना हो रही हो, लोग अपने भाव अभिव्यक्त कर रहे हों उस भाषा पर तो भारतीयों को गर्व होना चाहिए। यह तो अंग्रेज़ों का कुचक्र था कि उन्होंने इसे जनमानस से दूर कर दिया। अब जनमानस को ही इसके उन्नयन के लिए आगे आना होगा। अध्यक्ष पद से बोलते हुए प्रो० एन० के० सान्याल, ने कहा कि आधुनिक विज्ञान के स्रोत संस्कृत ग्रन्थों में निहित हैं, वैज्ञानिक उन्हें खोज कर जनता के लाभ और गौरव का विषय बनाएं। इसी प्रकार संस्कृत पठन-पाठन केवल पुस्तकीय न होकर

आधुनिकतम उपकरणों के उपयोग पर आधारित हो।

इस संगोष्ठी में वेदों में भौतिकविज्ञान, रसायनविज्ञान, जीवविज्ञान, गणित, कृषिविज्ञान, प्रौद्योगिकी, आयुर्वेद, सृष्टिविज्ञान, ज्योतिषादि विषयों पर देश के विभिन्न भागों से आये लगभग 50 विशिष्ट वैज्ञानिकों एवं वैदिक विद्वानों ने अपने शोध पत्र प्रस्तुत किये। 9 सितंबर, 2000 को संगोष्ठी के प्रथम सत्र की अध्यक्षता पद्मश्री डॉ० कपिल देव द्विवेदी तथा संयोजन डॉ० कमला देवी ने किया। प्रस्तुत सत्र में भौतिक, रसायन एवं जीवविज्ञान विषयों पर शोधपत्र प्रस्तुत किये गये। द्वितीय सत्र में प्रातः काल 10 सितंबर 2000 को कृषिविज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विषयों पर शोधपत्रों का वाचन हुआ। इस सत्र के अध्यक्ष थे डॉ० शिवगोपाल मिश्र एवं संयोजन था डॉ० शैलजा पांडेय का अपराह्न तृतीय सत्र में विज्ञान सम्बन्धी विविध विषयों यथा-अस्त्र-शस्त्र, सृष्टिसंरचना आदि शोधपत्रों के प्रस्तुतीकरण में अध्यक्ष पद का निर्वहण पं० मूलचन्द्र अवस्थी तथा संयोजन डॉ० भगवत् शरण शुक्ल ने किया। 11 सितंबर 2000 को पूर्वाह्न चतुर्थ सत्र में आयुर्वेद विषय सम्बन्धी शोध-पत्रों के वाचनकाल में अध्यक्षता डॉ० हरिशंकर त्रिपाठी एवं संयोजन डॉ० रुद्रकान्त मिश्र ने किया। अपराह्न अन्तिम पंचम सत्र में प्रो० चन्द्रकान्त शुक्ल की अध्यक्षता एवं डॉ० गिरिजा शंकर शास्त्री के संयोजन में ज्योतिष् एवं गणित सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण शोधपत्र प्रस्तुत किये गए।

कुछ राष्ट्रीय स्तर के विद्वानों द्वारा प्रेषित किये गये महत्त्वपूर्ण शोध पत्र इस प्रकार हैं—**साइंस एण्ड रिलीजन** प्रो० मुरली मनोहर जोशी; **वेदेषु भौतिकविज्ञानसूत्राणि**—पद्मश्री डॉ० कपिलदेव द्विवेदी (ज्ञानपुर); **वेद में आधुनिक विज्ञान के महाविस्फोट (Big Bang)** की परिकल्पना—डॉ० विष्णुकांत वर्मा (बिलासपुर); **वैदिक वाङ्मय में प्रकाश विज्ञान**—डॉ० सुद्युम्न आचार्य; (बलिया) **उपनिषत्सु संगीतविज्ञानम्**—डॉ० सुषमा कुलश्रेष्ठ (दिल्ली); **ब्रह्म तथा बैजिकशक्तिः**—डॉ० एस० हेमलता; (बेंगलूर); **वैदिक कालीन रसायन विज्ञान**—डॉ० विष्णु दत्त शर्मा (गाजियाबाद); **जलस्त्रोतों की खोज का विज्ञान**—डॉ० इला घोष (जबलपुर); **वेदों में वर्णित सोमपादप और सोमरस**—श्री प्रेमचन्द श्रीवास्तव (इलाहाबाद); **वैदिक संहिता में चिकित्सा विज्ञान**—प्रो० उमारमण झा (लखनऊ); **सन्तति विज्ञान और उपनिषद्**—डॉ० वेदवती वैदिक (दिल्ली); **वैदिक कृषिविज्ञानम्**—डॉ० सोमदेव शतांशु (हरिद्वार); **अग्निहोत्र में चिकित्सा विज्ञान**—डॉ० सुभाष चन्द्र सचदेवा, 'हर्ष' (सोनीपत); **पहले भी बनते थे ध्वनिरहित विमान**—पं० राजशेखर व्यास (दिल्ली); **वेदांग ज्योतिष की कालगणना**—डॉ० नागेन्द्र पाण्डेय (वाराणसी); **वैदिकवाङ्मये गणितम्**—डॉ० राधाकान्त ठाकुर (तिरुपति); **बौधायन का ज्यामितिक विज्ञान**—डॉ० महेन्द्र कुमार मिश्र (अलीगढ़); **वेदोपनिषदों में सृष्टि संरचना**—पं० मूलचन्द अवस्थी (इलाहाबाद); **वैदिक विज्ञान के मूल तत्त्वः ऋत और सत्य**—प्रो० कृष्ण लाल (दिल्ली); **वेद में विज्ञान**—देवर्षि कला नाथ शास्त्री (जयपुर); **साइन्स इन द उपनिषदाज़**—डॉ० विद्युत लता राय (नयागढ़); **उपनिषदों में विज्ञान**—डॉ० वाराणसी रामब्रह्मन् (केरल); **वैशेषिकदर्शने विज्ञानम्**—डॉ० शशिप्रभा कुमार (दिल्ली); **वैदिकवाङ्मये विज्ञानं कलाकौशलञ्च**—डॉ० प्रशस्य मित्र (रायबरेली); **पृथिवी सूक्त में वैज्ञानिक तथ्य**—डॉ० शिवगोपाल मिश्र (इलाहाबाद); **विज्ञानस्य तन्त्रविद्यानां च सामाजिकी स्थितिः**—डॉ० गणेश उमाकान्त थिटे (पुणे); **इण्डियन**

कन्ट्रीब्यूशन टु द वर्ल्ड ऑव केमिस्ट्री—डॉ० प्रसून कुमार मिश्र (भागलपुर); **वाटर ट्रीटमेण्ट इन अथर्ववेद**—डॉ० सुभाष चन्द्र दाश (भुवनेश्वर); **अथर्ववेद और चिकित्साविज्ञान**–डॉ० किरण टण्डन (नैनीताल); **अथर्ववेद में वर्णित पशुचिकित्सा**—डॉ० चन्द्रकान्त शुक्ल (दरभंगा); **अथर्ववेद में कृषि उपकरण**—डॉ० शशि तिवारी (दिल्ली); **सूत्रग्रन्थों में यज्ञशाला प्रकल्पन**—डॉ० शैजला पाण्डेय (इलाहाबाद); **वैदिक वाङ्मय में अस्त्रशस्त्रविज्ञान**—डॉ० भीमदेव सिंह (अलीगढ़); **वैदिक साहित्य में ज्योतिष्**—डॉ० गिरिजा शंकर शास्त्री (इलाहाबाद); **वैदिक गणितीय सूत्र**—नारायण किंजवडेकर (वाराणसी); **प्राचीन भारत में अङ्कगणित**—डॉ० ओमप्रकाश लाल श्रीवास्तव (इलाहाबाद); **वैदिक वाङ्मय की अद्भुत देनः शून्य एवं संख्या पद्धति**—डॉ० शुचिस्मिता चौधरी (भागलपुर); **वैज्ञानिक दृष्टि में पुरुष सूक्त**—डॉ० नारायण गोपाल डोंगरे (वाराणसी); **सृष्टि विज्ञान का आधार प्रणव सङ्गीत**—डॉ० किरण कुमारी (पटना); **वैदिक वाङ्मय में सृष्टिविज्ञान**—डॉ० चन्द्रकान्त द्विवेदी (लखनऊ); **वेदेषु शस्त्रास्त्र विज्ञानम्**—डॉ० भगवत् शरण शुक्ल (इलाहाबाद); **वैदिक वनस्पतिशास्त्र और मेघाजनन**—डॉ० हरि शंकर त्रिपाठी (इलाहाबाद); **वैदिक वाङ्मय में जीव विज्ञान**—डॉ० लक्ष्मी शुक्ला (ग्वालियर); **वराहमिहिर का पादप विज्ञान**—कंचन बाला (वाराणसी); **वेदों में वर्णित शल्यचिकित्सा**—डॉ० मीना शुक्ला (राँची); **मुद्राविज्ञान**—डॉ० मञ्जु मिश्रा (अलीगढ़); **तकनीकी ज्ञानविज्ञान में भारत की देन**—पं० विश्वम्भर प्रसाद 'गुप्तबन्धु' (दिल्ली); **वैदिकवाङ्मये गणितशास्त्रम्**—डॉ० किरणकुमार (इलाहाबाद); **वैदिक वाङ्मये विज्ञानम्**—डॉ० चिरञ्जीवि शर्मा (इलाहाबाद); **ऐतरेयब्राह्मणे विज्ञानम्**—डॉ० दामोदर महतो (भागलपुर); **वैदिकवाङ्मये विज्ञानम्**—डॉ० अच्युतानन्द तिवारी (सुल्तानपुर); **ब्रहमाण्ड की स्थिरता का हेतु स्कम्भ**—डॉ० बीना मिश्र (इलाहाबाद); **उपनिषदों में विज्ञान**—डॉ० सुन्दरी सिद्धार्थ (दिल्ली); **पं० मधूसुदनओझाविरचितं वैदिकविज्ञानम्**—डॉ० जगन्नाथ पाठक (इलाहाबाद); **वैदिकवृष्टिविज्ञानम्**—डॉ० नरेन्द्र दत्त तिवारी (वाराणसी); **वेदेष्वदितिः**— डॉ० पुष्पा दीक्षित (बिलासपुर); **वेदों में वनस्पति विज्ञान**—डॉ० अञ्जु बाला (दिल्ली); **वैदिक वाङ्मय में विज्ञान**—डॉ० कमला देवी (इलाहाबाद); **पर्यावरणसंरक्षणस्य वैदिकसमाधानम्**—डॉ० आरती अग्रवाल (इलाहाबाद); **कन्सेप्ट ऑव डेथः वैदिक एण्ड साइन्टिफिक व्यू**—डॉ० अरुणा मोहन (दिल्ली); **वेद में मनस्तत्व विज्ञान**—स्वामी विवेकानन्द सरस्वती (मेरठ); **वैदिक वाङ्मय में ओंकार का स्वरूप**–सुनीता जायसवाल (इलाहाबाद); **ऋग्वेद के पर्जन्य सूक्तों में जलविज्ञान**–डॉ० प्रवेश सक्सेना (दिल्ली); **ऋग्वेद में शल्य चिकित्सा**–डॉ० प्रकाश पाण्डेय (दिल्ली); **ऋग्वैदिककालीन गृह निर्माण कला**–डॉ० हरि नारायण दुबे (इलाहाबाद); **अथर्ववेद में मनोरोग चिकित्सा**—डॉ० सरस्वती बाली (दिल्ली); **ओ३म् का प्रादुर्भाव; एक वैज्ञानिक विश्लेषण**—डॉ० तन्मय (दिल्ली); **अथर्ववेद में औषध विज्ञान एवं श्वेत कुष्ठ**—डॉ० उर्मिला रुस्तगी (दिल्ली); **विज्ञान वेत्ता ऋषि और उनका योगदान**–श्याम नारायण कपूर (कानपुर); **टेक्निकल साइंसेज़ इन संस्कृत**– प्रो० राजेन्द्र मिश्र (शिमला); **ऐंशियेण्ट इण्डियाज़; कण्ट्रीब्यूशन टू कॉस्मोलॉजी**—प्रो० डी० आर० शर्मा (इलाहाबाद); **अथर्ववेद की चिकित्सा पद्धति : आधुनिक सन्दर्भ में**–ड़ॉ छाया शर्मा (ग्वालियर)।

द्वितीय दिवस के सान्ध्यकालिक सत्र का समापन प्रो० कैलाश नाथ सिंह, पूर्व शिक्षा मंत्री, उत्तर प्रदेश सरकार एवं प्रधान, आर्य प्रतिनिधि सभा, लखनऊ के व्याख्यान से हुआ। उन्होंने कहा कि आज तक वैज्ञानिकों ने जो भी अनुसंधान किए हैं, सबके मूल वेदों में सृष्टि के प्रारम्भ में ही ऋषियों ने समाहित कर दिये थे। वेदों में यज्ञ का प्राधान्य है और यज्ञ शब्द यत् + जु शब्दों से मिल कर बना है। यत् के अर्थ गति electron और जु के अर्थ स्थायित्व proton होते हैं। इस प्रकार वेद ने आधुनिक विज्ञान के दो मूल तत्त्वों का काय-विज्ञान बहुत पूर्व ही प्रमाणित कर दिया था। आइन्सटीन तथा न्यूटन आदि प्रसिद्ध वैज्ञानिकों के चिन्तन आज भी अधूरे हैं, आवश्यकता है वैदिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में उनको सम्पूर्णता देने की।

तृतीय दिन समापन समारोह में मुख्य वक्ता के रूप में बोलते हुए हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय के संस्कृत विभागाध्यक्ष अभिराज डॉ० राजेन्द्र मिश्र ने कहा कि आज तो सारा विश्व भारत की धरोहर, वेदों की चमक से हतप्रभ है। अतः अवसर का लाभ उठाकर भारतीय मनीषा के परम चिन्तन रूप वेद का ध्वज क्षितिज तक फैलाना चाहिए। कैलिफोर्निया में वैज्ञानिक यज्ञ की भस्म खेतों में बिखेर कर फसल की रक्षा कर रहे हैं। आज तो प्रत्येक नये अनुसंधान के प्रयोगाभ्यास के लिए जानवरों पर अत्याचार होता है। इसके विपरीत साक्षात् वन ही ऋषियों की प्रयोगशाला थी और उन्होंने चख-चख कर वनस्पतियों के गुण पता लगा लिए थे तथा उनसे मानव के लिए लाभकारी आयुर्वैदिक औषधियाँ तैयार की थीं।

समारोह के मुख्य अतिथि उत्तर प्रदेश सरकार के विज्ञान एवं प्रौद्योगिक मन्त्री डॉ० शिवाकान्त ओझा महोदय ने कहा कि विश्व स्तर पर संस्कृत को स्थापित करने के लिए इसके अध्ययन-अध्यापन और गवेषण पद्धति में परिवर्तन लाना चाहिए। आगामी शती सूचना प्रौद्योगिकी की शती होगी जिसका माध्यम संस्कृत भाषा होगी। उसके पहले हम संस्कृत का सम्मान कर लें अन्यथा अमेरिका संस्कृत को भी पेटेण्ट करा लेगा। जर्मनी वाले कहने भी लगे हैं कि संस्कृत हमारी मूल भाषा है, इसके प्रथम अधिकारी हम ही हैं। हमारे ही पूर्वज आर्यावर्त्त जाकर हिन्दू जाति को संस्कृत लिखने-बोलने की शिक्षा दे आए थे। समारोह की अध्यक्षता प्रयाग विश्वविद्यालय के पूर्व संस्कृत विभागाध्यक्ष, प्रो० सुरेश चन्द्र पाण्डेय ने की। प्रो० पाण्डेय ने वेदों में निहित आत्मज्ञान के रहस्य को विस्तार से बताते हुए कहा कि-ज्योतिर्विज्ञान आत्मज्ञान की ओर प्रेरित करता है। 1 लाख 86 हजार प्रति सेकेण्ड की गति से हमारे ऊपर ग्रहों की ज्योति पड़ रही है पर चलन पृथ्वी और ग्रह दोनों में है। यदि यह सब स्थिर होता तो संसार नहीं होता, अतः चलन नितान्त अनिवार्य है।

समारोह के शुभारम्भ में वैदिक मंगलाचरण के पश्चात् डॉ० इभा मालवीया ने वन्दे मातरम् गीत की मधुर प्रस्तुति की। प्रधान पं० लाल बहादुर शर्मा ने अतिथियों का स्वागत किया। प्रबन्धक, पं० मूलचन्द अवस्थी ने आशीर्वाद दिया। प्राचार्या डॉ० मायारानी श्रीवास्तव ने अतिथियों को धन्यवाद दिया। डॉ० चिरंजीवि शर्मा ने सस्वर शान्तिपाठ करके संगोष्ठी का समापन किया।

इस अवसर पर संस्कृत भारती की ओर से एक आकर्षक संस्कृत प्रदर्शनी भी आयोजित की गई। सम्मेलन के आयोजन में संस्कृत भारती के क्षेत्र संघटन मंत्री, आचार्य संजीव (वाराणसी) का निदेशन सराहनीय था। पं० मूलचन्द अवस्थी, प्रबन्धक, आर्य कन्या डिग्री कालेज, इलाहाबाद के सत्परामर्शों से संगोष्ठी

की आयोजना अत्यन्त सफल कही। सायंकाल श्री नवीन प्रकाश, निदेशक, उत्तर मध्य क्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र, प्रयाग के सौजन्य से सांस्कृतिक सन्ध्या भी आयोजित की गई। तृतीय दिन मध्याह्न में देश भर से आए संस्कृत कवियों ने संस्कृत कवि सम्मेलन में मधुर वाणी में कविताएँ प्रस्तुत करके सहृदय श्रोताओं को आह्लादित किया।

वस्तुतः भारतवर्ष संस्कृत और संस्कृति से पहचाना जाता है। वेद ज्ञान के अपार भण्डार हैं—अतः इनकी रहस्यमयता से आकर्षित होकर विदेशी वैज्ञानिक भारतीय ग्रंथों का अध्ययन करने के लिए प्राचीन काल से ही लोलुप रहे। वेद हमारी धरोहर हैं—इनकी रक्षा के लिए हमें प्रयत्नशील होना होगा।

संगोष्ठी में वेद और विज्ञान के क्षेत्र में यशस्वी विद्वानों के शोधपरक लेखों का जो वैज्ञानिक पक्ष उजागर हुआ वह जनमानस तक पहुंच सके यह हमारा संकल्प था। ईशकृपा से ग्रन्थ प्रकाशन का हमारा सङ्कल्प पूर्ण हो रहा है, लघ्वाकार पुस्तकों के प्रकाशन का दायित्व सर्वकार को लेकर, उन्हें घर-घर उपलब्ध कराना चाहिए। वेदों के चिन्तन-मनन से सभी का कल्याण संभव हो यही हमारी ईश्वर से विनम्र प्रार्थना है।

पुष्पलता अग्रवाल,
प्रवक्ता, संस्कृत विभाग

❑

उपनिषत्-श्रीः : अनुशंसा

1. तुम्हारे सारस्वत अध्यवसाय का गौरवपुष्प 'उपनिषत्-श्रीः' के रूप में मिला। हार्दिक आशीः इस अनुत्तम उपक्रम के लिए। इससे पटतर भगवती शारदा की और कोई सेवा नहीं हो सकती। कलेवर तथा प्रतिपाद्य-दोनों ही दृष्टियों से ग्रन्थ परिशीलनीय एवं संग्रहणीय है।

प्रो० राजेन्द्र मिश्र, कुलपति, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

2. सद्भाव भक्तिमय मधुपत्र के साथ उपनिषत्-श्रीः पुस्तक प्राप्त कर आनन्दमय हो गया। अखण्डमण्डलाकार शुभेच्छा।

आचार्य आद्या चरण झा, पूर्व कुलपति, कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा

3. उपनिषत्-श्रीः की प्रति प्राप्त कर सुखद अनुभूति हुई। प्रिय बेटी! तुमने सम्पादन कला का अच्छा विकास किया है। ईशकृपा से तुम ऐसे ही स्तरीय अङ्कों का प्रकाशन कर संस्कृतजगत् को समृद्ध करती रहो।

प्रो० प्रभुदयालु अग्निहोत्री, पूर्वकुलपति, जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर

4. उपनिषत्-श्रीः की भूमिका विलक्षण है तथा विषय संयोजन अत्यन्त सुन्दर, इस हेतु मेरा वर्धापन स्वीकार करें।

प्रो० चन्द्रकान्त शुक्ल, प्रतिकुलपति, कामेश्वरसिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा

5. आपके द्वारा सम्पादित उपनिषत्-श्रीः ग्रन्थ प्राप्त हुआ, धन्यवाद। उपनिषद्ग्रन्थ हमारे दर्शन और आध्यात्मिक चिन्तन की निधि हैं, अमूल्य रिक्थ हैं, संस्कृति की पहचान हैं, निवृत्तिलक्षण धर्म के संवाहक हैं। विभिन्न विद्वानों के विद्वत्तापूर्ण लेखों का संग्रह होने के कारण इस ग्रन्थ में उपनिषत् साहित्य के विभिन्न पक्ष उजागर होते हैं। इससे ग्रन्थ का महत्त्व बहुत बढ़ गया है। मेरी दृष्टि में ग्रन्थ अतीव उपयोगी है, अवश्य पठनीय और संग्रहणीय है, इस उत्तम रचना के लिये आपको साधुवाद और आशीर्वाद।

प्रो० सुरेशचन्द्र पाण्डेय, पूर्व-अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

6. तत्रभवत्या प्रेषितं उपनिषत्-श्रीः इति ग्रन्थं लब्ध्वा महान् सन्तोषः। भूयो भूयः धन्यवादान् प्रेषयामि। रुचिरः खल्वयं ग्रन्थः नितराम् उपयुक्तश्च। संशोधन कार्ये दत्तचिता भवती दिष्ट्या वर्धते एतादृशग्रन्थानां प्रकाशनेन।

प्रो० सरोजा भाटे, अध्यक्ष, संस्कृतप्राकृतभाषाविभागः पुणेविद्यापीठं, पुणे

7. Upaniṣat-Śrīḥ is nicely printed and contain good reading material. My congratulations to you on your nicely editing the volume, and I hope you will continue to work in the noble cause of Sanskrit Research and study.

Prof. S. G. Kantawala, Head. Deptt. of Sanskrit, M.S. University Vadodara (Retd.)

8. उपनिषत्-श्रीः के लिए हार्दिक साधुवाद एवं बधाई। निश्चय ही यह अत्यन्त विशिष्ट सम्पादकीय उपलब्धि है। उपनिषदों की गौरव-गरिमा, तत्त्वज्ञान एवं ऐतिहासिक मूल्यांकन की यह बहुआयामी प्रस्तुति है। इतने दूरस्थ एवं प्रतिभप्रवर लेखकों तथा मनीषियों से लेखों को लिखवा लेना, उनकी सन्दर्भ संगति की निरीक्षा, लेखकीय शैलीगत वैभिन्र्य को बनाए रखकर, सबका समुचित सम्पादन, फिर उनके प्रकाशन हेतु सैंठा-सुतली की व्यवस्था, मुद्रक के नाज़-नखरे झेल कर उससे काम करा लेना-इन सबके साथ मुद्रण एवं साज-सज्जा के उन्नत मानदण्ड बनाये रखना-इन सभी दृष्टियों से आपने कितना अधिक अध्यवसाय और परिश्रम किया होगा, इसका अनुमान मात्र किया जा सकता है।

प्रो० ओमप्रकाश पाण्डेय, महर्षि सन्दीपनि राष्ट्रीय वेद विद्या प्रतिष्ठान, उज्जयिनी

9. उपनिषत्-श्रीः के दर्शनमात्र से धन्य हो गया, आनन्दविभोर हो गया। आपकी शक्ति देख कर प्रसन्नता हुई। आपमें अद्भुत सम्पादन शक्ति है, आप उस प्रतिभा का समुचित उपयोग भी कर रही हैं। आपका स्वाध्याय निरन्तर चलता रहे और संस्कृत विश्व को अनन्त 'श्रीः' प्राप्त होती रहें, यही शुभकामना।

डॉ० गौतम पटेल, अध्यक्ष, संस्कृत साहित्य अकादमी, गुजरात

10. उपनिषत्-श्रीः का ज्ञानवर्धक उपयोगी संस्करण मिला। आपकी संस्था लघु होने पर भी बृहद् कार्य कर रही है। साहित्यजगत् को आपके विद्यालय का योगदान अभूतपूर्व है।

पद्मश्री डॉ० कपिल देव द्विवेदी, निदेशक, विश्वभारती अनुसन्धान परिषद्, भदोही

11. आपके द्वारा सम्पादित उपनिषत्-श्रीः पुस्तक प्राप्त हुई। उपनिषदों के विविध आयामों का सूक्ष्म विवेचन जिज्ञासु विद्वज्जनों के लिए निःसन्देह परितोषदायक है। इस पुस्तक के उच्चस्तरीय स्वरूप तथा सारगर्भित लेखों के संग्रह एवं सम्पादन के लिए आप बधाई के पात्र हैं। विश्वास है कि आप इसी प्रकार साहित्य साधना में संलग्न रहेंगी।

प्रो० मृदुला त्रिपाठी, अध्यक्षा, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

12. उपनिषत्-श्रीः इति अन्वर्थनामधेयो भवत्या सम्पादितो ग्रन्थोऽधिगतो मया सम्यगवलोकितश्च। उपनिषदां प्रायः सर्वान् अपि पक्षान् सुष्ठु स्पृशन्तो विविधाः स्तरीयाः शोधनिबन्धाः अत्र संगृहीताः विराजन्ते। न केवलमुपनिबद्धानां निबन्धानां विषयदृष्ट्या ग्रन्थोऽयमस्ति महत्त्वपूर्णः अपितु निर्दोषमुद्रणालङ्कृतस्वरूपादिदृष्ट्यापि नैजं वैशिष्ट्यमुद्वहति। आशास्यते यद् भविष्यत्यपि काले भवत्या सम्पादिताः एतादृशा एव अन्ये प्रयोगा उद्योगाश्च संस्कृतज्ञानां मनांसि अवश्यम् प्रीणयिष्यन्ति।

प्रो० अशोक कालिया, अध्यक्षः संस्कृतविभागः, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

13. I hasten to acknowledge the receipt of your wonderful book Upaniṣat-Śrīḥ, Tastefully produced and nicely got up, the voulme has a pleasing look. But what is real noteworthy is its contents. Carrying more than 60 research papers and studies all on the various aspects of the upaniṣats, it is virtually a compendium on upaniṣadic thought. The upaniṣadic motto given on the cover page and the illustrative diagram are exemplary.

Prof. K. V. Sarma, Director, Sree Sarada Education Society, Chennai.

14. उपनिषत्-श्रीः के लेख और सम्पादन का स्तर उत्तम है। ऐसा उत्कृष्ट संकलन केवल व्यक्तिगत संग्रह के लिए नहीं, पुस्तकालयों के लिए भी अति उपयोगी है, अतः इसे पुस्तकालयों में भेजने की व्यवस्था अवश्य होनी चाहिए।

प्रो० सुषमा कुलश्रेष्ठ, निदेशिका, कालिदास संस्कृत संगीत कला एकेडमी, दिल्ली

15. उर्मिला, तुम जीवन का सार्थक उपयोग कर रही हो। अपनी प्रतिभा और परिश्रम से तुम भारतीय संस्कृति और साहित्य की जैसी सेवा कर रही हो वह सराहनीय और स्पृहणीय है। उपनिषद् भारतीय मेधा की सुन्दरतम अभिव्यक्ति है; इस पुस्तक में उनके प्रत्येक पक्ष पर जैसी महत्त्वपूर्ण सामग्री तुमने एकत्र प्रस्तुत की है, वह निश्चय ही जिज्ञासुओं के लिये बहुत उपयोगी होगी। इसके लिये मैं तुम्हें साधुवाद और धन्यवाद, दोनों ही देती हूँ।

प्रो० राजलक्ष्मी वर्मा, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

16. उपनिषत्-श्रीः का कलेवर देखा, बहुत सुन्दर रूप दिया है आपने, भीतर की सामग्री भी उत्कृष्ट संजोई है। यह ऐसी पुस्तक नहीं है कि भागदौड़ में पढ़ी जाये। फुर्सत से पढ़ रहा हूँ।

श्री नारायण दत्त, पूर्व सम्पादक-नवनीत, मुम्बई

17. उपनिषत्-श्रीः का आकर्षक मुखपृष्ठ और उपयोगी लेख आपके सम्पादन के माध्यम से ऋषियों की वाणी को आकल्पान्त मुखरित करें, परम प्रभु से यह मेरी मूक प्रार्थना है।

राजशेखर व्यास, दूरदर्शन नियन्त्रक, दिल्ली दूरदर्शन, दिल्ली

18. उपनिषत्-श्रीः तुम्हारे परिश्रम, लगन और वैदुष्य की प्रतिमूर्ति है। इतने बड़े-बड़े विद्वानों के लेखों को समाहित कर यह ग्रन्थ निश्चय ही इस देश की महनीय सांस्कृतिक-साहित्यिक निधि बन गया है। ईश्वर से प्रार्थना है कि वे तुम्हें इसी प्रकार माँ भारती के भण्डार को समृद्ध करने की शक्ति दें।

डॉ० इला घोष, प्राचार्या, शासकीय कन्या महाविद्यालय, सिवनी

19. उपनिषत्-श्रीः का सुन्दर, गौरववर्धक, उपयोगी, भौतिकस्वरूप मिल गया। उत्कृष्ट सम्पादन-प्रकाशन हेतु आपको हृदय से बधाई।

डॉ० किरण टण्डन, रीडर, कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल

20. I am glad to recieve the composition, volume 'Upaniṣat-Śrīḥ' The book has been magnificently designed and edited. It will be a source book on Upaniṣadic study and Research for our future workers.

Dr. Bidyut Lata Rai, Reader, R. M. Mahavidyalaya , Utkal University, Orissa.

21. उपनिषत् श्रीः पूर्व ग्रन्थों की भाँति तुम्हारा कीर्ति स्तम्भ है। इतना अधिक परिश्रम तुम्हें अवश्य बहुत ऊँचे पर ले जाएगा, यह मुझे विश्वास है।

प्रो० कैलाशनाथ सिंह, प्रधान, सार्वदेशिक एवं उत्तर प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा, लखनऊ

22. उपनिषत् पर अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, किन्तु उन पर लिखे अनेक विद्वानों के विद्वत्तापूर्ण लेखों पर एकमात्र ग्रन्थ उपनिषत् श्रीः ही प्रकाशित है। ग्रन्थ से जनसामान्य को भी उपनिषद् सम्बन्धी विलक्षण विचार जानने को मिलेंगे।

कैप्टन देवरत्न आर्य, विशेष कार्यकारी अधिकारी, महाराष्ट्र सरकार, मुम्बई

23. आपका पत्र और पुस्तक पाकर बड़ी प्रसन्नता हुई, मेरी बेटी इतना अधिक अध्ययन एवं श्रम करती है, सोच कर गर्व होता है। ऐसे ही प्रगति पथ पर बढ़ो।

श्री रामनाथ सहगल, मन्त्री, महर्षि दयानन्द स्मारक ट्रस्ट, टंकारा

❐

Contributors

1. **Acharyā, Sudyumna**
Harpur, Nai Basti
Balia - 485 001 (U.P.)
Phone : (0133)

2. **Awasthi, Moolchand**
68-A Chak, Zero Road
Allahabad - 211 003 (U.P.)
Phone : (0532) 653217

3. **Bharatiya, Bhawani Lal 'Ratnakar'**
8/3 Nandan Van
Chaupasni Avasan Mandal
Jodhpur - 342 008 (Rajasthan)
Phone : (0291) 574104

4. **Chowdhary, Shuchismita**
Anandgarh Colony
Tilkamanjhi,
Bhagalpur - 812 007 (Bihar)

5. **Dash, Subhash Chandra**
BF-15 Teacher's Quater 5
Utkal University, Vani Vihar
Bhubaneshwar - 751 004 (Orissa)
Phones : (0674) 583303, 582315

6. **Dongare, Narain Gopal**
B-62 Bridge Enclave
Varanasi - 221 007 (U.P.)
Phone : (0542) 316760

7. **Dwivedi, Chandrakant**
1/1053 Vishal Khand- I
Gomati Nagar
Lucknow - 226 010 (U. P.)
Phone : (0522) 397926

8. **Dwivedi, Kapil Dev**
Shanti Niketan
Gyanpur - 221 304
Bhadohi (U. P.)
Phone : (05418) 37250

9. **Ghosh, Ila**
21 Aditya Colony
Narmada Raod
Jabalpur - 284 001 (M. P.)
Phone : (0761) 312524

10. **Jha, Uma Raman**
Surendra Nagar
Ismaile Ganj
Lucknow
Phone : (0522) 701066, 700122

11. **Joshi, Murli Manohar**
Angirasa
Tagore Town
Allahabad - 211 002 (U.P.)
Phone : (0532) 465008, 608009

12. **Kinjawadekar, Narain**
D 53/89 Luxa, Gurubagh
Varanasi - 221 010 (U. P.)
Phone : (0542) 356882

13. **Kumar, Shashi Prabha**
295, Sector 15- A
Noida - 201 301 (U. P.)
Phone : (91) 511742, 512889

14. **Kumari, Kiran**
Yarpur
Patana - 800 001 (Bihar)
Phone : (0612) 223203

15. **Lal, Krishna**
'Vishwaneed'
E 937, Sarasvati Vihar
Delhi - 110 034
Phone : (011) 7024673

16. **Mishra, Abhiraja Rajendra**
114, Teacher's Hostel
Summer Hill
Shimala - 171 005 (H.P.)
Phone : (0177) 231407

17. **Mishra, Mahendra Kumar**
`Narayaniyam'
1/6 12-C Surendra Nagar
Aligarh - 202 001 (U. P.)
Phone : (0571) 503005

18. **Mishra, Prasun Kumar**
Ishque Chak (north), Ishwar Nagar
Bhagalpur - 812 007 (Bihar)
Phone : (0641) 500866

19. **Mishra, Shiv Gopal**
25, Ashok Nagar
Allahabad - 211 001 (U. P.)
Phone : (0532) 420683

20. **Pandey, Nagendra**
S/23 1D, Dhelvaria
Chowkaghat
Varanasi - 221 002 (U. P.)
Phone : (0542) 210935

21. **Pandey, Prakash**
Badhdola, Sector-8
Dwarika
New Delhi
Phone : (011) 5540993, 5540995

22. **Pandey, Shailaja**
116 H/1 D Radha Nagar Colony
Daraganj
Allahabad - 211 006 (U. P.)
Phone : (0532) 500503

23. **Ray, Bidyut Lata**
Debottar Colony
Naya garh - 752 069 (Orissa)
Phone : (06753) 52436

24. **Sachdeva, Subhash Chandra**
758, Sector-15
Sonipat - 131 001 (Haryana)
Phone : (01264) 53658

25. **Sharma, D. R.**
Saral Kutir
148 Darabanga Castle
Allahabad - 211 002 (U. P.)
Phone : (0532) 460022

26. **Sharma, Vishnu Dutta,**
48, Sector -5 Vaishali
Ghaziabad - 10 (U.P.)
Phone : (0575) 201010

27. **Shastri, Girija Shankar**
455, Buxi Khurd
Daraganj
Allahabad - 211 006
Phone : (0532) 503472

28. **Shukla, Chandra kant**
16 Shivam Apartments
Karam Dahar, Bariyatu Raod
Ranchi - 834 008
Phone : (0651) 541608

29. **Srivastava, Banke Bihari**
33 Guradha Colony
Varanasi - 222 010 (U.P.)
Phone : (0542) 275007

30. **Srivastava, Om Prakash Lal**
347/4, Type IV
State Education Institue Campus
Alenganj
Allahabad-211 002
Phone : (0532) 465621

31. **Srivastava, Premchand**
5 E/4 Staff Quarters
C. M. P. Degree College
Liddle Road, George town
Allahabad - 211 002
Phone : (0532) 609024

32. **Tandon, kiran**
Parvak lodge
Raj Bhavan Marg
Nainital - 1 (U. P.)
Phone : (05942) 37535

33. **Thite, Ganesh Umakant**
21, Erandvana Gavatha
Pune - 411 004 (Maharashtra)
Phone : (0212) 356061

34. **Tiwari, Shashi**
54, Sakshar Apartments
A-3 Pashchim Vihar
New Delhi - 110 063
Phone : (011) 5585237

35. **Tripathi, Hari Shankar**
1-D Badhambar Road
Daraganj
Allahabad - 211 006 (U.P.)
Phone : (0532)

36. **Vaidic, Vedavati**
A - 19 Press enelave
Saket
New Delhi - 110 017
Phones : (011) 6877000, 6517295

37. **Varanasi, Ramabrahman**
Lecturer, Physics Department
M.G.G.A. College, Chalakkara
New Mahe
Pondicherry

38. **Varma, Vishnu kanta**
Indraprastha
Seepat Raod, Sarakanda
Bilaspur- 495 001
Phone : (0775) 27591

39. **Vyas, Rajshekhar**
E-607, Karzan Road Apartments
New Delhi - 110 001
Phone : (011) 3385767

महाविद्यालय के अन्य प्रकाशन

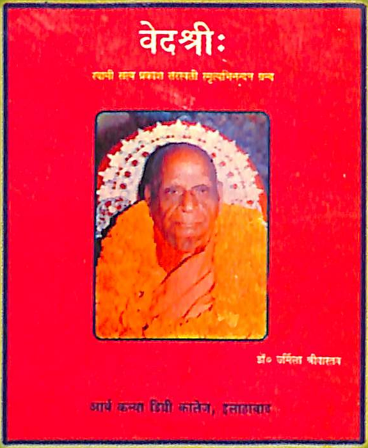

आर्यावर्त्त को गर्व से मण्डित करने वाले ऋषि-मुनियों की प्राचीन परम्परा के अनुपालक स्वामी सत्यप्रकाशानन्द सरस्वती आर्य संन्यासी के रूप में विश्व में प्रतिष्ठित हैं। प्रयागवासियों का यह सौभाग्य था कि वे इस पावन भूमि से सम्पृक्त थे। वेद, विज्ञान एवं संस्कृति के अनन्यपोषक तथा अनेकविध ग्रन्थों के प्रणेता स्व० डॉ० सत्य प्रकाश के प्रति श्रद्धाञ्जलि रूप यह ग्रन्थ एक लघु प्रयास है। सुधीजनों द्वारा हिन्दी, अंग्रेज़ी तथा संस्कृत तीनों भाषाओं में प्राप्त रचनाओं को अध्ययन की सुविधा के लिए तीन खण्डों के अन्तर्गत समाहित किया गया है-१. स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, २. महर्षि दयानन्द और आर्य समाज, ३. वेद एवं वैदिक वाङ्मय।

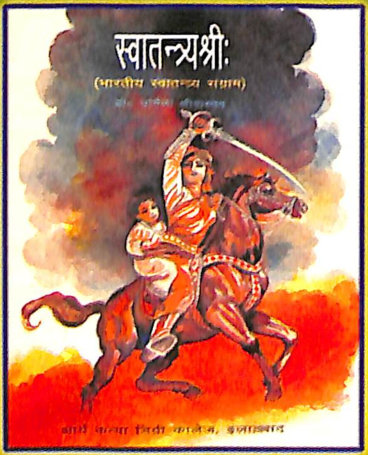

भारत राष्ट्र की स्वतन्त्रता की स्वर्ण जयन्ती के उपलक्ष्य में प्रकाशित यह ग्रन्थ स्वाधीनता के महायाग में सर्वस्व हुत कर देने वाले अमर सपूतों के शौर्य को नमन करने का एक उद्यम है। प्रस्तुत ग्रन्थ में एक ओर देश के अनेक लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों एवं इतिहासज्ञों के शोधपरक लेख समाविष्ट हैं तो दूसरी ओर स्वतन्त्रता संग्राम के द्रष्टा एवं सहभागी क्रान्तिकारियों, सेनानियों के लेख ग्रन्थ को जीवन्तता प्रदान कर रहे हैं। ग्रन्थ में मुख्यतः अमर शहीदों के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व । स्वतन्त्रता का इतिहास । स्वतन्त्रता आन्दोलन में इलाहाबाद का योगदान । स्वतन्त्रता आन्दोलन एवं भारतीय साहित्य इत्यादि बिन्दुओं पर गम्भीर चर्चा की गयी है।

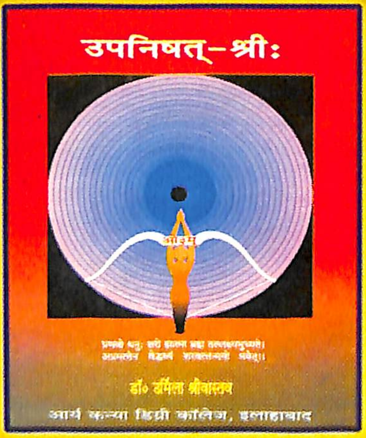

भारतीय सभ्यता और संस्कृति मानवता के उच्च सिद्धान्तों की स्थापना के लिए उपनिषद् ग्रन्थों की चिर ऋणी है। मनुष्य के अन्दर जो कुछ अन्धकारमय है, उसे आलोकित करने का और जो कुछ निर्बल है उसे सबल बनाने का एकमात्र उपाय उपनिषद् ही हैं। प्रमुख उपनिषदों के विभिन्न पक्षों -- ब्रह्मविद्या तथा मोक्ष, कर्म तथा पुनर्जन्म, जन्म तथा मृत्यु ज्ञान तथा अनादि गूढतात्त्विक रहस्यों -- का यथावत् द्योतन करने वाले विषयों की ग्रन्थ में अवतारणा की गई है।